श्री शान्तिनाथ पुराण

(आचार्य श्री सकलकीर्ति जी कृत मूल ग्रंथ का हिन्दी रूपांतरण)

प्रकाशक

वीतराग वाणी ट्रस्ट (रजिस्टर्ड)

मुहल्ला सैलसागर, टीकमगढ़ (म.प्र.)-472001

॥ श्री शांतिनाथाय नमः ॥

श्री शांतिनाथ पुराण

(आचार्य श्री सकलकीर्ति जी कृत मूल ग्रंथ का हिन्दी रूपान्तरण)

(हिन्दी टीका-पं. स्व. श्री लालाराम जी शास्त्री)

-: प्रकाशक :-

वीतराग वाणी ट्रस्ट (रजिस्टर्ड)

मुहल्ला सैलसागर, टीकमगढ़ (म.प्र.)

पिन- ४७२००१

श्री शान्तिनाथ पुराण

(आचार्य श्री सकलकीर्ति जी कृत मूल ग्रंथ का हिन्दी रूपान्तरण)

* हिन्दी टीका-
  पं. स्व. श्री लालाराम जी शास्त्री

* सम्पादन-
  प्रतिष्ठाचार्य पं. विमलकुमार जैन सोंरया
  प्रधान सम्पादक-वीतराग वाणी 'मासिक'
  सैलसागर, टीकमगढ़ (म.प्र.)

* महावीर निर्वाण दिवस : २००२
* द्वितीयावृत्ति : १०००
* मूल्य : ७५.०० रुपए

* प्रकाशक-
  वीतराग वाणी ट्रस्ट (रजिस्टर्ड)
  मुहल्ला सैलसागर, टीकमगढ़ (म.प्र.)
  पिन- ४७२००१

* मुद्रक-
  बर्द्धमानकुमार जैन सोंरया
  अरिहंत आफसैट प्रिंटर्स
  सैलसागर, टीकमगढ़ (म.प्र.)
  फोन- *07683-42592*

तीर्थंकर महावीर

नाम	- वर्द्धमान, वीर, अतिवीर, सन्मति, महावीर
जन्मस्थान	- कुण्डग्राम (बिहार प्रान्त)
पिता का नाम	- श्री महाराजा सिद्धार्थ
माता का नाम	- त्रिशला देवी (प्रियकारिणी)
वंश	- नाम वंश (ज्ञातृ वंश 'नाठ' - इति पालि)
गर्भावतरण	- आषाढ़ शुक्ल षष्ठी, शुक्रवार १७ जून ५९९ ई.पू.
गर्भवास	- नौ माह सात दिन बारह घन्टे
जन्मतिथि	- चैत शुक्ल त्रयोदशी, सोमवार २७ मार्च ५९८ ई.पू.
वर्ण (कान्ति)	- स्वर्णाभ (हेमवर्ण)
चिन्ह	- सिंह
गृहस्थित रूप	- अविवाहित
कुमारकाल	- २८ वर्ष ५ माह १५ दिन
दीक्षातिथि	- मंगशिर कृष्ण १० सोमवार २९ दिसम्बर ५६९ ई.पू.
तप	- १२ वर्ष ५ माह १५ दिन
केवलज्ञान	- वैशाख शुक्ल १० रविवार २६ अप्रैल ५५७ ई.पू.
देशना पूर्व मौन	- ६६ दिन
देशना तिथि (प्रथम)	- श्रावण कृष्ण प्रतिपदा शनिवार १ जुलाई ५५७ ई.पू.
निर्वाण तिथि	- कार्तिक कृष्ण अमावस्या मंगलवार १५ अक्टूबर ५२७ ई.पू.
निर्वाण भूमि	- पावा (मध्यमा पावा)
आयु	- ७२ वर्ष (७१ वर्ष ४ माह २५ दिन)

जन्म समय की ज्योतिर्ग्रहा स्थिति :

नक्षत्र	- उत्तरा फाल्गुनि
राशि	- कन्या
महादशा	- बृहस्पति
दशा	- शनि
अन्तर्दशा	- बुध
पूर्व भव	- अच्युतेन्द्र

प्राक्कथन

आज से २६०० वर्ष पूर्व इस भूमण्डल पर तीर्थंकर भगवांन महावीर स्वामी का अवतरण हुआ था । वह तन और मन दोनों से अद्भुत सुन्दर थे । उनका उन्नत व्यक्तित्व लोक कल्याण की भावना से युक्त था । उन्होंने कामनाओं और वासनाओं पर विजय पाकर प्राणीमात्र के कल्याण के लिए उज्जवल मार्ग प्रशस्त किया । वह कर्मयोग की साधना के शिखर थे । उनके व्यक्तित्व में साहस सहिष्णुता का अपूर्व समावेश था । उन्होंने मानवीय मूल्यों को स्थिरता प्रदान करते हुए, प्राणियों में निहित शक्ति का उदघाटन कर उन्हें निर्भय बनाया । तथा अज्ञानांधकार को दूर कर सत्य और अनेकान्त के आलोक से जन नेतृत्व किया । उनका संवेदनशील हृदय करुणा से सदा द्रवित रहता था । हिंसा, असत्य, शोषण, संचयं और कुशील से संत्रस्त मानवता की रक्षा की, तथा वर्वर्तापूर्वक किए जाने वाले जीवों के अत्याचारों को दूर कर अहिंसा मैत्री भावना का प्रचार किया ।

उनकी तपः साधना विवेक की सीमा में समाहित थी । अतः सच्चे अर्थों में वह दिव्य तपस्वी थे । वह प्राणीमात्र का उदय चाहते थे । तथा उनका सिद्धान्त था, कि दूसरों का बुरा चाहकर कोई अपना भला नहीं कर सकता है । कार्य, गुण, परिश्रम, त्याग, संयम ऐसे गुण हैं जिनकी उपलब्धि से कोई भी व्यक्ति महान बन सकता है । उनका जीवन आत्म कल्याण और लोकहित के लिए बीता । लोक कल्याण ही उनकी दृष्टि और लक्ष्य था । उनका संघर्ष बाह्य शत्रुओं से नहीं अन्तरंग काम क्रोध वासनाओं से था । वह तात्कालीन समाज की कायरता, कदाचार, और पापाचार को दूर करने के लिए कटिवद्ध रहते थे । उनके अपार व्यक्तित्व में स्वावलम्बन की वृत्ति तथा स्वतंत्रता की भावना पूर्णतः थी । उन्होंने अपने ही पुरुषार्थ से कर्मों का नाश किया । उनका सन्देश था कि जीवन का वास्तविक विकास अहिंसा के आलोक में ही होता है । यह कथन अपने जीवन में चरितार्थ कर साकार किया । दया प्रेम और विनम्रता ने महावीर की अहिंसक साधना को सुसंस्कृत किया । उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्व से कोटि कोटि मानव कृतार्थ हो गए ।

भगवान महावीर में बाह्य और आभ्यांतर दोनों ही प्रकार के व्यक्तित्वों का अलौकिक गुण समाविष्ट था । उनके अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य गुणों के समावेश ने उनके आत्म तेज को अलौकिक बना दिया था । उनके व्यक्तित्व में निःस्वार्थ साधक के समस्त गुण समवेत थे। अहिंसा ही उनका साधना सूत्र था । अनंत अन्तरंग गुण उनके आभ्यांतर व्यक्तित्व को आलोकित करते थे । वह विश्व के अद्वितीय क्रान्तिकारी तत्वोपदेशक और जन नेता थे । उनका व्यक्तित्व आद्यन्त क्रान्तिकारी त्याग तपस्या संयम अहिंसा आदि से अनुप्रमाणित रहा ।

भगवान महावीर स्वामी द्वारा प्रवोधित द्वादशांग वाणी ही जैनागम है समस्त जैनागम को चार भागों में विभक्त किया गया है जिन्हें चार अनुयोग भी कहते हैं इनसे सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञान जानना चाहिए । श्रुत विभाजन की आंशिक जानकारी निम्नानुसार है:-

प्रथमानुयोग- इस अनुयोग अन्तर्गत कथाऐं, चरित्र व पुराण हैं । यह सम्यक् ज्ञान है । इसमें परमार्थ विषय का अथवा, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चार पुरुषार्थों का, त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र का कथन है । दृष्टिवाद के तीसरे भेद अनुयोग में पांच हजार पद हैं । इसके अन्तर्गत अवान्तर भेदों में त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र का वर्णन है । मिथ्यादृष्टि, अव्रती, अल्पज्ञानी व्यक्तियों के उपदेश हेतु यह प्रथमानुयोग मुख्य है ।

करणानुयोग- कर्म सिद्धान्त व लोक अलोक दिमाग को, युगों के परिवर्तन को तथा चारों गतियों को दर्पण के समान प्रगट कराने वाला ही सम्यक्ज्ञान है । इस अनुयोग से उपयोग लगता है । पापवृत्ति छूटती है । धर्म की वृद्धि होती है तथा तत्व ज्ञान की प्राप्ति शीघ्र होती है । जीव के कल्याण मार्ग पर चलने केलिए विशेष रूप से यह करणानुयोग है ।

चरणानुयोग- जीव के आचार विचार को दर्शाने वाला सम्यक्ज्ञान है । यह गृहस्थ और मुनियों के चरित्र की उत्पत्ति, वृद्धि, रक्षा के अंगभूत ज्ञान को चरणानुयोग शास्त्र के द्वारा विशेष प्रकार से जाना जाता है । जीव तत्व का ज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करता है । चरणानुयोग के अभ्यास से जीव का आचरण एक देश या सर्वदेश वीतराग भाव अनुसार आचरण में प्रवर्तता है ।

द्रव्यानुयोग- इस अनुयोग में चेतन और अचेतन द्रव्यों का स्वरूप व तत्वों का निर्देश रूप कथन है । इसमें जीव, अजीव, सुतत्वों को, पुण्य, पाप,

बंध, मोक्ष को तथा भाव श्रुत रूपी प्रकाश को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है । इस अनुयोग अर्न्तगत शास्त्रों में मुख्यतः शुद्ध-अशुद्ध जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल रूप अजीव द्रव्यों का वर्णन है । जिनको तत्व का ज्ञान हो गया है ऐसा भव्य जीव द्रव्यानुयोग का प्रवृत्ति रूप अभ्यास करता है ।

इसके अतिरिक्त वस्तु का कथन करने में जिन अधिकारों की आवश्यकता होती है । उन्हें अनुयोग द्वार कहते हैं । इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी की परम्परा में गणधर आदि महान पुरुषों ने द्वादशांग रूप दिव्य वाणी का परिबोध इन अनुयोगों के माध्यम से प्रतिपादित किया है । परम्पराचार्यों की वाणी के अनुराधक विद्वत् जनों द्वारा अन्य अन्य विद्याओं के माध्यम से उसे प्रस्तुत किया गया है । जन जन के हितार्थ तथा भव्यों की आत्मा के कल्याणार्थ भगवान महावीर स्वामी के दिव्य २६ सौ वें जन्मोत्सव के पावन प्रसंग पर वीतराग वाणी ट्रस्ट द्वारा छव्वीस ग्रंथों को प्रकाशित करते हुए अपने आपको गौरवशाली अनुभव करता हूँ ।

हम सब अहोभाग्यशाली हैं कि हम सब के जीवन में अपने आराध्य परमपिता देवाधिदेव अंतिम तीर्थेश भगवान महावीर स्वामी का सन् १९७३ में पच्चीस सौ वां निर्वाण महोत्सव मनाने का परम संयोग मिला था । और सन् २००१ में छब्बीस सौ वां जन्मोत्सव अहिंसा वर्ष के रूप में मनाने का सुयोग साकार हुआ । इस महामानव के सम्मान में भारत सरकार ने भी इसे विश्व स्तर पर अहिंसा वर्ष के रूप में चरितार्थ करने का विश्व स्तर पर जो आयोजन साकार किया है वह विश्व जन मानुष को अवश्य अहिंसा, सत्य के सिद्धान्त का परिज्ञान तो देगा ही उसकी महत्ता को प्रतिपादित करने तथा भगवान महावीर के पवित्र आदर्शों पर चलने की प्रेरणाऐं भी प्रदान करेगा । जहाँ संपादक ने सन् १९७३ में भगवान महावीर स्वामी के २५ सौ वें निर्वाण महोत्सव पर एक सौ वर्ष में देश में हुए दिगम्बर जैन विद्वानों, साहित्यकारों, कविगणों, पण्डितों के अलावा समस्त दिगम्बर जैन महाव्रती जनों के सचित्र जीवन वृत्त उनके उन्नत कृतित्व और अपार व्यक्तित्व के साथ लिखकर विद्वत् अभिनंदन ग्रंथ के रूप में प्रकाशित किया था । आज उन्हीं तीर्थेश भगवान महावीर स्वामी के छब्बीस सौ वें जन्मोत्सव पर उनकी पावन स्मृति में भगवान महावीर स्वामी की परम्परा में जन्में हमारे परमाराध्य परम्पराचार्यों तथा उनके ही आधार पर लिखित मूर्धन्य विद्वानों द्वारा प्रणीत २६ प्रकार के आगम ग्रंथों के मात्र हिन्दी रूपान्तर प्रकाशन के संकल्प को साकार किया है ।

अपने स्वर्गीय पिता श्रीमान् सिंघई पं. गुलजारीलाल जी जैन सोंरया एवं माँ स्व. श्रीमती काशीवाई जी जैन की पावन स्मृति में स्थापित वीतराग वाणी ट्रस्ट रजिस्टर्ड टीकमगढ़ (म.प्र.) के अन्तर्गत इन ग्रंथों का प्रकाशन साकार किया गया है । भगवान महावीर स्वामी की परम्परा के महानतम आगम आचार्य भगवंत पुष्पदन्ताचार्य, श्रीसकल कीर्ति आचार्य, श्रीवादीभसिंह सूरि, श्री शुभचन्द्राचार्य, श्रीरविषेणाचार्य श्री सोमकीर्ति आचार्य, सिद्धान्त चक्रवर्ति श्री नेमिचन्द्राचार्य जैसे जैन वांगमय के महान आचार्यों के चरणों में त्रिकाल नमोस्तु कर कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं जिनके द्वारा रचित प्रथमानुयोग के मूल ग्रंथों के आधार पर हमारे सुधी विद्वानों ने हिन्दी टीका करके जनसामान्य के लिए सुलभता प्रदान की है । हम उन हिन्दी टीकाकार महान विद्वानों में- श्री पं. भूधरदास जी, श्री पं. दौलतरम जी, श्री पं. परमानंद जी मास्टर, श्री पं. नंदलाल जी विशारद, श्री पं. गजाधरलाल जी, श्री पं. लालाराम जी, श्री पं. श्रीलाल जी काव्यतीर्थ, श्री प्रो. डॉ. हीरालाल जी एवं डॉ. पं. श्री पन्नालाल जी साहित्याचार्य के प्रति कृतज्ञ हैं जिनकी ज्ञान साधना के श्रम के फल को चखकर अनेको भव्यों ने अपना मोक्ष मार्ग प्रशस्त किया ।

अंत में ट्रस्ट की ग्रंथमाला के सहसम्पादक के रूप में युवा प्रतिष्ठाचार्य विद्वान श्री पं. बर्द्धमानकुमार जैन सोंरया, चिं. डॉ. सर्वज्ञदेव जैन सोंरया टीकमगढ़ एवं श्रीमती सुनीता जैन एम.एस-सी., एम.ए. बिलासपुर को आशीर्वाद देता हूँ जिनके निरन्तर अथक श्रम से इन ग्रंथों का शीघ्रता से प्रकाशन सम्भव हो सका । ऐसे अलौकिक समस्त जीवों के उपकारी तीर्थंकर महावीर स्वामी के २६ सौ वें जन्म वर्ष की पुनीत स्मृति में उनके ही द्वारा उपदेशित अध्यात्म ज्ञान के अलौकिक ज्ञान पुंज २६ ग्रंथों के प्रकाशन का संकल्प साकार करते हुए अत्यंत प्रमोद का अनुभव कर रहा हूँ । यह ग्रंथ अवश्य भावी पीढ़ियों को आध्यात्म का मार्ग प्रशस्त करते रहेंगे । आशा है इससे भावी भव्य जन अपना निरन्तर उपकार करते रहेंगे ।

सैलसागर, टीकमगढ़ (म.प्र.)
"भगवान महावीर निर्वाण दिवस"
४ नवम्बर २००२

प्रतिष्ठाचार्य पं. विमलकुमार जैन सोंरया
अध्यक्ष-वीतराग वाणी ट्रस्ट रजि.
प्रधान सम्पादक-वीतरागवाणी मासिक

वीतराग वाणी ट्रस्ट के लोकोत्तर प्रकाशन

१. विधान संग्रह (प्रथम भाग) सम्पादक पं. बर्द्धमानकुमार जी सोंरया ६५/-
२. विधान संग्रह (द्वितीय भाग) ,, ६५/-
३. विधान संग्रह (तृतीय भाग) ,, ७५/-
४. वीतराग पूजान्जलि पं. विमलकुमार जी सोंरया ४५/-
५. सिद्धचक्र मण्डल विधान महाकवि श्री सन्तलाल जी ४५/-
६. चारित्र शुद्धि मण्डल विधान श्री पं. छोटेलाल जी बरैया ५०/-
७. अध्यात्म लहरी (द्वितीय भाग) श्री सुरेन्द्रसागर प्रचंडिया १५/-
८. श्री पंचकल्याणक विधान ब्र. श्री सीतलप्रसाद जी १५/-
९. श्री यागमण्डल विधान ब्र. श्री शीतलप्रसाद जी १५/-
१०. श्री शान्तिनाथ मण्डल विधान पं. ताराचन्द्र जी शास्त्री १५/-
११. भक्तामर संग्रह सम्पादक डॉ. सर्वज्ञदेव जैन १५/-
१२. त्रय छहढाला अनुवादक आचार्य श्री चन्द्रसागर जी १०/-
(महाकवि द्यानतराय, बुधजन एवं दौलतराम कृत)
१३. सहस्राष्टक चर्चा आचार्य श्री चन्द्रसागर जी ३०/-
१४. सन्मति सन्मति दो आचार्य श्री चन्द्रसागर जी ३०/-
१५. तास के तेरह पत्ते आचार्य श्री चन्द्रसागर जी २५/-
१६. श्री भक्तामर विधान आचार्य श्री सोमसेन जी १५/-
१७. श्री वास्तु विधान सम्पादक पं. विमलकुमार जी सोंरया २०/-
१८. श्री समवशरण विधान कवि श्री कुँअरलाल जी ३५/-

-: प्राप्ति स्थान :-

वीतराग वाणी ट्रस्ट (रजिस्टर्ड)

मुहल्ला सैलसागर, टीकमगढ़ (म.प्र.)

पिन- ४७२००१

देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी की २६ सौ वीं जयंती की पावन स्मृति में वीतराग वाणी ट्रस्ट द्वारा निम्नांकित २६ प्रकार के ग्रंथों का प्रकाशन किया गया है।

१. परम ज्योति महावीर (महाकाव्य) श्री धन्यकुमार जी सुधेश ४०/-
२. कुरल काव्य (श्री एलाचार्य जी कृत) पं. गोविन्दराय जी शास्त्री ५०/-
३. मंदिर वेदी मानस्तंभ प्रतिष्ठा विधि पं. विमलकुमार जी सोंरया ४०/-
४. त्रिषष्ठि चित्रण दीपिका प्रतिष्ठाचार्य पं. विमलकुमार जी सोंरया २५/-
५. नन्दीश्वर द्वीप वृहद विधान कविवर श्री जिनेश्वरदास जी ४०/-
६. जैन सिद्धान्त प्रवेशिका गुरुणांगुरु श्री गोपालदास जी वरैया १५/-
७. रत्नकरण्ड श्रावकाचार डॉ. पं. पन्नालाल जी ५०/-
(स्वामी समन्तभद्र कृत या प्रभाचन्द्र आचार्य की संस्कृत टीका)
८. श्री महावीर पुराण आचार्य श्री सकलकीर्ति जी ६०/-
९. श्री पार्श्वनाथ पुराण आचार्य श्री सकलकीर्ति जी ६५/-
१०. श्री शान्तिनाथ पुराण आचार्य श्री सकलकीर्ति जी ७५/-
११. श्री मल्लिनाथ पुराण आचार्य श्री सकलकीर्ति जी ४०/-
१२. श्री कोटिभट श्रीपाल पुराण आचार्य श्री सकलकीर्ति जी ५५/-
१३. श्री नागकुमार चरित्र महाकवि श्री पुष्पदंताचार्य जी ४५/-
१४. श्री जीवन्धर चरित्र श्री वादीभसिंह सूरि देव ६५/-
१५. श्री पाण्डव पुराण आचार्य श्री शुभचंद्र जी ८५/-
१६. श्री श्रेणिक चरित्र आचार्य श्री शुभचंद्र जी ७०/-
१७. श्री पदमपुराण जी आचार्य श्री रविषेण जी ८५/-
१८. श्री प्रद्युम्न कुमार चरित्र आचार्य श्री सोमकीर्ति जी ६५/-
१९. श्री चौवीसी पुराण जी डॉ. पं. पन्नालाल जी सा.आ. ७५/-
२०. श्री विमल पुराण जी श्री पं. कृष्णदास जी जैन ५५/-
२१. श्री वृहद् द्रव्य संग्रह श्री नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ति ५५/-
२२. श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक पं. जवाहरलाल जी सि. शास्त्री ६५/-
(आचार्य कल्प श्री टोडरमल जी कृत)
२३. त्रय छहढ़ाला आचार्य श्री चन्द्रसागर जी महाराज २५/-
(द्यानतराय, बुधजन एवं दौलतराम कृत)
२४. ज्ञानार्णव आचार्य शुभचन्द्र देव कृत ५५/-
२५. श्री सुधेश ग्रंथत्रयी महाकवि स्व. श्री धन्यकुमार 'सुधेश' ५०/-
२६. वीतराग गीतान्जलि श्री गोविन्ददास जी जैन ४०/-

श्री शांतिनाथ पुराण के मूल रचयिता भगवंत आचार्य श्री सकलकीर्ति जी का

संक्षिप्त जीवन परिचय

विपुल साहित्य निर्माण की दृष्टि से आचार्य सकलकीर्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इन्होंने संस्कृत एवं प्राकृत वांगमय को संरक्षण ही नहीं दिया, अपितु उसका पर्याप्त प्रचार और प्रसार किया । आचार्य सकलकीर्ति ने प्राप्त आचार्य परम्परा का सर्वाधिक रूप में पोषण किया है । तीर्थयात्राएँ कर जनसामान्य में धर्म के प्रति जागरूकता उत्पन्न की और नवमंदिरों का निर्माण कराकर प्रतिष्ठाएँ करायीं । आचार्य सकलकीर्ति ने अपने जीवनकाल में १४ बिम्ब प्रतिष्ठाओं का संचालन किया था । गलिया कोट में संघपति मूलराज ने इन्हीं के उपदेश से चतुर्विंशति जिनबिम्ब की स्थापना की थी । नागद्रह जाति के श्रावक संघपति ठाकुरसिंह ने भी कितनी ही विम्ब प्रतिष्ठाओं में योग दिया । आबू में इन्होंने एक प्रतिष्ठा महोत्सव का संचालन किया था, जिसमें तीन चौबीसी की एक विशाल प्रतिमा परिकर सहित स्थापित की गयी थी ।

निःसन्देह आचार्य सकलकीर्ति का असाधारण व्यक्तित्व था । तत्कालीन संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी आदि भाषाओं पर अपूर्व अधिकार था। भट्टारक सकलभूषण ने अपने उपदेशरत्नमाला नामक ग्रन्थ की प्रशस्ति में सकलकीर्ति को अनेक पुराण ग्रन्थों का रचयिता लिखा है । भट्टारक शुभचन्द्र ने भी सकलकीर्ति को पुराण और काव्य ग्रन्थों का रचयिता बताया है ।

आचार्य सकलकीर्ति का जन्म वि.सं. १४४३ (ई. सन् १३८६) में हुआ था । इसके पिता का नाम कर्मसिंह और माता का नाम शोभा था । ये हूंवड़ जाति के थे और अणहिलपुर पट्टन के रहनेवाले थे । गर्भ में आने के समय माता को स्वप्नदर्शन हुआ था । पति ने इस स्वप्न का फल योग्य, कर्मठ और यशस्वी पुत्र की प्राप्ति होना बतलाया था ।

बालक का नाम माता-पिता ने पूर्णसिंह या पूनसिंह रखा था । एक पट्टावली में इनका नाम 'पदार्थ' भी पाया जाता है । इनका वर्ण राजहंस के समान शुभ्र और शरीर ३२ लक्षणों से युक्त था । पाँच वर्ष की अवस्था में पूर्णसिंह का विद्यारम्भ संस्कार सम्पन्न किया गया । कुशाग्रबुद्धि होने के कारण अल्पसमय में ही शास्त्राभ्यास पूर्ण कर लिया । माता-पिता ने १४ वर्ष की अवस्था में ही पूर्णसिंह का विवाह कर दिया । विवाहित हो जाने पर भी इनका मन सांसारिक कार्यों के बन्धन में बँध न सका । पुत्र की इस स्थिति से माता-पिता को चिन्ता उत्पन्न हुई और उन्होंने समझाया-"अपार सम्पत्ति है, इसका उपभोग युवावस्था में अवश्य करना चाहिये । संयम प्राप्ति के लिए तो अभी बहुत समय है । यह तो जीवन के चौथे पन में धारण किया जाता है ।

कहा जाता है कि माता-पिता के आग्रह से ये चार वर्षों तक घर में रहे और १८ वें में प्रवेश करते ही वि. सं. १४६३ (ई. सन् १४०६) में समस्त सम्पत्ति का त्याग कर भट्टारक पद्मनन्दि के पास नेणवां में चले गये । भट्टारक यशः कीर्ति शास्त्रभण्डार की पट्टावली के अनुसार ये २६ वें वर्ष में नेणवां गये थे । ३४ वें वर्ष में आचार्य पदवी धारण कर अपने प्रदेश में वापस आये और धर्मप्रचार करने लगे । इस समय ये नग्नावस्था में थे ।

आचार्य सकलकीर्ति ने बागड़ और गुजरात में पर्याप्त भ्रमण किया था और धर्मोपदेश देकर श्रावकों में धर्मभावना जागृत की थी । उन दिनों में उक्त प्रदेशों में दिगम्बर जैन मन्दिरों की संख्या भी बहुत कम थी तथा साधु के न पहुँचने के कारण अनुयायियों में धार्मिक शिथिलता आ गयी थी। अतएव इन्होंने गाँव-गाँव में विहार कर लोगों के हृदय में स्वाध्याय और भगवद्भक्ति की रुचि उत्पन्न की ।

बलात्कारगण इडर शाखा का आरम्भ भट्टारक सकलकीर्ति से ही होता है । ये बहुत ही मेधावी, प्रभावक, ज्ञानी और चरित्रवान थे । बागड़ देश में जहाँ कहीं पहले कोई भी प्रभाव नहीं था, वि. सं. १४९२ में गलियाकोट में भट्टारक गद्दी की स्थापना की तथा अपने आपको सरस्वतीगच्छ एवं बलात्कारगण से सम्बोधित किया । ये उत्कृष्ट तपस्वी और रत्नावली, सर्वतोभद्र, मुक्तावली आदि व्रतों का पालन करने में सजग थे ।

स्थिति काल- भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा वि. सं. १४९० (ई. सन् १४३३) वैशाख शुक्ला नवमी शनिवार को एक चौबीसी मूर्ति; विक्रम संवत् १४९२ (ई. सन् १४३५) वैशाख कृष्ण दशमी को पार्श्वनाथ मूर्ति; सं. १४९४ (ई. सन् १४३७) वैशाख शुक्ला त्रयोदशी को आबू पर्वत पर एक मन्दिर की प्रतिष्ठा करायी गयी; जिसमें तीन चौबीसी की प्रतिमाएँ परिकर सहित स्थापित की गयी थीं । वि. सं. १४९७ (ई. सन् १४४०) में एक आदिनाथ स्वामी की मूर्ति तथा वि. सं. १४९९ (ई. सन् १४४२) में सागबाड़ा में आदिनाथ मन्दिर की प्रतिष्ठा की थी । इसी स्थान में आपने भट्टारक धर्मकीर्ति का पट्टाभिषेक भी किया था ।

भट्टारक सकलकीर्ति ने अपनी किसी भी रचना में समय का निर्देश नहीं किया है, तो भी मूर्तिलेख आदि साधनों के आधार पर से उनका निधन वि. सं. १४९९ पौष मास में महसाना (गुजरात) में होना सिद्ध होता है । इस प्रकार उनकी आयु ५६ वर्ष की आती है । 'भट्टारक सम्प्रदाय' ग्रन्थ में विद्याधर जोहरापुरकर ने इनका समय वि. सं. १४५०-१५१० तक निर्धारित किया है । पर वस्तुतः इनका स्थितिकाल वि. सं. १४४३-१४९९ तक आता है ।

रचनाएँ- आचार्य सकलकीर्ति संस्कृत भाषा के प्रौढ़ पंडित थे । इनके द्वारा लिखित निम्नलिखित रचनाओं की जानकारी प्राप्त होती है-- १. शान्तिनाथ चरित २. वर्द्धमान चरित ३. मल्लिनाथ चरित ४. यशोधर चरित ५. धन्यकुमार चरित ६. सुकमाल चरित ७. सुर्दशन चरित ८. जम्बूस्वामी चरित ९. श्रीपाल चरित १०. मूलाचार प्रदीप ११. प्रश्नोत्तरोपासकाचार १२. आदिपुराण-वृषभनाथ चरित १३. उत्तर पुराण १४. सद्भाषितावली-सूक्तिमुक्तावली १५. पार्श्वनाथ पुराण १६. सिद्धान्तसार दीपक १७. व्रत कथाकोष १८. पुराणसार संग्रह १९. कर्मविपाक २०. तत्त्वार्थसार दीपक २१. परमात्मराज स्तोत्र २२.आगमसार २३. सारचतुर्विंशतिका २४. पंचपरमेष्ठी पूजा २५. अष्टाह्निका पूजा २६. सोलहकारण पूजा २७. द्वादशानुप्रेक्षा २८. गणधरवलय पूजा २९. समाधिमरणोत्साह दीपक ।

राजस्थानी भाषा में लिखित रचनाएँ- १. आराधनाप्रतिबोधसार २. नेमीश्वर-गीत ३. मुक्तावली-गीत ४. णमोकार-गीत ५. पार्श्वनाथाष्टक ६. सोलहकारण रासो ७. शिखामणिरास ८. रत्नत्रयरास ।

निःसन्देह आचार्य सकलकीर्ति अपने युग के प्रतिनिधि लेखक हैं । इन्होंने अपनी पुराण विषयक कृतियों में आचार्य परम्परा द्वारा प्रवाहित विचारों को ही स्थान दिया है । चरित्रनिर्माण के साथ सिद्धान्त, भक्ति एवं कर्मविषयक रचनाएँ परम्परा के पोषण में विशेष सहायक हैं । सिद्धान्तसारदीपक, तत्त्वार्थसार, आगमसार, कर्मविपाक जैसी रचनाओं से जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्तों का उन्होंने प्रचार किया है । मुन्याचार और श्रावकाचार पर रचनाएँ लिखकर उन्होंने मुनि और श्रावक दोनों के जीवन को मर्यादित बनाने की चेष्टा की है । इनकी हिन्दी में लिखित 'सारसीखामणिरास' और 'शान्तिनाथफाग' अच्छी रचनाएँ हैं । इनमें विषय का प्रतिपादन बहुत ही स्पष्ट रूप में हुआ है ।

("तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा"
लेखक स्व. डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ग्रंथ से साभार)

विषय सूची

क्रम		विषय	पृष्ठ
पहिला अधिकार	-	मंगलाचरण (इष्टदेव को नमस्कार) एवं कर्त्ता (वक्ता) श्रोता का निरूपण	१
दूसरा अधिकार	-	त्रिपृष्ट और स्वयंप्रभा के विवाह का वर्णन	८
तीसरा अधिकार	-	अमिततेज को राज्य, प्रजापति ज्वलन जटी का मोक्ष-गमन, श्रीविजय के विघ्नों का दूर होना	२४
चौथा अधिकार	-	अमिततेज के द्वारा धर्म सम्बन्धी प्रश्न पूछना	३७
पाँचवाँ अधिकार	-	राजा श्रीषेण व श्री शान्तिनाथ के चार भवों का वर्णन	४८
छट्ठा अधिकार	-	देव आदि के दो भवों का वर्णन	६०
सातवाँ अधिकार	-	अनन्तवीर्य के दुःख और अच्युतेन्द्र के सुख का वर्णन	७३
आठवाँ अधिकार	-	अनन्तवीर्य को सम्यक्त्व की प्राप्ति और वज्रायुध चक्रवर्ती का भव वर्णन	९०
नवमाँ अधिकार	-	अहमिन्द्र भव का निरूपण	१०७
दशवाँ अधिकार	-	राजा मेघरथ के भव का वर्णन	१२७
ग्यारहवाँ अधिकार	-	महाराज मेघरथ का वैराग्य तथा दीक्षा	१४६
बारहवाँ अधिकार	-	अहमिन्द्र का गर्भावतरण	१६६
तेरहवाँ अधिकार	-	भगवान श्री शान्तिनाथ जी का जन्मावतरण और देवों का आगमन	१८६
चौदहवाँ अधिकार	-	जन्माभिषेक और राज्यलक्ष्मी प्राप्ति	२०८
पन्द्रहवाँ अधिकार	-	भगवान का दीक्षा कल्याणक और केवलज्ञान कल्याणक	२२८
सोलहवाँ अधिकार	-	भगवान श्री शान्तिनाथ जी का समोवशरण, धर्मोपदेश और मोक्ष गमन	२४९

* स्वाध्याय करते समय इसे पढ़ना आवश्यक है ।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

ओंकार बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः ॥१॥
अविरलशब्दघनौघ प्रक्षालितसकलभूतलकलंका ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥

अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्य श्रीगुरवे नमः ।

सकलकलुषविध्वंसकं श्रेयसां परिवर्धकं धर्म संबंधकं भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं "श्री शांतिनाथ पुराण" नामधेयं, एतन्मूलग्रन्थकर्त्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रंथकर्त्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारमासाद्य श्री सकलकीर्ति आचार्येण विरचितम् पं. श्री लालाराम शास्त्री अनूदितम् ।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्व मंगल्य मांगल्यं सर्व कल्याण कारकं ।
प्रधानं सर्व धर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

सर्वे श्रोतारः सावधानतया श्रृण्वन्तु ॥

॥ श्री शान्तिनाथाय नमः ॥

श्री शान्तिनाथ पुराण

मंगलाचरण

नमः श्री शान्तिनाथाय, जगच्छान्ति विधायिने ।
कृत्स्नकर्मौघशान्ताय शान्तये सर्वकर्मणाम् ॥१॥

अर्थ--जो समस्त संसार को शान्ति देने वाले हैं तथा समस्त कर्मों के समूह को शान्त या नष्ट करने वाले हैं, ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान को मैं (ग्रन्थकर्त्ता श्रीभट्टारक सकलकीर्ति) समस्त कर्मों को शान्त या नष्ट करने के लिए नमस्कार करता हूँ। जो इस संसार में सोलहवें तीर्थंकर के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, समस्त देव जिनकी पूजा करते हैं, जो तीनों लोकों में प्रसिद्ध हैं, संसार-रूपी समुद्र से पार हो चुके हैं, जो इस संसार में पाँचवें चक्रवर्ती के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिन्हें समस्त राजा-महाराजा, सब देव एवं सब विद्याधर नमस्कार करते हैं, जो कर्मों को नाश करने वाले जिनों के भी स्वामी हैं, जो कामदेव के नाम से प्रसिद्ध हैं, तथापि कामदेव को भी जीतने वाले हैं, जो अतिशय रूपवान हैं, जो जिनेन्द्र हैं एवं जिन्होंने तीनों लोकों में अनेक गुण स्थापित किए हैं, ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान के दोनों चरणकमलों को मैं उनके समस्त गुण समूह की सिद्धि एवं प्राप्ति के लिए, नमस्कार करता हूँ। श्री शांतिनाथ के उन दोनों ही चरणकमलों में अनेक शुभ लक्षण विराजमान हैं एवं उनकी श्री गणधर देव भी सदा वन्दना करते रहते

श्री शांतिनाथ पुराण

हैं । मैं उन श्री ऋषभदेव को भी धर्म प्राप्ति करने के लिए नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने इस संसार में धर्म-तीर्थ की प्रवृत्ति की है-वे धर्म के स्वामी हैं, धर्म के दाता हैं तथा मुनिराजों के स्वामी हैं । जिन्होंने युग के प्रारम्भ में मोक्षमार्ग को प्रगट करने के लिए अपनी वचनरूपी किरणों से संसार के अज्ञानान्धकार को दूर कर धर्म को प्रकाशित किया है, जो अत्यन्त निर्मल हैं, जिनकी आत्मा सुख स्वरूप है, जो धर्म की ही प्रवृत्ति करने वाले हैं तथा इस युग के प्रारम्भ में तीर्थंकरों में सबसे पहिले सिद्ध होने वाले हैं, ऐसे जिनेन्द्र-रूपी सूर्य भगवान श्री ऋषभदेव को मैं नमस्कार करता हूँ । जो भव्य लोगों की हृदय-रूपी कुमुदिनी को प्रफुल्लित करने वाले हैं अज्ञान-रूपी अन्धकार को दूर करने वाले हैं, चन्द्रमा के समान कान्ति को धारण करने वाले हैं तथा चन्द्रमा का ही जिनके चिह्न है, ऐसे श्री चन्द्रप्रभ स्वामी को भी मैं नमस्कार करता हूँ । जो अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी से विभूषित हैं, इच्छानुसार पदार्थों को देनेवाले हैं, कर्मों का नाश करनेवाले हैं, मुक्ति-रूपी स्त्री में आसक्त हैं तथा स्त्री के कर-स्पर्श का (पाणिग्रहण या विवाह का) परित्याग करनेवाले हैं, ऐसे सर्वोत्कृष्ट श्रीनेमिनाथ को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१०॥ तीनों लोक जिनकी सेवा करते हैं एवं जिनमें अनंत महिमा विराजमान है, ऐसे पार्श्वनाथ जिनेन्द्रदेव को मैं उनके निकटवर्ती होने के लिए नमस्कार करता हूँ । जिनका निरूपण किया हुआ धर्म आज पाँचवें दुःखमा काल में भी वर्तमान है तथा जिस धर्म को अनेक श्रेष्ठ मुनिराज तथा श्रावक सदा धारण करते हैं, ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामी को मैं तीनों लोकों का हित करने के लिए प्रतिदिन नमस्कार करता हूँ; क्योंकि वे वर्द्धमान स्वामी ही कर्मरूप शत्रुओं को शान्त करनेवाले हैं । समस्त देव एवं मनुष्य जिनकी स्तुति करते हैं, जो तीनों लोकों का हित करनेवाले हैं तथा जो धर्म-साम्राज्य के स्वामी हैं, ऐसे शेष समस्त तीर्थंकरों को भी मैं नमस्कार करता हूँ । जो श्रेष्ठ गुणों के द्वारा सम्पन्न हैं, इस संसार में महान अतिशयों से सुशोभित हैं, अष्ट प्रातिहार्यों से विभूषित हैं, अनन्त गुणों से सुशोभित हैं, भव्य जीवों को आत्मज्ञान करानेवाले हैं तथा मुक्तिरमा के स्वामी हैं, ऐसे चौबीस तीर्थंकरों को मैं, प्रारम्भ किए हुए कार्य को पूर्ण करने के लिए नमस्कार करता हूँ । जो पूर्व विदेहक्षेत्र में अब भी धर्म की प्रवृत्ति कर रहे हैं एवं चारों प्रकार के संघ के मध्य में विराजमान हैं; समस्त देव, मनुष्य जिनकी पूजा करते हैं, जो भव्य जीवों के लिए अद्वितीय या सर्वश्रेष्ठ बन्धु हैं, धर्म की खान हैं, समस्त संसार को आनन्द देनेवाले हैं, तथा जिनाधीश हैं, ऐसे श्री

श्री शांतिनाथ पुराण

सीमन्धर देव को मैं नमस्कार करता हूँ। ढाई द्वीप में जो देवों के द्वारा पूज्य अन्य ऐसे अनेक तीर्थंकर हैं, उन सबको भी नमस्कार करता हूँ। जो श्रेष्ठ धर्म के प्रगट करनेवाले हैं, जिनेन्द्र हैं, गुणों के स्वामी हैं, तीनों लोकों के जीव जिनकी सेवा करते हैं, जो केवलज्ञान-रूपी दीपक से प्रकाशित हैं, अनेक सुख से विराजमान तथा श्रेष्ठ मुक्ति को देनेवाले ऐसे तीनों काल में उत्पन्न होनेवाले अतिशय शूर-वीर तीर्थंकरों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२० ॥ जो कर्म-रूपी शत्रुओं से रहित, आठ गुणों से सुशोभित, लोक के शिखर पर विराजमान हैं एवं जिननाथ तीर्थंकर भी जिन्हें नमस्कार करते हैं तथा सब तरह के क्लेशों से रहित हैं, ऐसे श्री सिद्ध परमेष्ठी को मैं उनके गुण-समुद्र प्राप्त करने की अभिलाषा के लिए अपने मन में सदा स्मरण करता हूँ।

जो इस संसार में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य एवं तप-इन पन्चाचार गुणों को स्वयं पालन करते हैं तथा मोक्ष प्राप्त कराने के लिए अपने शिष्य मुनियों से पालन कराते हैं, ऐसे देवों के द्वारा पूज्य आचार्य के चरण कमलों को मैं, पन्चाचारों को विशुद्ध करने के लिए, अपना मस्तक झुका कर नमस्कार करता हूँ। जो ग्यारह अंग चौदह पूर्व एवं प्रकीर्ण शास्त्रों को उनकी सिद्धि के लिए स्वयं पढ़ते हैं तथा मोक्ष प्राप्त कराने के लिए अपने शिष्य मुनियों को पढ़ाते हैं, जो द्वादशांग-रूपी महासागर के पारंगत एवं समस्त प्राणियों के हित कराने के लिए तत्पर हैं; ऐसे उपाध्याय मुनियों को मैं ग्यारह अंग, चौदह पूर्व की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ। जो रत्नत्रय सहित घोर एवं दुष्कर तपश्चरण से अत्यन्त निर्मल मोक्षमार्ग की इस संसार में सिद्धि करते हैं; जो सन्ध्या, प्रातः, मध्याह्न-तीनों समय योग धारण करते हैं, जो गुणों की खानि तथा तपश्चरण के साथ-साथ बड़े ही धीर-वीर हैं, ऐसे महायति साधुओं को मैं उनके गुणों की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में जो पन्च-परमेष्ठी को अपनी शक्ति के अनुसार भक्तिपूर्वक नमस्कार किए गए तथा जिनकी वन्दना एवं प्रार्थना की गई हैं, वे पन्च-परमेष्ठी इस प्रारम्भ किए गए शास्त्र के पूर्ण होने के लिए मेरी बुद्धि को तीक्ष्ण एवं अर्थ के पारगामी बनावें तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए रत्नत्रय प्रदान करें।३०। जो भव्य जीवों का हित करने के लिए परम पवित्र एवं मोक्ष देनेवाले द्वादशांग श्रुतज्ञान को स्वयं गूंथते अर्थात् उसकी रचना करते हैं, ऐसे श्री ऋषभसेन से प्रारंभ कर श्री गौतम पर्यंत समस्त गणधरों को में कवित्व आदि गुण प्राप्त होने के लिए मन-वचन-काय को शुद्धिपूर्वक

श्री शांतिनाथ पुराण

नमस्कार करता हूँ। जो केवलज्ञान के स्वामी एवं श्रेष्ठ धर्म-रूपी अमृत की वर्षा करने से इस संसार में मेघ (बादलों) की उपमा को प्राप्त हुए हैं, ऐसे श्री सुधर्माचार्य की भी मैं वन्दना करता हूँ। जिन्होंने अपने बाल्यकाल में ही वैराग्य-रूपी तलवार के द्वारा काम एवं मोह-रूपी शत्रु को नाश कर दिया, ऐसे सर्वोत्कृष्ट श्री जम्बूस्वामी को भी मैं नमस्कार करता हूँ। सर्वश्री विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन एवं भद्रबाहु-ये पाँचों ही मुनिराज श्रुतकेवली थे, श्रुतज्ञान-रूपी महासागर के पारंगत थे एवं धर्म-रूपी श्रेष्ठ मार्ग के प्रवर्तक थे; इसलिए इन्हें भी मैं प्रणाम करता हूँ। श्री विशाखाचार्य से प्रारंभ लेकर अन्य बहुत-से आचार्य, जो कि धर्म को प्रगट करने के लिए दीपक के समान हैं, उन प्रत्येक की भी मैं अपने मंगल के लिए वन्दना करता हूँ। भव्य जीवों को उपदेश देनेवाले महाकवीश्वर एवं देवों के द्वारा पूज्य ऐसे आचार्य श्री कुन्दकुन्द को भी मैं उनके गुणों को प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ। जिनके वचन निष्कलंक हैं, जो कवीश्वर, वादी तथा संसार-मात्र का भला करनेवाले हैं, ऐसे श्री अकलंक देव को भी मैं सदा नमस्कार करता हूँ।४०। महाकवीश्वर तथा शुद्ध चैतन्य स्वरूप श्री समन्तभद्र स्वामी को भी मैं नमस्कार करता हूँ तथा बड़े-बड़े विद्वान लोग जिनकी पूजा करते हैं, ऐसे पूज्यपाद को भी मैं नमस्कार करता हूँ। सिद्धान्त-शास्त्र के पारगामी श्री नेमिचन्द्राचार्य को मैं नमस्कार करता हूँ तथा इस संसार में चन्द्रमा की उपमा को धारण करनेवाले श्री प्रभाचन्द्र को भी नमस्कार करता हूँ। इनके अतिरिक्त जिनसेन आदि जो अनेक आचार्य हुए हैं, जो कि सम्यग्दर्शन आदि गुणों से सुशोभित, चतुर, ज्ञान-विज्ञान के पारगामी, सदा धर्म को प्रभावना करनेवाले हैं तथा जिन्हें मुक्ति के समागम की सदा लालसा लगी रहती है, ऐसे आचार्यों के चरणकमलों को भी मैं इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगल के लिए नमन करता हूँ। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में जिन कवियों की वन्दना की है, पूजा की है एवं स्तुति की है, वे सब कवि मेरी बुद्धि को सब शास्त्रों में पारगामिनी एवं सर्वोत्तम कर देवें। जो श्रीवर्द्धमान स्वामी के मुखारविन्द से प्रगट हुई है, जिसे गणधर देव नमस्कार करते हैं, सौधर्म आदि सब इन्द्र तथा चक्रवर्ती पूजते हैं, जो श्रेष्ठ मोक्षमार्ग को प्रकाशित करनेवाली है, सर्वोत्तम है; अज्ञान-रूपी अन्धकार का नाश करनेवाले हैं, तीनों लोक जिसकी सेवा करता है, जो अंगों तथा पूर्वों में बँटी हुई है तथा स्वर्ग तथा मोक्ष की प्रदायक है; ऐसी सरस्वती देवी को मैं सम्यग्ज्ञान, विवेक तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए व आत्मा के कल्याणार्थ मस्तक झुका कर सदा नमस्कार

करता हूँ। हे जिनवाणी ! तू श्रेष्ठ माता है तथा मुनिगण तेरी स्तुति करते हैं, इसलिए मुझ पुत्र का हित करने के लिए तू कृपापूर्वक मुझे उत्तम ज्ञानामृत प्रदान कर। मंगल के लिए पाँचों परमेष्ठियों को, सब गणधरों को, सब कवियों को तथा सरस्वती देवी को नमस्कार करने के अनन्तर इस संसार में अपना एवं दूसरों का भला करने के लिए मैं अनन्त सुखमय श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर का पवित्र चरित्र संक्षेप में कहता हूँ ।५०। मैं बुद्धि से अत्यन्त हीन हूँ, इसलिए सिद्धान्त के अत्यन्त पारगामी आचार्यों ने जो कुछ पहिले कहा है, उसे कहने के लिए वास्तव में असमर्थ हूँ, तथापि उनके चरणकमलों को प्रणाम करने से जो कुछ पुण्य प्राप्त हुआ है, उसके प्रभाव से अपनी बुद्धि की शक्ति के अनुसार थोड़ा, किन्तु सारभूत कहूँगा। पहिले के विद्वान लोग ग्रन्थ के प्रारम्भ में वक्ता श्रोता एवं कथा के गुणों का वर्णन कर पीछे धर्म से विभूषित कथा को कहते थे। इसलिए इस परिपाटी के अनुसार ग्रन्थ की प्रामाणिकता प्रगट करने के लिए मैं भी इस जगह वक्ता के लक्षण, श्रोता के चिह्न तथा कथाओं के भेद कहता हूँ। जो विद्वान हों, सम्यक्चारित्र से विभूषित हों, प्रखर बुद्धि से चतुर हों, तपश्चरण से सुशोभित हों, सब जीवों का हित करने के लिए सदा तत्पर हों, अत्यन्त कृपालु हों, मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करनेवाले हों, जिन्हें वाणी का सौभाग्य प्राप्त हो, प्रश्नों की भरमार को सहन करनेवाले हों, लौकिक विज्ञानों के जानकार हों, अपनी प्रतिष्ठा-प्रसिद्धि आदि की इच्छा से रहित हों, लोभ-मद कषायों से रहित हों, कवित्व आदि गुणों से सुशोभित हों; जिनके वचन स्पष्ट हों, लोग जिन्हें मानते हों, पूजा करते हों तथा संसार में जिनकी सच्ची कीर्ति फैल रही हो; ऐसे समस्त श्रेष्ठ गुणों से पूर्ण जो आचार्य इस संसार में विद्यमान हैं, वे ही श्रेष्ठ धर्म की कथा कहने के योग्य समझे जाते हैं। अर्थात् ऊपर लिखे गुणों से सुशोभित आचार्य ही वक्ता गिने जाते हैं ॥६०॥ बुद्धिमान लोग वक्ता की प्रमाणता से ही वचन की प्रामाणिकता मानते हैं, इसलिए सबसे पहिले इस संसार में वक्ता के उत्तम गुण ही ढूंढ़ने चाहिये। जो चारित्र रहित तथा पुत्र-पौत्रादि सहित होकर भी धर्म का निरूपण करते हैं, उनके वचनों को लोग ग्रहण नहीं करते, क्योंकि वे स्वयं ही अपने आचरणों से रहित हैं (वे दूसरों को क्या उपदेश देंगे ?)-'जो यह श्रेष्ठ धर्म का स्वरूप जानता है तो फिर स्वयं उसका आचरण क्यों नहीं करता'-यही समझकर लोग उनके वचनों को कभी ग्रहण नहीं करते हैं। जो श्रुतज्ञान सहित हैं एवं अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार स्वयं धर्म का पालन करते हैं, उन लोगों के श्रेष्ठ वाक्यों के अनुसार उनके

ऐसे अन्य गुणी लोग ही धर्म को स्वीकार करते हैं । जो ज्ञानरहित हैं, परन्तु चरित्रवान हैं; यदि वे प्राणियों को धर्म का उपदेश देते हैं, तो उनके उपदेश की अल्पज्ञानी मूढ़ लोग हँसी उड़ाया करते हैं ।

इसलिए ज्ञान एवं चारित्र से उत्पन्न होनेवाले वक्ता के दो ही मुख्य गुण हैं, उन्हीं से लोग इस संसार में श्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया करते हैं । जिनके हृदय में विवेक विराजमान है तथा उसी के द्वारा जो 'यह व्याख्यान या शास्त्र योग्य है अथवा अयोग्य है'-इस प्रकार शीघ्रता के साथ विचार करते, उसमें से जो योग्य एवं श्रेष्ठ व्याख्यान है, उसे ग्रहण करते तथा जो असार है अथवा पहिले का ग्रहण किया हुआ है, उसे छोड़ देते, जो गुरु की भक्ति करने में तत्पर, किसी त्रुटि पर कभी हँसते नहीं; क्षमा, शौच आदि गुणों से सुशोभित, भगवान अरहन्त देव के कहे हुए वचन-रूपी अमृतों में सदा लीन रहते, व्रत एवं शील से शोभायमान अनेक तरह के उत्तम गुणों से तथा आर्जव आदि (मार्जव, सत्य, शौच, त्याग, भोग, ऐश्वर्य, गांभीर्य, स्थैर्य, धैर्य, सौभाग्य, तप, पूजा) से उत्पन्न होनेवाले अनेक गुणों से इस संसार में शोभायमान हैं, इत्यादि ऊपर कहे हुए अनेक गुण जिनमें विराजमान हैं, ऐसे पुरुष ही श्रेष्ठ धर्म-कथा को सुनने के लिए निपुण गिने जाते हैं; जिनमें ये गुण नहीं, वे शास्त्रों के सुनने के कभी अधिकारी नहीं है ॥७०॥

जो विचार करने में चतुर हैं, ऐसे श्रोता के सामने ही धर्म तथा संवेग को प्रकट करनेवाला गुरु का कहा हुआ व्याख्यान शोभा देता है । जिस प्रकार अन्धे के सामने नृत्य करना व्यर्थ है एवं बहिरे के सामने अच्छे गीत गाना व्यर्थ है, उसी प्रकार जो योग्य श्रोता नहीं है, उसके सामने मुनि का कहा हुआ व्याख्यान व्यर्थ हो जाता है । इसलिए सबसे पहिले ग्रन्थ के चतुर श्रोता का सन्धान करना चाहिए; क्योंकि अच्छे श्रोताओं से ही इस संसार में ग्रन्थ की अच्छी प्रतिष्ठा होती है अब धर्म कथा का स्वरूप बतलाते हैं । जिनमें जीव-अजीव आदि सातों तत्वों का निरूपण किया गया हो, जिसमें उत्तम पुरुषों के शरीर, संसार तथा भोगों से वैराग्य प्रगट करनेवाले अनेक कारण बतलाये गए हों, जिसमें उत्तम दान-तप-शील-व्रत आदि कहे गए हों, बन्ध-मोक्ष का लक्षण, उनके कारण एवं फल बतलाये गए हों, जिसमें सब जीवों को अभयदान देनेवाली प्राणियों की दया प्रगटाई गयी हो, जिस कथा में अठारह हजार शीलों से सुशोभित मुनियों के मोक्ष की प्राप्ति बतलाई गए हों, जिसमें इस संसार में उत्पन्न होनेवाले प्राणियों के धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष--चारों पुरुषार्थ बतलाये गए हों तथा चारों गतियों में होनेवाले जीवों के पुण्य-पाप के

फल बतलाये गए हों जिसमें तीर्थंकर के पुण्य से उत्पन्न होनेवाली तथा इन्द्र के द्वारा रचना की हुई तथा संसार को चकित करनेवाली श्रीअरहन्तदेव की महिमा इस संसार में प्रगट की गई हो, जिसमें पुण्य से प्रगट होनेवाले तथा समर्थशाली बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण, कामदेव और चक्रवर्तियों के गुण निरूपण किये गए हों, जिसमें अनेक मुनीश्वर सब तरह के परिग्रहों का त्याग कर तथा अनेक तरह के उपसर्ग और परिषहों को सहन कर मोक्ष प्राप्त करते हैं, जिसमें स्वर्ग-नरक की रचना हो रही है; ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक से जिसके तीन भेद हैं एवं जो द्रव्य से परिपूर्ण है, ऐसे चराचर समस्त जगत् (लोक) का वर्णन हो, जिसमें मुनियों का श्रेष्ठ आचरण निरूपण किया गया हो तथा गृहस्थों की पुण्य-वृद्धि करानेवाले श्रावकाचार का वर्णन किया गया हो तथा संसार में जितने शुभ या अशुभ पदार्थ विद्वानों के द्वारा कहे गए हैं, जो कि अनेक गुणों से विराजमान तथा सत्यार्थ हैं, उन सब का वर्णन जिसमें हो, उसको धर्म-कथा कहते हैं ॥८०॥ जिससे मनुष्यों का राग नष्ट हो जाए एवं संवेग (संसार से डर या वैराग्य) बढ़ जाए, ऐसी धर्म-कथा ही संसार में धर्मात्मा पुरुषों को सुननी चाहिए। जिस कथा के सुनने से अशुभ-कर्मों का संवर तथा निर्जरा हो तथा पुण्य-कर्मों का आस्रव हो, ऐसी कथा ही लोगों को सुननी चाहिये। जिससे जीवादिक तत्वों का, पुण्य-पाप, का हित-अहित का, हेय (त्यागने योग्य)-उपादेय (ग्रहण करने योग्य) का तथा मोक्ष का ज्ञान हो, ऐसी कथा ही बुद्धिमानों को सुननी चाहिए। जो कथा श्रीजिनेन्द्रदेव की कही हुई हो तथा ईर्ष्या या राग-द्वेष रहित मुनियों के द्वारा कही गई हो, ऐसी सब तरह की धर्म-कथायें धर्म की वृद्धि के लिए सुननी चाहिए। जिनमें श्रृंगार आदि रसों का वर्णन हो, ऐसी अन्य कथायें कभी नहीं सुनना चाहिए; क्योंकि ऐसी कथायें, खोटे मार्ग में चलनेवाले धूर्त लोगों ने, संसार में लोगों को ठगने के लिए बनाई हैं ॥९०॥ जिससे राग की वृद्धि हो तथा वैराग्य नष्ट हो जाता हो, ऐसी कथा अपनी आत्मा का कल्याण चाहनेवाले लोगों को प्राणों का नाश होने पर भी कभी नहीं सुननी चाहिए। जिस कथा के द्वारा हिंसा-युद्ध आदि का वर्णन किया जाता हो, ऐसी राज्य-कथा, भोजन-कथा, स्त्री-कथा, चोर-कथा, आदि विकथा बुद्धिमानों को कभी नहीं सुननी चाहिए; क्योंकि ऐसी कथाओं के सुनने से पाप कर्मों का ही आस्रव होता है। जिन कथाओं के सुनने के चित्त मे विकार उत्पन्न करनेवाला क्षोभ प्रगट हो तथा आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान उत्पन्न हों, ऐसी कथायें भी बुद्धिमानों को नहीं सुननी चाहिए। जो कथायें मिथ्या

हों तथा जिनमें शील, दान, पूजा, आदि का वर्णन न हो, उसको सज्जन लोग 'मिथ्या कथायें' कहते हैं; क्योंकि ऐसी कथायें सिद्धान्त के विरुद्ध ही होती हैं । ऐसी-ऐसी सब तरह की कु-कुथायें बुद्धिमानों को छोड़ देनी चाहिए तथा स्वर्ग-मोक्ष के सुख देनेवाली धर्म-कथा भक्ति पूर्वक सुननी चाहिए । विद्वान लोगों को जन्म-मरण तथा बुढ़ापा की पीड़ा को नष्ट करने के लिए कानों की अन्जलि-रूपी पात्रों के द्वारा सदा श्रेष्ठ-कथा-रूपी अमृत पीते रहना चाहिए । इस संसार में ऐसे अनेक वक्ता मुनीश्वर विद्यमान हैं, जो उत्तम गुणों से सुशोभित हैं, धर्म-कथा तथा सर्वोत्तम मोक्षमार्ग का निरूपण करनेवाले हैं, पुण्यवान् हैं, रत्नत्रय से परिपूर्ण हैं, जिनके संवेग आदि गुण बढ़े हुए हैं, अनेक विद्वान लोग जिनकी स्तुति करते हैं तथा समस्त संसार जिनको नमस्कार करता है तथा तीनों लोक जिनकी पूजा करते हैं, ऐसे वक्ता मुनिराज मेरे कल्याणकर्ता हों । इस संसार में अनेक श्रोता भी विद्यमान हैं-जो गुणी हैं, सम्यग्ज्ञानी हैं, मोहरहित हैं, संवेग (धर्मानुराग) आदि गुणों से सुशोभित हैं; राग-द्वेष आदि दोषों के समूह से रहित हैं, सार-असार आदि के विचार में चतुर हैं; वक्ताओं की कही हुई कथाओं को सुनना चाहते हैं, गुणी हैं, विवेकी हैं और अत्यन्त निर्मल हैं--ऐसे श्रोता इस संसार में धन्य कहलाते हैं । जो श्री शान्तिनाथ के जन्म को सूचित करनेवाली है, संवेग तथा धर्म को बढ़ानेवाली है, सारभूत है, श्रेष्ठ गुणों से सुशोभित है, बुद्धिमान लोग भी जिसको मानते हैं, जिससे हिताहित का ज्ञान होता है, जो शील से शोभायमान है, गुरु की भक्ति के भार से रची हुई है, जीवों के पुण्य को बढ़ानेवाली है तथा श्री अरहन्तदेव के मुख से उत्पन्न हुई है, ऐसी श्रेष्ठ कथा को मैं मोक्ष प्राप्त करने के लिए कहूँगा । देव, विद्याधर आदि सभी जिनकी सेवा करते हैं, जो समस्त तत्वों को प्रगट करने के लिए दीपक के समान हैं, सब दोषों से रहित हैं, धर्म तीर्थ के स्वामी, समस्त गुणों के सागर तथा सब लोग जिनकी पूजा करते हैं, ऐसे श्री शान्तिनाथ की मैं समस्त निर्मल कीर्ति कह कर स्तुति करता हूँ ॥१००॥

दूसरा अधिकार

तीनों लोक जिन्हें नमस्कार करता है, ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान के चरणकमलों को नमस्कार कर मैं केवल कर्मों का नाश करने के लिए उन श्री शान्तिनाथ भगवान की कथा कहता हूँ । इस मध्यलोक

में जम्बूद्वीप प्रसिद्ध है, जो कि एक लाख योजन चौड़ा है, गोल है तथा लवण-समुद्र से घिरा हुआ है। वह जम्बूद्वीप सुमेरु पर्वत-रूपी मुकुट से उन्नत हो रहा है, नदी-रूपी हारों से सुशोभित है, चैत्य-रूपी कुण्डल और जिनालय-रूपी कंकण पहने हुए है। कुल पर्वत ही उसके भुजदण्ड हैं, सुन्दर वेदी ही कटिमेखला या करधनी है, वन ही वस्त्र हैं तथा चूलिका ही तिलक को शोभा दे रही है बावड़ियाँ ही उसकी नाभि है, भोगभूमि आदि की भोग सामग्री ही उसकी भोगोपभोग की सामग्री है, सरोवर ही उसका मुख है तथा अनेक द्वीपों में होनेवाले धन, धान्यादिक से वह धनी हो रहा है। उसमें रहनेवाले देव एवं विद्याधर ही उसकी सेना हैं, रूपाचल या विजयार्द्ध पर्वत ही उसके नूपुर हैं तथा उसमें रहनेवाला चार प्रकार का संघ ही उसके परिवार की शोभा बढ़ा रहा है। इस प्रकार महा यशस्वी तथा समस्त गुणों का एकमात्र स्थान ऐसा वह जम्बूद्वीप इस संसार में समस्त द्वीपरूपी राजाओं के मध्य में चक्रवर्ती के समान शोभा दे रहा है। उस जम्बूद्वीप के मध्य भाग में एक लाख योजन ऊँचा सुदर्शन नाम का प्रसिद्ध महामेरु पर्वत शोभायमान है। वह मेरु पर्वत चूलिका-रूपी मुकुट से उन्नत है, जिन-प्रतिमा-रूपी कुण्डल से शोभायमान है; भगवान तीर्थंकर के जन्माभिषेक से वह अभिषिक्त है, देवों से सुशोभित है, जिनालय ही उसके उत्तम हार हैं, वन-रूपी वस्त्रों से वह मनोहर जान पड़ता है, वेदिका-रूपी करधनी पहने हुए है तथा बावड़ी-रूपी नाभि से वह सुन्दर मालूम होता है। पीठिका ही उसके पैर है, कूट-रूपी हाथों से वह सुशोभित है, उस पर आनेवाले विद्याधर ही उसकी भारी सेना हैं तथा चारण मुनियों से वह शोभायमान है। अनेक अप्सराएँ उसकी सेवा करती हैं, तीर्थंकर के स्नान का वह स्थान है, उस पर सदा नृत्य-गीत होते रहते हैं तथा सुर-असुर सब के लिए वह दर्शनीय है। वह अत्यन्त सुन्दर है, मनोहर है, सुन्दर आकृतिवाला है, सब में श्रेष्ठ है, अतः सब लोग उसकी आराधना करते हैं तथा अनेक कुतूहलों से वह भरा हुआ है। जिस प्रकार सब इन्द्रों में सौधर्म इन्द्र शोभायमान होता है, उसी प्रकार सब पर्वतों में वह सुदर्शन नाम का श्रेष्ठ पर्वत शोभायमान है ॥१०॥ उसी मेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में भरत नाम का क्षेत्र है, जो कि धर्म की खान है एवं छः खण्डों से शोभायमान है। वह भरत-क्षेत्र शुभ कार्यों का स्थान है तथा पाँच सौ छब्बीस योजन छः कला (५२६ योजन ६ कला) चौड़ा है। जिस भरत-क्षेत्र में अनेक मुनि दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करते हैं, उस स्वर्ग मोक्ष के सुख का कारण भरत-क्षेत्र का वर्णन भला कौन कर सकता है ?

जिन्हें सब संघ नमस्कार करता है तथा तीनों लोक जिनकी सेवा करते हैं, ऐसे लोक-अलोक सबको जाननेवाले तीर्थंकर इसी भरत-क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं । केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही देव लोग भी उस भरत-क्षेत्र के उत्तम कुलों में उत्पन्न होने की इच्छा रखते हैं । उस भरत-क्षेत्र में सब जीवों को सुख देनेवाला मुनि एवं श्रावकों का धर्म प्रवर्तमान रहता है, जो कि स्वर्ग में भी दुर्लभ है ॥२०॥ उस भरत-क्षेत्र में ऊँचे-ऊँचे शिखरोंवाले दण्ड एवं ध्वजाओं से शोभायमान धर्म की खान के समान ऊँचे-ऊँचे जिनायल विद्यमान हैं । उस भरत-क्षेत्र में स्थान-स्थान पर निर्वाण भूमियाँ शोभायमान हैं, जो कि पवित्र हैं, मुनि लोग जिनकी सेवा करते हैं तथा जो धर्म की खान के समान जान पड़ती हैं । वहाँ पर धर्मोपदेश देने के लिए अनेक मुनि विहार किया करते हैं, जो कि सज्जनों को अपनी-अपनी इच्छानुसार फल देनेवाले हैं तथा ऐसे जान पड़ते हैं मानो चलते-फिरते कल्पवृक्ष हों । वहाँ पर लोगों को अनेक केवलज्ञानियों के भी दर्शन होते रहते हैं, जो कि चारों प्रकार के संघ सहित विराजमान हैं तथा जीवों के सब तरह के सन्देह दूर करनेवाले हैं । वहाँ पर नगर, खानें, पत्तन, गाँव, द्रोणमुख तथा द्वीप आदि बड़े शोभायमान हैं, जो सब धर्म के स्थान समान जान पड़ते हैं । उस भरतक्षेत्र से श्रावक लोग दान, पूजा, तप, व्रत, संयम आदि पालन कर स्वर्ग प्राप्त करते हैं, तब भला उस भरतक्षेत्र का वर्णन कैसे किया जा सकता है ? उस भरतक्षेत्र से अनेक मुनीश्वर तपश्चरण कर स्वर्ग जाते हैं एवं अनेक मुनिराज समस्त कर्मों का नाश कर मोक्ष जाते हैं । वह भरतक्षेत्र ऊपर कहे हुए अनेक गुणों से परिपूर्ण है, अनेक आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली वस्तुओं से सुशोभित है, बहुत-सी प्रशंसा योग्य वस्तुओं से भरा हुआ है तथा उसका आकार भी शुभ है । उस भरतक्षेत्र के मध्य भाग में उच्च तथा विराट विजयार्द्ध पर्वत शोभायमान है, जो कि शुक्लध्यान के पुन्ज के समान (सफेद) जान पड़ता है । वह विजयार्द्ध पर्वत पच्चीस योजन ऊँचा है, पचास योजन चौड़ा है एवं ऊँचाई का चौथाई अर्थात् सवा छः योजन भूमि के भीतर है ॥३०॥ उसी विजयार्द्ध पर्वत में पचास योजन लम्बी, आठ योजन चौड़ी दो गुफाएँ हैं, जिनमें द्वार आदि सब लगे हुए हैं । उस विजयार्द्ध पर्वत पर भूमि से दश योजन ऊँचे बढ़ कर उत्तर-दक्षिण दोनों दिशाओं की ओर दो श्रेणियाँ हैं । वे दोनों श्रेणियाँ दश-दश योजन चौड़ी हैं तथा इस समुद्र से उस समुद्र तक लम्बी हैं । उन श्रेणियों में से दक्षिण श्रेणी में पचास नगर बसे हुए हैं तथा उत्तर श्रेणी में साठ नगर बसे हुए हैं। उन नगरों में से प्रत्येक नगर से एक-एक करोड़ गाँव लगे हुए

हैं, जो कि धन-धान्य आदि से भरपूर हैं एवं जो न कभी उत्पन्न होते हैं एवं न नष्ट होते हैं। इन श्रेणियों में दश योजन ऊँचे चलकर पहिले के समान ही उत्तर-दक्षिण की ओर दो अन्य श्रेणियाँ हैं, जिन पर व्यन्तरों के नगर बसे हुए हैं। फिर पाँच योजन ऊँचे चल कर नौ कूट सब एक-से बने हैं, जो कि अधोभाग के समान ऊँचे हैं। उन में से पूर्व कूट के ऊपर भगवान अरहन्तदेव का अकृत्रिम जिनालय है, जो कि अनेक तरह के रत्नों से जड़ा हुआ है तथा अत्यन्त मनोहारी है। वह दिव्य जिनालय सुवर्णमय है तथा रत्नों के बने हुए श्रृंगार, कलश आदि उपकरणों से धर्म की खान के समान शोभायमान है। वहाँ पर सब देव पूजा की सामग्री लेकर भगवान की पूजा करने के लिए आते हैं एवं फिर आनन्द में डूब कर पुष्प-वृष्टि करते हैं ॥४०॥ वहाँ पर अनेक विद्याधर प्रतिदिन विमानों में बैठ कर जय-जय शब्द करते हुए श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने के लिए आते हैं। इसी प्रकार गीत गाती हुई तथा नृत्य करती हुई विद्याधारियाँ भी उस जिनालय में भगवान की पूजा करने के लिए आती हैं एवं देवांगनाओं के समान शोभा पाती हैं।

उस चैत्यालय में कितनी ही देवांगनायें नृत्य करती हैं, कितनी ही भगवान की पूजा करती हैं तथा आनन्द के प्रगाढ़ रस में मग्न हुई कितनी ही विद्याधारियाँ वाद्ययंत्र बजाती हैं। कितनी ही विद्याधारियाँ बड़े उत्सव के साथ भगवान श्री जिनेन्द्रदेव का अभिषेक करती हैं तथा कितनी ही विद्याधारियाँ भगवान का दर्शन करती हैं। इस प्रकार देव-देवियों से तथा विद्याधर-विद्याधारियों से भरा हुआ तथा गम्भीर शब्दों से भरपूर वह चैत्यालय धर्म-रूपी महासागर के समान जान पड़ता है। कितने ही लोग वहाँ पूजा करने के लिए आते एवं कितने ही पूजा करके वहाँ से बाहर निकलते हैं; इस प्रकार वह चैत्यालय समवसरण के समान शोभा देता है, फिर भला उसका वर्णन कौन कर सकता है ? इस प्रकार अकृत्रिम चैत्यालय से सुशोभित एवं वन-वेदी सहित वह 'सिद्धकूट' नाम का कूट विजयार्द्ध पर्वत पर प्रसिद्ध है। उस कूट के सिवाय बाकी के जो आठ कूट हैं, उन पर वेदी, वन तथा बावड़ियों से सुशोभित देवों के नगर बने हुए है। इस प्रकार भरतक्षेत्र का विभक्त करनेवाला वह विजयार्द्ध पर्वत भरतक्षेत्र के बीच में शोभायमान है, जो कि कुन्द के फूल या चन्द्रमा अथवा शंख के समान सफेद वर्ण का है तथा ऐसा जान पड़ता है, मानो यश की राशि ही हो। वहाँ पर बादलों से होनेवाली वृष्टि सदा सफल ही होती है तथा ऐसी जान पड़ती

श्री शांतिनाथ पुराण

है, मानो मेरु पर्वत पर श्रेष्ठ जल से भरपूर भगवान के अभिषेक की धारा ही हो ॥५०॥ उस विजयार्द्ध पर्वत पर न तो कभी दुर्भिक्ष होता है तथा न कोई भय होता है । वहाँ पर सदा धर्म से सुशोभित चौथा काल ही बना रहता है । वहाँ की प्रजा तीन वर्णों में बँटी हुई है, वहाँ पर ब्राह्मण वर्ण नहीं है । वहाँ की प्रजा बड़ी भारी विभूति से भरपूर रहती है तथा सदा जैन-धर्म में लीन रहती है । वहाँ पर व्रती-तपस्वी, चारित्र से सुशोभित एवं ज्ञानी, धीर-वीर बहुत-से मुनि विहार करते रहते हैं, वहाँ पर मिथ्यादृष्टि जीव सर्वथा नहीं है । वहाँ पर ऊँचे तथा अनेक तरह की शोभा से सुशोभित तीर्थंकरों के बहुत से जिनालय शोभायमान हैं, वहाँ अन्य देवों के मंदिर कहीं पर दिखाई नहीं पड़ते । उस विजयार्द्ध पर्वत पर श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा वर्णित सनातन अहिंसा-धर्म की ही प्रवृत्ति सदा बनी रहती है, वहाँ पर वेद आदि में कहे हुऐ धर्म की प्रवृत्ति कहीं दिखाई नहीं देती । वहाँ के समस्त मुनि एवं सब गृहस्थ श्री जिनेन्द्रदेव की कही हुई जिनवाणी का ही सदा पाठ करते हैं, अन्य मतों की कही हुई वाणीं वहाँ पर कोई पढ़ता-सुनता तक नहीं । वहाँ के वनों में अनेक तरह के फूल खिलते हैं एवं पुण्यवान मनुष्यों के लिए भोगोपभोग की सामग्री वहाँ स्थान-स्थान पर विद्यमान हैं । वहाँ के मनोहर वनों में विद्याधारियाँ अपने पतियों सहित सदा क्रीड़ा करती रहती हैं, फिर भला उस पर्वत का क्या वर्णन करना चाहिए ? वहाँ की बावड़ी कमल-रूपी निर्मल मुखों से सदा हँसती हैं एवं स्त्रियों के समान लहरें-रूपी भुजाओं को उठा-उठा कर कर बहुत अच्छा नृत्य करती रहती हैं । जिस विजयार्द्ध पर्वत पर देव लोग भी अपनी देवांगनाओं के साथ स्वर्गों से आ-आ कर क्रीड़ा करते हैं, उसकी उत्कृष्ट शोभा का भला क्या वर्णन करना चाहिए? ॥६०॥ उसी विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर चक्रवाल नाम की एक प्रसिद्ध नगरी है । उस नगरी के चारों ओर रत्नों का कोट हैं, वह नगरी नित्य है, कभी नष्ट नहीं होती, बड़ी मनोहर है एवं मणिमय वेदिका से जम्बूद्वीप की दूसरी पृथ्वी के समान सुन्दर जान पड़ती है । उसके चारों ओर अत्यन्त शीतल तथा गम्भीर (गहरी) खाई शोभायमान है, जो कि सदा बनी रहती है एवं दूर से समुद्र के समान जान पड़ती है । जिस प्रकार प्रमाण एवं नय के समूहों से जिनवाणी सुशोभित होती है, उसी प्रकार वह नगरी भी मणियों से जड़े हुए ऊँचे-ऊचे बाहरी दरवाजों से सुशोभित है । उस नगरी के मध्य में भगवान श्री जिनेन्द्रदेव के ऊँचे चैत्यालय विराजमान हैं, जो कि कोई तो सुवर्णमय हैं तथा कोई रत्नों की किरणों से भरपूर हो रहे हैं । वे जिन-मन्दिर बहुत

श्री शांतिनाथ पुराण

ही ऊँचे हैं, धूप-गन्ध से भरपूर हैं, पुष्प-वृष्टि से अत्यन्त दुर्गम हो रहे हैं तथा गीत, नृत्य बड़े-बड़े तुरई आदि बाजे के तथा जय-जय शब्दों से गुंजायमान हो रहे हैं । वह नगरी जिनालय के शिखरों पर फहराती हुई ध्वजा-रूपी उत्तम हाथों के द्वारा धर्म करने के लिए ही मानो पुण्यवान इन्द्रों को भी स्वर्ग से बुला रही है । उस नगरी में चतुर लोग अपने कल्याण के लिए विवाह आदि उत्सवों में श्रीजिन-मन्दिर में जाकर शान्ति प्रदाता भगवान श्री अरहन्तदेव की बड़ी पूजा करते हैं । वहाँ के मनुष्यों पर थोड़ा-सा भी दुःख आ पड़ने पर उसके निवारण के लिए जिनालय में जाकर दुःख एवं सन्ताप को दूर करनेवाले तथा पुण्य बढ़ानेवाले भगवान की महापूजा करते हैं । कितनी ही सुन्दर स्त्रियाँ पूजा की सामग्री लेकर मन्दिर में चलती हुई ऐसी शोभायमान होती हैं, मानो देवियाँ ही चल रही हों ॥७०॥ सुन्दर मुखवाली कितनी विद्याधारियाँ पूजा को समाप्त कर निकलती हुई देवांगनाओं के समान बहुत अच्छी जान पड़ती हैं । रूप, लावण्य एवं आभूषणों से सजी हुई कितनी ही स्त्रियाँ विमानों में बैठकर जिनालय में जाती हुई देवांगनाओं के समान बहुत ही मनोज्ञ प्रतीत होती हैं । कितनी ही विद्याधारियाँ अकृत्रिम चैत्यालय में पूजा कर बड़ी विभूति के साथ लौटती हुई देवांगनाओं के समान जान पड़ती हैं । उस नगरी में विद्याधर लोग प्रातःकाल उठकर प्रतिदिन अपने-आप सामायिक आदि धर्म-ध्यान का पालन करते हैं । दोपहर के समय उदार त्यागी मनुष्य भगवान की पूजा कर दान देने के लिए द्वारापेक्षण करते है। । दानी बड़े आनन्द में मग्न होकर पुण्य बढ़ाने के लिए उत्तम पात्रों को छहों रसों से परिपूर्ण तथा प्रासुक उत्तम आहार-दान देते हैं । कितने ही दानियों के महादान देने से पन्चाश्चर्य प्रगट होते हैं जो कि दाता, पत्र आदि के संयोग से आगे के लिए भी उत्तम फलों के सूचक होते हैं । कितने ही धर्मात्मा दानी उत्तम पात्र का संयोग न मिलने से खेद का अनुभव करते हैं तथा कितने ही दानी सत्पात्रों के मिल जाने से (उन्हें दान देकर) सन्तुष्ट होते हैं ।

इसी प्रकार सन्ध्या आदि समय में भी सज्जन लोग धर्मध्यान करते हैं, कायोत्सर्ग करते हैं तथा भगवान श्री अरहन्तदेव की स्तुति करते हैं । उस नगरी में पूर्व पुण्य के उदय से पुण्यवान लोग दान, पूजा, व्रत करते हुए बड़े सुख से निवास करते हैं ॥८०॥ सम्यग्दृष्टि लोग पहिले भव में स्वर्ग में अच्छे-अच्छे पुण्य सम्पादन कर उस नगरी में उत्तम पूज्य कुल में तथा अच्छे घर में आकर जन्म लेते हैं । उस नगरी में जन्म लेकर कितने ही लोग दुष्कर चारित्र को धारण कर तथा उग्र तपश्चरण के बल से कर्मों का नाश कर मोक्ष को

श्री शांतिनाथ पुराण

जाते हैं तथा कितने ही लोग संयम धारण कर, कितने ही श्री अरहन्तदेव की पूजा कर तथा कितने ही लोग दान देकर सुख की खान ऐसे स्वर्ग में जाकर उत्पन्न होते हैं । उस नगरी में रहनेवाले सद्गृहस्थ लोग श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा वर्णित हिंसा आदि पापों से रहित धर्म को ही सदा एवं सब प्रकार से पालन करते हैं, अन्य धर्म का वे पालन भी नहीं करते । जिस प्रकार स्वयम्वर रचानेवाली कन्या वर के पास अपने-आप आ जाती है, उसी प्रकार धर्म के प्रताप से लोक में भरी हुई सुख प्रदायक लक्ष्मी भी उन धर्मात्माओं के पास अपने-आप आ जाती है । उस लक्ष्मी से वहाँ पर रहनेवाले विद्याधर को उनके पुण्य से उत्पन्न हुई भोगोपभोगों की अपार सामग्री प्राप्त होती है । उस लक्ष्मी से वहाँ पर रहनेवाले विद्याधर को उनके पुण्य से उत्पन्न हुई भोगोपभोग की अपार सामग्री प्राप्त होती है । वहाँ के रहनेवाले चतुर लोग अपने सफेद बालों को देखकर भोगों को छोड़ देते हैं तथा वैराग्य तपश्चरण धारण कर सम्यक्चारित्र के प्रभाव से वे धीर-वीर मोक्ष प्राप्त करते हैं । इस प्रकार उस नगरी में पुण्यवान सज्जनों को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-चारों ही पुरुषार्थों के महाफल प्राप्त होते हैं तथा बढ़ते रहते हैं । अत्यन्त शुभ सम्पदाओं से भरी नगरी प्रतिदिन ऐसी जान पड़ती थी, मानो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष--इन चारों पुरुषार्थों की खान ही हो । जिस प्रकार महान विभूतियों से भरे हुए स्वर्ग में देवालय (देवों के विमान) शोभित होते हैं, उसी प्रकार पुरुष तथा स्त्रियों से भरे हुए उस नगरी के ऊँचे-ऊँचे घर शोभायमान होते हैं ॥९०॥ उस नगरी के बाहर सब ऋतुओं की छटा से भरे हुए तथा कुएँ, बावड़ी तथा तालाबों से सुशोभित तथा नेत्रों को सुख देनेवाले वन-उपवन शोभायमान हैं । उन में से अपेक्षाकृत निर्जन वनों में कितने ही धीर-वीर योगी एवं मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिए पर्यंकासन से विराजमान होकर ध्यान करते हैं । कितने ही मुनिराज शरीर से ममत्व छोड़ कर पर्वत के समान निश्चल होकर कायोत्सर्ग धारण कर आत्म-ध्यान करते हैं । किसी वन में कितने ही मुनि केवल कर्मों को नष्ट करने के लिए एकाग्र-चित्त होकर लोक-अलोक को प्रकाशित करनेवाले सिद्धान्त-शास्त्रों का पठन-पाठन करते हैं । वह नगरी शीत-उष्ण आदि उपसर्गों से रहित है, सुन्दर है तथा ध्यान को बढ़ानेवाली है, इसलिए ध्यान की सिद्धि के लिए मुनि लोग उसे कभी नहीं त्यागते हैं । इस प्रकार वह नगरी अनेकानेक अनुपम गुणों से भरपूर है । उस नगरी का स्वामी पुण्यवान तथा सम्पूर्ण गुणों का एकमात्र भंडार ज्वलनजटी नाम का विद्याधर था । वह विद्याधर बड़ी भारी विभूति का स्वामी था, अनेक विद्याधर उसे

नमस्कार करते थे, अनेक नारियों का समूह उसकी सेवा करता था तथा वह बड़ी भारी सेना का अधिपति था। भगवान श्री जिनेन्द्रदेव की महापूजा तथा महाभिषेक करने में वह सदा तत्पर रहता था। वह बहुत ही धीर-वीर, उदार तथा सुन्दर था। वह सम्यग्दर्शन से सुशोभित था, सदा पुण्य कार्यों में तत्पर रहता था, जिन-धर्म में लीन था, दानी था तथा जिन-धर्म से अत्यधिक प्रेम रखता था। उसका मस्तक बहुत बड़े मुकुट से शोभायमान था, उसके गले में सुन्दर हार था, वह दिव्य वस्त्र पहिने था, उसके दोनों हाथ कंकणों से शोभायमान थे। वह अत्यन्त पुण्यवान तथा बहुत ही सुन्दर था ॥१००॥ उसका कंठ दिव्य वाणी से शोभायमान था एवं शरीर अनुपम शोभा से अलंकृत था, अपने शरीर की कान्ति से वह कामदेव को भी जीतता था तथा दूसरों के नेत्रों को वह बहुत ही आनन्द प्रदान करनेवाला था। वह विद्याधर राजा पूर्व-भव में उपार्जन किए हुए पुण्य-कर्म के उदय से विद्याधर आदि विभूतियों के द्वारा चक्रवर्ती के समान शोभायमान था। धर्म से अर्थ की प्राप्ति होती है तथा अर्थ से राज्य-सुखजनित काम की प्राप्ति होती है; यही समझकर वह राजा निरन्तर एकमात्र धर्म का ही सेवन करता था। वह राजा इस लोक तथा परलोक का कल्याण करने के लिए अपना चित्त धर्म में लगाता था। अपने वचन का उपभोग धर्म के गुण वर्णन करने में करता था एवं अपना शरीर सदा धर्म की सेवा में लगाता था। वह राजा सब गुणों की खान मुनियों को दान देता था अन्य सब तरह के कल्याण करनेवाले श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करता था। धर्म के प्रभाव से उसके घर में राज्य के सब अंगों को विकसित करनेवाली तथा सब तरह के मनोवांछित सुख देनेवाली लक्ष्मी सदा दासी के समान निवास करती थी। संसार में जो कुछ भी सारभूत धर्म था, वह सब उस धर्म-परायण राजा के यहाँ उसके पुण्य-कर्म के उदय से स्वयं उपलब्ध था। समस्त भोगोपभोगों को देनेवाली एवं राज्य को प्रचालित करनेवाली बहुत-सी विद्याएँ उसके शुभ योगों से अपने-आप उसे सिद्ध हो जाती थीं। इस प्रकार समस्त शत्रुओं को जीतनेवाला वह राजा सद्धर्म में लीन होकर तथा सब तरह के बैर-भाव त्याग कर शुभ कर्मों के उदय से न्याय-मार्ग से राज्य करता था। अथानन्तर दिव्य-तिलक नामक नगर में चन्द्राभ नाम का एक राजा राज्य करता था, अनेक लक्षणों से सुशोभित सुभद्रा नाम की उसकी रानी थी ॥११०॥ उन दोनों के वायुवेगा नाम की एक कन्या थी, जो अनेक लक्षणों से सुशोभित रूप-लावण्य-आभूषण आदि से कामियों के चित्त को क्षोभित करनेवाली थी। वायुवेगा ने अपने

श्री शांतिनाथ पुराण

पुण्य-कर्म के उदय से सिद्ध अपनी वेग-विद्या से बहुत से विद्याधर राजाओं को बड़ी शीघ्रता के साथ जीत लिया था। परन्तु विद्याधर राजा ज्वलजटी ने अपने विद्याबल से वायुवेगा पर विजय प्राप्त कर ली तथा उसके साथ उत्सवपूर्वक विवाह भी कर लिया था। धर्म-कार्यों में आसक्त वह राजा केवल सन्तान प्राप्ति की इच्छा से ही यथा समय उसके साथ काम-सेवन करता रहता था। वायुवेगा रानी सती, रूपवती तथा लावण्यमयी थी। वह आभूषणों से सुशोभित रहती एवं पूजा, दान, व्रत आदि धर्म-कार्य अपने पति के समान ही करती थी। जब उसका पति भगवान की पूजा करता, तब वह भी पूजा करती; जब वह दान देता, तब वह भी दान करती; जब वह प्रोषध एवं शील व्रतों का पालन करता, तब वह भी उन्हें पालन करती थी। इस प्रकार वह सब प्रकार के धर्म-कार्य पति के साथ ही करती थी। वायुवेगा भोजन, शयन एवं भोग आदि समस्त कार्य पति के साथ ही करती थी; इसलिए लोग उसे 'पतिव्रता' एवं 'सती' कहते थे। राजा ज्वलनजटी भी भोगोपभोग आदि सब कार्य वायुवेगा के साथ करता था। वह स्वप्न में भी कभी अन्य स्त्री की इच्छा नहीं करता था। जिस प्रकार सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र से धर्म की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार उन दोनों के धर्म-सेवन के प्रभाव से अर्ककीर्त्ति नाम का पुत्र हुआ, जो कि अपनी कीर्ति एवं प्रभाव से सब दिशाओं को प्रकाशित करता था।

जिस प्रकार चन्द्रमा के साथ कान्ति अथवा किरणावली होती है तथा पुण्य व पराक्रम से लक्ष्मी उत्पन्न होती हैं; उसी प्रकार उन दोनों के अर्ककीर्ति के साथ ही नेत्रों को सुख प्रदायक स्वयंप्रभा नाम की पुत्री उत्पन्न हुई थी। जिस प्रकार चन्द्रकला अनुक्रम से बढ़ती है, उसी प्रकार वह भी अनुक्रम से श्रेष्ठ यौवन अवस्था को प्राप्त हुई थी; रूप, लावण्य एवं आभूषण आदि से वह सुशोभित थी। उसकी सुन्दरता को देखकर रानियों को क्षोभ उत्पन्न होता था ॥१२०॥ अथानन्तर किसी एक दिन वह राजा ज्वलनजटी अनेक विद्याधरों के मध्य सभा में विराजमान था। उसी क्षण वन के माली ने आकर राजा को नमस्कार किया तथा निवेदन किया-'हे देव ! आप के पुण्योदय से मनोहर नाम के वन में जगन्नन्दन एवं अभिनन्दन नाम के दो चारण मुनि पधारे हैं।' वह राजा उस वनमाली के वचन सुनकर आनन्द-सागर में डूब गया तथा सिंहासन के उतर कर सात पैंड़ सामने चलकर, देवों के द्वारा भी नमस्कार योग्य उन दोनों चारण मुनियों के चरणकमलों को परोक्ष में हृदय में धारण कर केवल पुण्य-सम्पादन के लिए उसने वन की दिशा की

ओर अपने शरीर के उत्तम भाग से अर्थात् मस्तक झुका कर नमस्कार किया । तदनन्तर धर्म में रुचि रखनेवाले उस राजा ने आनन्द भेरी बजवाई । अनेक भव्य-जीवों को तथा अन्तःपुर (रनिवास) की रानियों को तथा पुत्रों को साथ लेकर वह मुनियों के दर्शन करने के लिए चला । उसके साथ में चतुरंगिणी सेना भी थी, पूजा की सामग्री थी तथा सब तरह की विभूति थी । वह केवल धर्म-श्रवण करने के लिए उन दोनों मुनिराजों के समीप बड़ी शीघ्रता के साथ पहुँचा । राजा ने अपने दोनों हाथ मस्तक पर रखकर दोनों मुनियों के चरणकमलों में नमस्कार किया तथा भक्तिपूर्वक पूजा की सामग्री द्वारा अनेक प्रकार से उनकी पूजा की । फिर बड़े आनन्द के साथ उनके गुणों को प्रगट करनेवाली स्तुति प्रारम्भ की-'हे देव ! आप दोनों ही ज्ञान-नेत्र हैं और आप दोनों तपश्चरण-रूपी लक्ष्मी से अत्यन्त सुशोभित हैं । आप आज मुझे इस संसार सागर से पार कराने में समर्थ हैं; संसार-सागर से पार होने में आप के दोनों चरणकमल ही मुझे हस्तावलम्बन (सहारे) का काम देंगे ॥१३०॥ हे नाथ ! मुक्ति-रूपी लक्ष्मी आपको बड़ी उत्कंठा के साथ देख रही है, आपकी कीर्ति तीनों लोकों में फैली हुई शोभा दे रही है ।' इस प्रकार स्तुति कर वह पुण्यवान राजा उन दोनों के सामने बैठ गया एवं अपने परिवार के साथ धर्म-श्रवण करने में तल्लीन हो गया । उन दोनों मुनियों ने पहिले तो 'धर्म-वृद्धि हो'-ऐसा आशीर्वाद दिया एवं फिर जिनकी बुद्धि दया से आर्द्र हो रही है, ऐसे ज्येष्ठ (बड़े) मुनिराज उसे सुख-समुद्र-रूपी धर्म का उपदेश करने लगे । वे कहने लगे-'हे राजन् ! जो जीवों को संसार-रूपी महासागर से उठा कर अनन्त सुख से भरे हुए मोक्ष में स्वयं स्थापित कर दे, उसे वास्तविक सद्धर्म कहते हैं । इस संसार में मनुष्य को राज्य भी धर्म से मिलता है, इन्द्र का पद भी धर्म से मिलता है एवं चक्रवर्ती का पद भी धर्म से मिलता है । धर्म से ही तीनों लोकों में फैलनेवाली निर्मल कीर्ति प्राप्त होती है एवं धर्म से ही, तीनों लोक जिसको नमस्कार करते हैं, ऐसा तीर्थंकर पद प्राप्त होता है । धर्म से ही स्त्री पुत्रवती होती है, धर्म से ही पुत्र सुलक्षण होते हैं, धर्म से ही माता शीलवती होती है एवं धर्म से ही मनुष्यों को अच्छे भाईबन्धु मिलते हैं । सब इन्द्रियों को सुख देनेवाले सारे भोग धर्म से ही मिलते हैं एवं घर, सवारी, पदार्थ, राज्य, आभूषण आदि सब धर्म से ही प्राप्त होते हैं । जो शरीर तपश्चरण करने में समर्थ होता है, सब दोषों से रहित होता है, जिसका उत्तम संहनन होता है एवं रूप-लावण्य, सौभाग्य आदि से सुशोभित होता है, वह सब धर्म से ही प्राप्त होता है । धर्म से ही धर्मात्मा

लोगों के लिए लक्ष्मी सदा दासी के समान स्थिर बनी रहती है तथा संसार में जो-जो दुर्लभ वस्तुएँ हैं, वे सब धर्म के प्रभाव से अपने-आप घर में आ जाती हैं, ॥१४०॥ जिस प्रकार स्वयम्वर की रचना करानेवाली कन्या विवाह के लिए अपने-आप आ जाती है, उसी प्रकार धर्म के प्रभाव से मुक्ति-रूपी कन्या भी धर्मात्मा जीव की मुक्ति के लिए स्वयं आ जाती है । बहुत कहने से क्या लाभ ? संसार में जो कुछ भी दुर्लभ है, चाहे तीनों लोकों में कहीं भी हो, वह सब धर्म के प्रभाव से पुरुषों को अपने-आप प्राप्त हो जाता है । मनुष्यों के लिए ये सब बिना धर्म के कभी सम्भव नहीं हो सकता । ये ही बातें पाप-कर्म के उदय से दुःख देनेवाली अर्थात् विपरीत हो जाती हैं । श्री जिनेन्द्रदेव ने धर्म दो प्रकार का बतलाया है-एक श्रावका का, दूसरा मुनियों का । श्रावकों का धर्म सहज-साध्य है एवं मुनियों का कठिन-साध्य है । पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत-ये कुल बारह व्रत श्रावकों के धर्म हैं । सम्यग्दर्शन के साथ होने से यही धर्म 'शुद्ध' कहलाता है । यही स्वर्गों का सुख देनेवाला है, अनुक्रम से मोक्ष देनेवाला है एवं यही धर्म श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में बँटा हुआ है । पाँच महाव्रत, पाँच समिति तथा तीन गुप्ति-यह तेरह प्रकार का चारित्र मुनियों का कहलाता है, यही धर्म सर्वथा पाप-रहित है एवं मोक्ष प्राप्त कराने में एक अद्वितीय मार्गदर्शक है । हे राजन् ! इन दोनों धर्मों में से जो तुम्हें अच्छा लगता हो एवं जिसे तुम धारण कर सकते हो, उसे स्वीकार करो; क्योंकि परलोक में स्वर्ग-मोक्ष के सुखों का सागर एक धर्म ही है ।' मुनि का यह उपदेश सुनकर राजा ने बड़े आनन्द से सम्यग्दर्शन के साथ-साथ गृहस्थों के व्रत स्वीकार किये । तदनन्तर वह राजा सम्यग्दर्शन तथा दानपूर्वक व्रतों को पालन करने की प्रतिज्ञा धारण कर तथा दोनों मुनियों के चरणकमलों को नमस्कार कर अपने राजभवन में लौट आया । स्त्री-पुरुष सहित अन्य सब भव्यों ने भी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार मुनि के समीप व्रत ग्रहण किये ॥१५०॥ स्वयंप्रभा भी उन मुनियों के समीप दान, पूजा, उपवास आदि सहित कितने ही व्रतों को धारण कर अपने घर आई । एक दिन स्वयंप्रभा ने अपने नियत पर्व के दिन उपवास किया । दूसरे दिन भक्तिपूर्वक श्री अरहन्तदेव की पूजा की । उपवास के कारण जिसका मुख कुछ मलिन हो रहा है, ऐसी वह स्वयंप्रभा, विनय से नम्र होकर अपने दोनों हाथों से भगवान श्री अरहन्तदेव के चरणकमलों के स्पर्श से पवित्र हुई एवं उसने पापों को दूर करनेवाली एक विचित्र माला लाकर ज्वलनजटी को समर्पित की । राजा ज्वलनजटी ने भक्तिपूर्वक वह

माला ली एवं उपवास के कारण कुछ थकी हुई तथा धर्म में तत्पर अपनी कन्या की ओर देखा । 'बेटी तू जाकर अब पारणा कर'-इस प्रकार कह कर उसे विदा किया; परन्तु उसी समय राजा के हृदय में उसके विवाह करने की चिन्ता उत्पन्न हुई । उसने उसी समय सब मन्त्रियों को बुलाया एवं अपनी पुत्री के विवाह की चर्चा उनसे की । राजा की बातें सुनकर शास्त्रों में चतुर सुश्रुत नामक मन्त्री ने परीक्षा कर अपनी आत्मा में निश्चय किया एवं मधुर वाणी में कहने लगा-'इसी विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में अलका नाम की नगरी है, उसका राजा मयूरग्रीव है एवं उनकी रानी का नाम है नीलान्जना । उनका सबसे ज्येष्ठ पुत्र अश्वग्रीव है, दूसरा नीलरथ, तीसरा नीलकण्ठ, चौथा सुकण्ठ, पाँचवाँ वज्रकण्ठ-इस प्रकार उनके पाँच पुत्र हैं । उनमें से ज्येष्ठ अश्वग्रीव की रानी का नाम कनकचित्रा है तथा उन दोनों के रत्नग्रीव, रत्नांगद, रत्नचूल, रत्नरथ आदि पाँच सौ पुत्र हैं । उसके मन्त्री का नाम हरिश्मश्रु है तथा अष्टांग निमित्त को जाननेवाला नैमित्तिक शतबिन्दु है ॥१६०॥ इस प्रकार राजा अश्वग्रीव का राज्य सब प्रकार से सम्पूर्ण है तथा वह तीन खण्ड पृथ्वी का स्वामी है । इसलिए अपनी कन्यारत्न उसी को देना चाहिये ।' यह सुनकर बहुश्रुत नामक मन्त्री कहने लगा-'हे राजन् ! सुश्रुत मन्त्री की बात तो आप ने सुन ली, अब मेरा परामर्श भी सुनिये । श्रेष्ठ कुल, नीरोगी सुन्दर शरीर, शील, आयु, शास्त्र का पठन-पाठन, पक्ष, लक्ष्मी एवं उत्तम परिवार-ये नौ गुण वर में होने चाहिए । अश्वग्रीव में ये सब गुण हैं, परन्तु उसकी आयु बहुत अधिक है। इसलिये जिसमें ये सब गुण हों एवं तरुण भी हो, ऐसा कोई दूसरा वर ढूंढना चाहिये ।

गगनवल्लभ नगर में प्रसिद्ध राजा सिंहरथ है । मेघपुर नगर में नीति विशारद राजा पद्मरथ है । चित्रपुर नगर में बलवान राजा अरिंजय है । त्रिपुर नगर में विद्याधरों का राजा ललितांगद है । अश्वपुर नगर में राजा कनकरथ है । महारत्नपुर नगर में विद्याधरों का प्रसिद्ध राजा धनन्जय है । हे राजन् ! निश्चय कर इनमें से किसी एक के संग पुण्यवती कन्यारत्न का विवाह शुभ मुहूर्त में कर देना चाहिये ।' बहुश्रुत के ऐसे वचन सुनकर शास्त्रों में पारगंत श्रुतसागर मन्त्री विचार कर श्रुति मधुर शब्दों में इस प्रकार कहने लगा-'यदि आप कुल, आरोग्य, आयु, रूप आदि सब गुणों से सुशोभित वर को कन्या अर्पण करना चाहते हैं, तो मेरी कही हुई बात सुनिये ॥१७०॥ उत्तर श्रेणी के सुरेन्द्रकान्तार नगर में मेघवाहन नाम का विद्याधर राज्य करता है, उसकी रानी का नाम मेघमालिनी है । उनके विद्युत्प्रभ नाम का पुत्र है एवं ज्योर्तिमाला नाम की पुत्री है।

राजा मेघवाहन पुण्यवान पुत्र एवं लक्ष्मी के समान पुत्री को पाकर बहुत आनन्दित रहता है । एक दिन राजा मेघवाहन श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करने के लिए बड़ी भारी विभूति से सुशोभित थी सिद्धकूट चैत्यालय में गया था । वहाँ पर राजा को अपने पुण्य-कर्म के उदय से अनेक गुणों से विभूषित वरधर्म नाम के अवधि ज्ञानी चारण मुनिराज के दर्शन स्वतः हो गये थे । राजा ने बड़े आनन्द के उन उत्तम मुनि की वन्दना की एवं मुनिराज ने उस राजा के सामने स्वर्ग-मोक्ष-प्रदायक धर्म का स्वरूप कहा । तदनन्तर राजा ने उन मुनिराज से अपने पुत्र के पूर्व-भव पूछे थे । राजन् ! उन्हें मैं कहता हूँ, आप अपना चित्त सावधान कर सुनिये । इसी प्रसिद्ध जम्बूद्वीप में वत्सकावती देश है एवं उसमें श्रेष्ठ-धर्म से सुशोभित प्रभाकारी नाम की नगरी है । पुण्य-कर्म के उदय से उस नगरी का राजा नन्दन था, जो कि स्वयं बहुत-ही सुन्दर था एवं उसके शुभकर्म के उदय से जयसेना नाम की रानी उसे प्राप्त हुई थी । उन दोनों के विजयसेन नाम का पुत्र था, जो कि पुण्य एवं गुणों का संगम था, विवेकी था एवं ज्ञानी था । वह एक दिन अपनी इच्छानुसार मनोहर नाम के वन में गया एवं वहाँ पर आम के पेड़ को फल रहित देखकर सब भोगों से विरक्त हुआ । सो ठीक ही है, क्योंकि वैराग्य ही मोक्ष का कारण है ॥८०॥ यह संसार असार है एवं जिस प्रकार बादल से प्रकट हुई बिजली क्षणमात्र में नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार भोग, राज्य, शरीर एवं धन सब क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं ।

जिसकी बुद्धि शान्त हो गई है, ऐसा वह विजयसेन ऊपर लिखे अनुसार चिन्तवन कर सब तरह के परिग्रहों से रहित पिहितास्रव नाम के मुनि के समीप गया एवं उनको जाकर नमस्कार किया । उसने गुरु की आज्ञानुसार वैराग्य धारण करने में तत्पर ऐसे चौदह हजार राजाओं को भी दुर्लभ ऐसा संयम धारण किया । उसने कर्मों का नाश करनेवाला कठिन बारह प्रकार का तपश्चरण किया तथा अन्त में समाधिमरण धारण कर चारों आराधनाओं का स्वयं चिन्तवन किया । शरीर को त्याग कर पुण्य-कर्म के उदय से वह माहेन्द्र स्वर्ग के चक्रक नाम के विमान में दिव्य आभरणों से सुशोभित देव उत्पन्न हुआ । अपने किये हुए तपश्चरण से प्राप्त हुए पुण्य-कर्म से उसने सात सागर तक समस्त इन्द्रियों को सुख देनेवाले दिव्य भोग भोगे । वहाँ से चय कर वह तेरे विद्युत्प्रभ नाम का पुत्र हुआ, अब आगे अत्यन्त घोर तपश्चरण कर मोक्ष जाएगा । मैं एक दिन पुण्य सम्पादन करने के लिए श्री सिद्धकूट चैत्यालय में स्तुति करने के लिए गया

था, वहाँ पर मैंने यह पुण्य का कारण वृतान्त सुना था। वह विद्युत्प्रभ, वर के सब गुणों से पूर्ण है एवं सुखी है, इसलिए गुणों से सुशोभित तथा धर्म में तत्पर ऐसी यह कन्या उसी को देनी चाहिये। हे सजन्! अपना राजकुमार अर्ककीर्ति पुण्य-मूर्ति है, उसके लिए पुण्यवती ज्योर्तिमाला को बड़ी विभूति के साथ ले लेना चाहिये'॥१९०॥ श्रुतसागर की यह उक्ति सुनकर उत्तम बुद्धिवाला सुमति नाम का मन्त्री सब संकल्प-विकल्पों पर उत्तर देने लगा। वह कहने लगा कि पुण्य-कर्म के प्रभाव से यह कन्या पुण्य-रूप आदि सब गुणों से विभूषित है, इसलिये इसके लिए अलग-अलग कितने ही विद्याधर राजा प्रार्थना करते हैं। इसलिये यह कन्या विद्युत्प्रभ को नहीं देनी चाहिये, क्योंकि उसे बहुतों के साथ बैर करना पड़ेगा; किन्तु इसके लिए स्वयम्वर की रचना करनी चाहिये, यह कह कर वह चुप हो गया। अन्य सब मन्त्रियों ने कार्य को सिद्ध करनेवाली उसकी यह बात मान ली; इसीलिए राजा ने मन्त्रियों को आदर-सत्कार कर उन्हें विदा किया। तदनन्तर राजा ज्वलनजटी ने पुराणों के अर्थ को जाननेवाले तथा ज्ञानी संभिन्निश्रोत नाम के नैमित्तिक से पूछा-'हे ज्ञानी ! बताओ स्वयंप्रभा का पति कौन होगा ?' यह कहकर राजा मौन हो गया एवं वह नैमित्तिक नीचे लिखे अनुसार वचन कहने लगा-'पूर्व में पुराणों का निरूपण करते समय श्री ऋषभदेव ने भरत चक्रवर्ती को प्रथम नारायण की कथा इस प्रकार कही थी। इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में पुष्कलावली देश में पुण्डरीकिणी नगरी है। उसी नगरी के समीप मधुक नाम के वन में वन का स्वामी पुरूरवा नाम का भद्र भीलों का राजा रहता था। एक दिन उस वन में सागरसेन नाम के मुनिराज मार्ग भूल कर विहार करते हुए कहीं जा रहे थे। पुण्य-कर्म के उदय से उस भील ने बड़े विनय-भाव से मुनिराज को परलोक में सुख देनेवाला नमस्कार किया। उन मुनिराज ने कृपापूर्वक उस भव्य के लिए इस लोक तथा परलोक-दोनों लोकों में सुख देनेवाले मद्य-मांस आदि के त्याग-रूप धर्म का उपदेश दिया। उस धर्मात्मा भील ने मुनिराज के चरणकमलों को नमस्कार किया तथा काललब्धि प्राप्त हो जाने के कारण मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक मद्य-मांस आदि का त्याग किया तथा जैन-धर्म को स्वीकार किया ॥२००॥ श्रेष्ठ धर्म के फल से वह सौधर्म स्वर्ग में बड़ी ऋद्धियोंवाला तथा दिव्य लक्ष्मी का स्वामी देव हुआ। आचार्य कहते हैं कि देखो, थोड़े ही पुण्य के फल से वह भील ऐसा हुआ; फिर भला, उत्तम कुल में उत्पन्न हुए जो लोग धर्म-सेवन करते हैं, वे क्यों न सुखी होंगे ? इसी भरतक्षेत्र को अयोध्या नगरी में भरत नाम

का चक्रवर्ती था । उसके सुख देनेवाली अनन्तसेना नाम की रानी थी । उन दोनों के संयोग से उस भील का जीव स्वर्ग से च्युत हो कर मारीच नाम का पुत्र हुआ था । उस बुद्धिमान ने श्री ऋषभदेव के साथ दीक्षा ग्रहण की थी । उस मारीच ने भूख-प्यास आदि से उत्पन्न हुए परीषहों के भय से संयम-रूपी माणिक्य को तो छोड़ दिया एवं उसके विपरीत कुलिंगियों का भेष धारण कर लिया था । श्री ऋषभदेव के मुख से उस मूर्ख को यह भी मालूम हो गया था कि उसे आगे चलकर मोक्ष प्राप्त करानेवाली श्री तीर्थंकर की विभूति प्राप्त होगी । तीव्र मिथ्यात्व के उदय से उसने श्री जिनेन्द्र का कहा हुआ धर्म त्याग दिया था एवं नरक में पहुँचाने वाला निकृष्ट सांख्यमत स्वीकार कर लिया था । उसने अशुभ मार्ग का उपदेश दिया था, इसलिये उस पाप के फल से तीव्र कषाय-रूपी लहरों से भरे हुए संसार-सागर में वह बहुत दिन के लिए निमग्न हो गया था । आचार्य कहते हैं कि वह मारीच तपस्वी होकर भी खोटे मार्ग का उपदेश देने से महान दुःख को प्राप्त हुआ; फिर भला, जो खोटे मार्ग का आचरण करते हैं, वे क्यों न दुःखी होंगे ? इसी भरतक्षेत्र के सुरम्य देश में पोदनपुर नाम का मनोहर एवं सुन्दर नगर है । वहाँ के राजा प्रजापति के मृगावती नाम की भार्या है । उस भील का जीव, संसार-रूपी वन में परिभ्रमण कर तथा काललब्धि पाकर तपश्चरण के द्वारा पुण्य उपार्जन कर उन दोनों के त्रिपृष्ट नाम का पुत्र हुआ है ॥२१०॥ उसी राजा के भद्रा नाम की रानी के गर्भ से विजय नाम का ज्येष्ठ पुत्र हुआ है । वे दोनों भाई बड़े ही सुलक्षण हैं एवं वे दोनों श्री श्रेयांसनाथ तीर्थंकर के समय में अपने पौरुष से प्रतिनारायण अश्वग्रीव (शत्रु) को मारकर तीन खण्ड लक्ष्मी के स्वामी इस युग के प्रथम नारायण एवं बलभद्र होंगे । इनमें से बलभद्र विजय श्रेयांसनाथ तीर्थंकर से दीक्षा ग्रहणकर घोर तपश्चरण कर तथा कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त करेगा । त्रिपृष्ट नारायण अशुभ योग के कारण संसार में बहुत परिभ्रमण करेगा एवं फिर काललब्धि पाकर अन्तिम तीर्थंकर होगा । आपका जन्म इसी विजयार्द्ध पर्वत पर धरणेन्द्र के सम्बन्ध से महाराज कच्छ के पुत्र नमि के वंश में हुआ है एवं महाराज प्रजापति का जन्म श्री ऋषभदेव तीर्थंकर के उपदेश के अनुसार इस संसार में प्रसिद्ध श्री बाहुबली के प्रसिद्ध वंश में हुआ है । इसलिये हे राजन् ! उनके साथ आप का सम्बन्ध पहिले से ही निश्चित है; फिर भी वह सम्बन्ध अब होना ही चाहिये । इसलिये धर्म एवं लक्ष्मी से सुशोभित आपको तीन खण्ड को लक्ष्मी तथा सुख के स्वामी पुण्यवान त्रिपृष्ट को अपनी कन्या दे देनी चाहिये । त्रिपृष्ट को जामाता

(जंवाई) बना लेने से आप सब विद्याधरों के स्वामी हो जायेंगे, यह बात निश्चित है; इसलिये ऐसा ही करना चाहिये। यह कथा श्री आदिनाथ तीर्थंकर के वचनों के अनुसार ही कही गई है।' उस पौराणिक की यह बात सुनकर रथनूपुर के राजा ज्वलनजटी ने उसकी बात मान ली एवं प्रसन्न होकर उसे वस्त्र, आभरण, सन्मान आदि से विभूषित किया। राजा ज्वलनजटी ने इन्द्र नाम के दूत को बुलाया एवं पत्र तथा भेंट देकर उसी समय महाराज प्रजापति के पास भेजा ॥२२०॥ त्रिपृष्ट के जयगुप्त नामक नैमित्तिक से पहिले ही यह बात जान ली थी; इसलिये वह शीघ्र ही पुष्पकरण्डक नामक वन में आ गया था। वहीं पर ज्वलनजटी विद्याधर का दूत आकाश से उतरा। त्रिपृष्ट ने उसका स्वागत किया तथा उत्सव के साथ उसे राजसभा में ले गया। दूत ने जाकर महाराज के सामने भेंट रख नमस्कार किया तथा फिर विनम्र होकर खड़ा हो गया। महाराज ने अपने हाथ से उसे बैठने को आसन दिया। महाराज ने वह सब भेंट देखी तथा अपना सन्तोष प्रकट किया एवं 'हम आपकी भेंट से बहुत सन्तुष्ट हैं' यह कहकर दूत को भी सन्तुष्ट किया। तदनन्तर दूत ने निवेदन किया-'राजन्! ज्वलनजटी विद्याधर, आप के पुत्रों में श्रेष्ठ श्री त्रिपृष्ट को अपनी कन्या समर्पण करना चाहता है।' यह कह दूत चुप हो गया। यह सुनकर महाराज प्रजापति ने सब बातें यथार्थ समझ लीं तथा प्रसन्न होकर कहा-'ठीक है, रत्न तथा सोने का सम्बन्ध भला कौन नहीं चाहता है?' तदनन्तर महाराज ने योग्य भेंट देकर दूत का आदर-सत्कार किया तथा अपनी कार्य-सिद्धि के लिए दूत को विदा किया। वह दूत बड़ी शीघ्रता से अपने स्वामी के पास गया तथा विवाह निमित्त शुभ कार्य प्रारम्भ करने का निवेदन किया। यह सुनकर ज्वलनजटी विद्याधर बड़ी विभूति के साथ कन्या को लेकर आकाश-मार्ग से पोदनपुर में आया। महाराज प्रजापति राजा ज्वलनजटी का आगमन सुनकर बड़े प्रेम से भारी विभूति के साथ शीघ्र ही स्वयं उनके सामने आए ॥२३०॥ उन्होंने उनका स्वागत किया। महाराज प्रजापति ने हर्ष से अपना सारा नगर सजाया, तोरण बंधवाये तथा बहुत-सी ध्वजाओं की मालायें बंधवायीं। ऐसे सुसज्जित नगर में महाराज प्रजापति बड़े उत्साह से राजा ज्वलनजटी को लाए। महाराज प्रजापति ने राजा ज्वलनजटी को योग्य स्थान पर ठहराया तथा स्नान-भोजन आदि सब तरह से उनका स्वागत किया, जिससे ज्वलनजटी बहुत-ही प्रसन्न हुआ। तदनन्तर राजा ज्वलनजटी ने रत्नमाला आदि से सुशोभित मण्डप बनवाया, अपने कुटुम्ब-परिवार के लोगों को बुलवाया तथा उन्हें विवाह में देने योग्य

श्री शांतिनाथ पुराण

वस्त्र आभूषण दिये ।

तदनन्तर उन्होंने शुभ लग्न एवं शुभ मुहूर्त्त में बड़ी विभूति तथा भारी उत्सव के साथ त्रिपृष्ट को अपनी कन्यारत्न को समर्पित किया । सब राजे जिसकी सेवा करते हैं, ऐसा वह प्रथम नारायण त्रिपृष्ट, अपने पुण्यकर्म के उदय से, जिसे विद्याधर भी चाहते हैं तथा जो रूप-लावण्य से सुशोभित हैं, ऐसी उत्तम कन्या को पाकर अपने धर्म के फल से प्राप्त उत्तम भोगों का भोग करने लगा । कहाँ तो इस पृथ्वीतल पर विशाल पर्वत सदृश त्रिपृष्ट तथा कहाँ वह विद्याधरों के राजा की गुणवती पुत्री, तथापि आश्चर्य है कि पुण्य-कर्म के उदय से वह व्योमगोचरी कन्या रानी बनकर त्रिपृष्ट के घर आ गई । इसलिये बुद्धिमान लोगों को सदा धर्म सेवन करते रहना चाहिए । संसार में चाहे इष्ट पदार्थ कितनी ही दूर हो तथा चाहे तीनों लोकों में कष्ट-साध्य हो; तथापि धर्म के फल से प्राणियों को वह मिल ही जाता है । इसलिए श्री अरहन्तदेव का कहा हुआ धर्म सदा धारण करते रहना चाहिए । रत्नत्रय से उत्पन्न हुआ धर्म तीनों लोकों को ईश्वरपना तथा उत्तम सुख देनेवाला है, पापों का नाश करनेवाला है, तीर्थंकर की विभूति देनेवाला है, अत्यन्त निर्दोष है; स्वर्ग-मोक्ष को सर्वथा वश में करनेवाला है, गुणों का भंडार है, तीनों लोकों में पूज्य है तथा कल्याणों की परम्परा को समर्पण करनेवाला है । इसलिए बुद्धिमानों को सदा उसका सेवन करते रहना चाहिए । श्री शान्तिनाथ भगवान निर्मल गुणों के भंडार हैं, स्वर्ग-मोक्ष के अद्वितीय कारण हैं; तीनों लोकों के इन्द्र उनकी सेवा करते हैं, उत्तम मुनिराज उनकी स्तुति करते हैं, सब तरह के सुख देनेवाले हैं, तथा विद्वान लोग उनकी पूजा करते हैं; इसलिए उनके गुणों की प्राप्ति के लिए उनके समस्त गुण-समूहों का वर्णन कर मैं उनकी स्तुति करता हूँ ॥२४०॥

इस प्रकार श्री शांतिनाथ पुराण में त्रिपृष्ठ एवं स्वयंप्रभा के विवाह का वर्णन करने वाला यह दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥२॥

तीसरा अधिकार

मैं अपने प्रारम्भ किये हुए कार्य की सिद्धि के लिए समस्त गुणों के सागर पाँचवें चक्रवर्ती तथा कामदेव सदृश सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ को नमस्कार करता हूँ । तदनन्तर राजा ज्वलनजटी ने

त्रिपृष्ट को सिंहवाहिनी तथा गरुड़वाहिनी नामक दो विद्याएँ सिद्ध करने के लिए दीं। इस प्रकार परमोत्सव मनानेवाले वे सब अपने-अपने पुण्य-कर्म के उदय से सुख-सागर में निमग्न हो गये। इधर अश्वग्रीव के नगर में उसके पाप-कर्म के उदय से उल्कापात हुआ, पृथ्वी दोलायमान हुई एवं दशों दिशाओं में आग लगने लगी। जिस प्रकार तीसरे काल के अन्त में भोगभूमि के आर्य सूर्य को देखकर चकित हुए थे, उसी प्रकार वहाँ की प्रजा उन तीनों तरह के अभूतपूर्व उपद्रवों को देखकर चकित एवं भयभीत हो गई। उन उपद्रवों को देखकर अश्वग्रीव भी चकित हो गया एवं कारण जानने के लिए मन्त्रियों के साथ बैठकर उसने शतबिन्दु नामक मतिज्ञानी से पूछा-'महाराज, यह सब उत्पात क्यों ? इनके शमन का उपाय क्या है ?' मतिज्ञानी शतबिन्दु कहने लगा-'अपने पराक्रम से जिसने सिन्धुदेश में सिंह को मारा है, आपके लिए भेजी हुई भेंट जिसने जबर्दस्ती छीन ली है एवं रथनुपूर के राजा ज्वलनजटी ने अपने पुण्य-कर्म के उदय से जिसे आपको देने योग्य स्त्रीरत्न समर्पण किया है, वही मनुष्य आप का अनिष्ट करेगा। उसके ये सब सूचक हैं, आप इन्हें दूर करने का उपाय कीजिये।' इस प्रकार उस निमित्तज्ञानी का कहा हुआ वचन उस अश्वग्रीव विद्याधर ने सुना। तदनन्तर उसने गुप्तचरों के द्वारा सिंह को मारना, आदि सब सुना एवं उस निमित्तज्ञानी की उक्ति को सत्य माना ॥१०॥ इसके पश्चात् इस कथन की परीक्षा करने के लिए उसने चिन्तागति एवं मनोगति नाम के दो विद्वान दूत त्रिपृष्ट के पास भेजे। वे दोनों दूत शीघ्र ही पोदनपुर पहुँचे। उन्होंने वहाँ के बलवान राजा को देखा एवं उसके आगे भेंट रखकर वे दोनों ही विनय के साथ कहने लगे-'हे राजन्! विद्याधरों के राजा अश्वग्रीव ने आपको आज्ञा प्रदान की है कि वे रथावर्त पर्वत पर जाएँगे, आप भी वहाँ आएँ। हम दोनों आप को लेने के लिए आये हैं। इसलिए उनकी आज्ञा शिरोधार्य मानकर शीघ्र चलिए।' इस प्रकार कहकर वे दोनों ही दूत चुप हो गये। उन दूतों की यह बात सुनकर त्रिपृष्ट क्रोधपूर्वक उन दोनों दूतों से कहने लगा-'अश्वग्रीव (घोड़े के-से मुखवाले) अथवा खरग्रीव (गधे के-से मुखवाले) मनुष्य मैंने आज तक नहीं देखे हैं, इसलिए मैं कौतूहल पूर्वक उनको यहाँ ही देखना चाहता हूँ।' त्रिपृष्ट की गर्वोक्ति सुनकर स्वामी के हित की इच्छा रखनेवाले वे दोनों ही दूत कहने लगे-'हे राजन् ! अनेक राजे जिसकी सेवा करते हैं, ऐसा वह विद्याधरों का राजा अश्वग्रीव तो आपही का पक्षपाती है; अतएव उसके लिए आप को ऐसे वचन नहीं कहना चाहिए।' यह सुनकर त्रिपृष्ट कहने लगा किखग (विद्याधर अथवा पक्षी) हमारा

श्री शांतिनाथ पुराण

पक्षपाती ही हो; परन्तु मैं उसे देखने के लिए उस पर्वत पर नहीं जाऊँगा।' यह सुनकर वे दोनों विद्याधर कहने लगे-'उस चक्रवर्ती की अनुपस्थिति में ऐसे अभिमान के वचन नहीं कहना चाहिए; क्योंकि जब वह आकाश में खड़ा होगा, तब ऐसा कौन राजा है, जो उसके सामने खड़ा हो सके ?' यह सुनकर त्रिपृष्ट कहने लगा कि क्या वह चक्र फिराने का काम किया करता है एवं घड़े आदि बर्तन बनाया करता है ? तब तो इच्छा शिल्पकार है, फिर भला उसे क्या देखना चाहिए ? त्रिपृष्ट की यह बात सुनकर उन दोनों दूतों ने कहा-'जो कन्यारत्न तो चक्रवर्ती के योग्य था, वह आज तेरे महल में पड़ा नष्ट हो रहा है' ॥२०॥ इस प्रकार कहकर वे दोनों ही दूत बड़ी शीघ्रता से राजमहल के निकल गए एवं शीघ्र ही अश्वग्रीव के पास जा पहुँचे । अश्वग्रीव को नमस्कार कर दोनों ने सब समाचार कह सुनाया । त्रिपृष्ट की उद्धतता सुनकर अश्वग्रीव क्रोधित हुआ एवं बड़े आडम्बर तथा बड़ी भारी सेना के साथ स्वयं रथावर्त पर्वत पर आ पहुँचा । नगर से निकलते समय उसके विनाश को सूचित करनेवाली पहिले के समान तीनों तरह के उपद्रव पुनः हुए । अश्वग्रीव का आना सुनकर बलभद्र एवं नारायण भी अपनी विभूति के साथ शीघ्र ही उसी पर्वत पर पहुँच गए । वहाँ पर दोनों सेनाओं में भारी युद्ध हुआ; दोनों की सेनाएँ समान संख्या में मारी गईं; इसलिए उसी समय से यमराज का 'समवर्ती' नाम पड़ गया था । बहुत देर तक तो युद्ध होता रहा, फिर 'व्यर्थ ही सेना का नाश करने से क्या लाभ है'-यह सोच कर त्रिपृष्ट स्वयं द्वन्द्व युद्ध करने के लिए शत्रु के सामने आया । अश्वग्रीव भी पहिले जन्म के बैर से शत्रु बना हुआ था; इसलिए क्रोधित होकर उसने बाणों की वर्षा कर त्रिपृष्ट को घेर लिया । उन दोनों का समान युद्ध होता रहा, दोनों मे से कोई भी एक-दूसरे को न जीत सका; इसलिए उन दोनों ने अपनी-अपनी विद्या से माया-युद्ध करना प्रारम्भ किया ।

अश्वग्रीव पहिले तो बहुत देर तक युद्ध करता रहा, परन्तु जब उसने अपने शत्रु को सामान्य शस्त्रों से जीतना असम्भव समझा, तब उसने रथ में से ही शत्रु के ऊपर चक्र चलाया । परन्तु त्रिपृष्ट के पुण्योदय से वह चक्र त्रिपृष्ट की तीन प्रदक्षिणा देकर उसके दाहिने हाथ पर आकर ठहर गया । ठीक ही है, क्योंकि पुण्योदय से जीवों को क्या नहीं प्राप्त हो सकता है ? ॥३०॥ पहिले जन्म के बैर-भावों से क्रोधित होकर नरक में जानेवाले उस शत्रु अश्वग्रीव को त्रिपृष्ट ने उसी चक्र से मार दिया । वह पापी अश्वग्रीव, धर्म

धारण न करने के कारण तथा रौद्र-ध्यान के कारण तथा आरम्भ-परिग्रह के कारण अत्यन्त दुःख देनेवाले सातवें नरक में पहुँचा। आचार्य कहते हैं-'देखो, इतनी बड़ी विभूति को धारण करनेवाला विद्याधरों का राजा होकर भी पापों के कारण दुर्गतियों में दुःख का पात्र होने से बच नहीं सका। पुण्य-कर्म के उदय से सूर्य एवं चन्द्रमा के समान सुशोभित होनेवाले त्रिपृष्ट एवं विजय दोनों ही भाई तीन खण्ड के स्वामी बन गये थे एवं बड़े ही भले जान पड़ते थे। सब भूमिगोचरी राजाओं ने, विद्याधरों के राजाओं ने एवं मग्ध आदि व्यन्तरों ने त्रिपृष्ट का राज्याभिषेक किया एवं इस तरह वह पृथ्वी पर बहुत-ही प्रसिद्ध हो गया। त्रिपृष्ट ने स्वयंप्रभा के पिता ज्वलनजटी को हर्षपूर्वक दो श्रेणियों का स्वामी बनाया। सो ठीक ही है, क्योंकि पुण्य से इस पृथ्वी पर भला क्या प्राप्त नहीं होता है ? अर्थात् सब कुछ प्राप्त होता है। देवों के समूह जिनकी रक्षा करते हैं-ऐसे खड्ग, शंख, धनुष, शक्ति, दण्ड, चक्र एवं गदा-ये सात रत्न चक्रवर्ती त्रिपृष्ट के प्रगट हुए थे। मोक्षगामी बलभद्र विजय के रत्नमाला, गदा, हल एवं मसूल-ये चार महारत्न धर्म के प्रभाव से प्रगट हुए थे। पहिले जन्म में उपार्जन किए हुए पुण्य-कर्म के उदय से त्रिपृष्ट को गुणवती तथा लावण्यमयी स्वयंप्रभा आदि सोलह हजार रानियाँ प्राप्त हुई थीं। धर्म के प्रभाव से बलभद्र को भी कुल, रूप, गुणों से सुशोभित सौभाग्यवती आठ हजार रानियाँ प्राप्त हुई थी ॥४०॥ धर्म के प्रभाव से उन दोनों भ्राताओं के चरण-कमलों को अनेक मुकुटबद्ध राजा मस्तक झुकाकर नमस्कार करते थे तथा उन दोनों की आज्ञा का पालन करते थे। इस प्रकार वे दोनों भाई पुण्य-कर्म के उदय से सुखसागर में मग्न थे तथा उनके शरीर तीनों खण्डों में उत्पन्न होनेवाली लक्ष्मी से सुशोभित थे।

अथान्तर-उसी विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर-श्रेणी के इन्द्रकान्त नाम के शुभ नगर में मेघवान नाम का राजा था। पुण्य-कर्म के उदय से अच्छे लक्षणों वाली मेघमाला नाम की उसकी रानी थी। उन दोनों के सुन्दरमुखी ज्योतिर्माला नाम की पुत्री उत्पन्न हुई थी। ज्योतिर्माला का विवाह विद्याधरों के स्वामी ज्वलनजटी के पुत्र अर्ककीर्ति के साथ बड़े उत्सव एवं विधि के साथ हुआ था। उन दोनों के अमिततेज नाम का पुत्र हुआ था, जो कि बहुत ही सुलक्षण था तथा कामदेव के समान रूप, लावण्य एवं सौभाग्य से सुशोभित था। पुण्य कर्म के उदय से बाल चन्द्रमा के समान वह कुमार किशोर अवस्था को प्राप्त हुआ। शस्त्र एवं शास्त्र से सम्बन्धित सब विद्यायें उसने पढ़ीं एवं अनुक्रम से वह यौवन अवस्था को प्राप्त

हुआ । संसार के सुखों में अनुरक्त रहनेवाले अर्ककीर्ति एवं ज्योतिर्माला के सुतारा नाम की पुत्री हुई, जो कि रूप एवं लक्षणों से बड़ी ही सुशोभित थी । इधर त्रिपृष्ट एवं स्वयंप्रभा के श्रीविजय एवं जयभद्र नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए थे एवं ज्योतिप्रभा नाम की एक पुत्री उत्पन्न हुई थी । इस प्रकार महाराज प्रजापति को बहुत-सी विभूतियाँ प्राप्त हुई थीं । कभी एक दिन काल-लब्धि प्राप्त होने से वैराग्य उत्पन्न हुआ एवं वे विचार करने लगे-॥५०॥ 'यह राज्य-सम्पदा अनेक जीवों के साथ शत्रुता उत्पन्न करनेवाली है, भयानक है, पाप एवं सन्ताप का घर है तथा बध-बन्धन आदि को उत्पन्न करानेवाली है, घोर दुःख का कारण है; इसलिये इसको धिक्कार है ! यह लक्ष्मी अनेक चिन्ताओं को उत्पन्न करानेवाली है; पाप, दुःख एवं शोक प्रगट करनेवाली है, तीव्र दुःखों से उत्पन्न होनेवाली है एवं नरक देनेवाली है; इसलिए इससे कभी सुख नहीं मिल सकता । यह स्त्री भी दुर्गति देने में बड़ी कुशल है, मोह उत्पन्न करनेवाली है, भयानक है, निन्द्य है एवं सप्त धातुओं से बनी हुई है; ऐसी स्त्री का भला कौन बुद्धिमान सेवन करेगा ? ये पुत्र मनुष्यों को बांधने के लिए पाश (जाल) के समान हें, इस लोक एवं परलोक दोनों मे कठिन दुःख देनेवाले हैं एवं धन-धान्य आदि सब विभूति का भक्षण कर जानेवाले हैं । जिस प्रकार आम के पकने पर उस पेड़ पर आम खाने के लिए बहुत सी पक्षी आ बैठते हैं एवं फल नष्ट हो जाने पर उसको त्यागकर सब अपने-अपने स्थान को चले जाते हैं; उसी प्रकार धनी कुल में भोग भोगने के लिए सब कुटुम्बी-जन एकत्र हो जाते हैं एवं भोग भोगने के बाद उस कुल को त्याग कर चारों गतियों में चले जाते हैं । यह शरीर अन्न-पान आदि द्रव्यों से पुष्ट तथा वस्त्राभरणों से सुशोभित होने पर भी जीव के साथ दुष्टों का-सा व्यवहार किया करता है । ये भोग नरक के दुःख देनेवाले हैं, पांप-रोग-क्लेश आदि के कारण हैं, दुःखपूर्वक प्राप्त होते हैं एवं बुद्धिमानों के द्वारा निन्द्य गिने जाते हैं । ऐसे भोगों से भला संसार में कौन सुखी हो सकता है ? यह अनादि संसार दुःखों से भरा हुआ है, सुख रहित है, अनन्त है एवं भयानक है; ऐसे संसार से भला कौन ज्ञानी पुरुष प्रेम करेगा ? हाथ में रक्खे हुए जलबिन्दु के समान जीवों की आयु भी क्षण-क्षण में नष्ट होती रहती है; फिर भी परलोक में हित चाहनेवाले लोग अपना कल्याण क्यों नही करते ॥६०॥ जब तक आयु नष्ट न हो जाए, जब तक बुढ़ापा न आ जाए एवं जब तक इन्द्रियाँ समर्थ बनी रहें, तब तक जीवों को अपना हित कर लेना चाहिए । जिस प्रकार घर मे आग लग जाने पर कुँआ नहीं खोदा जा सकता,

उसी प्रकार जब मृत्यु आ जाती है, तब यह जीव कुछ भी धर्म नहीं कर सकता ।' इस प्रकार वह बुद्धिमान राजा संसार की विचित्रता का चिन्तवन कर कर्मरूप शत्रुओं के भी प्रबल शत्रु वैराग्य को प्राप्त हुआ । तदनन्तर वह राजा अपने पुण्य-कर्म के उदय से नगण्य तिनके के समान कुटुम्ब एवं राजलक्ष्मी का त्याग कर पिहितास्रव मुनि के समीप पहुँचा । वे मुनिराज सब तरह के परिग्रहों से रहित थे; परन्तु गुण-रूपी सम्पदा से रहित नहीं थे । वे सब जीवों का हित करनेवाले थे एवं पूज्य थे । ऐसे मुनिराज को नमस्कार कर तथा मन-वचन-काय की शुद्धिपर्वूक सब तरह के परिग्रहों का त्याग कर महाराज प्रजापति ने मोक्ष प्राप्त करने के लिए गुरु के वाक्यानुसार संयम धारण किया । तदनन्तर वे अपनी शक्ति को प्रगट कर कर्मों के सन्ताप को नाश करनेवाले बाह्य-आभ्यन्तर के भेद से बारह प्रकार का घोर तपश्चरण करने लगे । उन्होंने बहुत दिनों तक अत्यन्त दुष्कर एवं भीषण कष्ट-साध्य तपश्चरण किया एवं आयु के अन्त में अपना चित्त ध्यान में लगाया । उन मुनिराज ने सम्यक्त्व से मिथ्यात्व का, संयम से असंमय का एवं अप्रमत्त अवस्था से प्रमाद का नाश किया एवं क्षपकश्रेणी में उत्तीर्ण हो गए । उन्होंने शुक्लध्यान से मोहनीय-कर्म का एवं फिर अनुक्रम से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय-बाकी के इन तीनों घातिया-कर्मों का नाश किया एवं वे छद्मस्थ अवस्था को त्याग कर केवलज्ञान-रूपी परम ज्योति को प्राप्त हुए ॥७०॥ इन्द्रादिक देवों ने आकर उनकी पूजा की एवं वे केवली भगवान अघातिया-कर्मों का नाश कर सुख देनेवाले मोक्ष में जाकर विराजमान हुए । महाराज प्रजापति की यह कथा ज्वलनजटी ने भी सुनी तथा उनकी बड़ी स्तुति की । तदनन्तर वे विचार करने लगे कि महाराज प्रजापति धन्य हैं, जिन्होंने अपना उत्तम राजमहल भी त्याग दिया । मैं मूर्ख बालक के समान भोगों में लिप्त हुआ, अब तक निन्द्य पापों की खान तथा नरक देनेवाले गृहस्थाश्रम के मोह में पड़ा हुआ हूँ ।

इस प्रकार उन्होंने अपनी निन्दा की तथा भव्य प्राणियों के त्याग करने योग्य राज्य अर्ककीर्ति को दे दिया । तदनन्तर वे मुनिराज जगन्नन्दन के समीप पहुँचे । उन्होंने मोक्ष की इच्छा रखनेवाले धीर-वीर मुनिराज को नमस्कार किया तथा उन मुनिराज के वचनों के अनुसार देवों के द्वारा पूज्य श्री जिनेन्द्रदेव का नग्न-रूप शुद्ध परिणामों से धारण किया । वे मुनिराज कर्मों का नाश करने के लिए क्षमा, श्रेष्ठ मार्दव, उत्तम आर्जव, सत्य, शौच, उत्तम संयम, श्रेष्ठ तप, सुख की खान त्याग, आकिंचन तथा उत्तम ब्रह्मचर्य-ऐसे

दश प्रकार के धर्म धारण करने लगे । वे मुनिराज ग्यारह अंग तथा चौदह पूर्व से उत्पन्न हुए ज्ञान का अभ्यास करने लगे, धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान दोनों का उत्तम अभ्यास करने लगे तथा अत्यन्त घोर तथा उत्तम तपश्चरण करने लगे । उन्होंने आत्मध्यान-रूपी अग्नि से घातिया-कर्म-रूपी ईंधन को जला दिया और लोक-अलोक दोनों को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान प्राप्त किया । तदनन्तर तीनों लोकों के ईश्वरपने को प्रगट करनेवाली पूजा प्राप्त की एवं फिर सुख का सागर तथा आत्मा के आठों गुणों से विराजमान निर्वाण को प्राप्त किया ॥८०॥ अथानन्तर-किसी एक समय त्रिपृष्ट ने अर्ककीर्ति के पुत्र अमिततेज के लिए सुख देनेवाली ज्योतिप्रभा नाम की अपनी कन्या की प्रीतिपूर्वक स्वयम्बर विधि से दे दी थी तथा अर्ककीर्ति की पुत्री सुतारा स्वयम्वर की मनोहर विधि से बड़े प्रेम से त्रिपृष्ट के पुत्र श्रीविजय की अर्धांगिनी बन गई थी । इस प्रकार वंश-परम्परा से जिनका परस्पर सम्बन्ध चला आ रहा है, ऐसे वे सब भाई पुण्य-कर्म के उदय से प्राप्त हुई तथा वंश-परम्परा का कल्याण करनेवाली लक्ष्मी को प्राप्त हुए थे । जिस प्रकार पानी में लोहा सबसे नीचे जा कर बैठ जाता है, उसी प्रकार बहुत से आरम्भ-परिग्रह के भार से वह त्रिपृष्ट नारायण सातवें नरक-रूपी समुद्र में जा डूबा था । वहाँ पर उसने तैंतीस सागर तक, जिनको न कोई उपमा दी जा सकती है तथा न वाणी से ही कहे जा सकते हैं, ऐसे अत्यन्त घोर दुःख भोग किये थे । आचार्य कहते हैं ।, देखों जब ऐसे चक्रवर्ती को भी पापों से नरक में जाना पड़ा, तो फिर अशुभ-कर्मों से अन्य साधारण लोग नरक-रूपी खारे समुद्र में क्यों न डूबेंगे ? देखो इन भोगों के कारण चक्रवर्ती की भी ऐसी अवस्था हुई; फिर भला सर्प के समान इन भोगों में ऐसा कौन-सा ज्ञानी है, जो तल्लीन हो जाए ? यदि राज्य से ऐसी अवस्था हुई तो फिर दुःख देनेवाले उस राज्य को धिक्कार हो, यदि राज्य-लक्ष्मी से ही नरक की प्राप्ति होती है, तो उस लक्ष्मी को दुष्टा स्त्री के समान बुद्धिमानों को छोड़ देना चाहिये । नारायण के वियोग से बलभद्र को भी बड़ा भारी शोक हुआ, सो ठीक ही है; क्योंकि इस संसार में इष्टवियोग से क्या अनर्थ नहीं होता है ? तत्पश्चात उस बुद्धिमान ने कुटुम्ब तथा राज्य-सम्पदा को चपला के समान चन्चला समझा एवं धीरता के साथ अपने शोक को शान्त किया ॥९०॥ उन्होंने बुद्धिमानों द्वारा त्याग करने योग्य राज्यभार श्रीविजय को दे दिया एवं युवराज पद विजयभद्र को दिया ।

तदनन्तर वैराग्य प्राप्त होकर बलभद्र शीघ्र ही मुक्ति-रूपी स्त्री के स्वामी सुवर्णकुम्भ नाम के मुनिराज के समीप पहुँचे । उन्होंने उन मुनिराज की तीन प्रदक्षिणा दी, मस्तक झुकाकर उन्हें नमस्कार किया एवं मुनिराज के आदेशानुसार सात हजार राजाओं के साथ संयम धारण किया । उन्होंने शुक्लध्यान-रूपी शस्त्र से घातिया-कर्मों का नाश किया एवं इन्द्रादिकों के द्वारा पूज्य अनगार केवली का पद प्राप्त किया । इधर अर्ककीर्ति ने भी बलभद्र की उत्तम कथा सुनकर उनकी बड़ी स्तुति की एवं विचार किया कि वे बड़े ही धन्य हैं, जिन्होंने तप धारण किया । यद्यपि मैं बुद्धिमान हूँ तथापि अत्यन्त निन्द्य, चारों गतियों में परिभ्रमण करानेवाले, पाप का कारण एवं निर्ममता से त्याग करने योग्य गृहस्थाश्रम में अभी तक फँस रहा हूँ । इस प्रकार अपनी निन्दा कर वह वैराग्य को प्राप्त हुआ एवं बुद्धिमानों के त्याग करने योग्य राज्य अमिततेज को समर्पण किया । वह रागद्वेष रहित होकर शीघ्र ही राजा एवं देवों के द्वारा पूज्य तथा आकाशगामी विपुलमति नाम के चारण मुनि के समीप पहुँचा । उसने मुनिराज के दोनों चरण-कमलों को नमस्कार किया, सब तरह के परिग्रहों को त्याग किया एवं मुक्ति-रूपी स्त्री को वश करनेवाली जिन-दीक्षा धारण की । उन्होंने बारह प्रकार का तपश्चरण किया एवं शुक्लध्यान-रूपी शस्त्र से घातिया-कर्मों को नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया ॥१००॥ तदनन्तर उन्होंने बड़े-बड़े अतिशयों से सुशोभित, इन्द्रादि देवों के द्वारा पूज्य, शुभ एवं अत्यन्त सुख देनेवाली मुक्ति-रूपी स्त्री को प्राप्त किया । अथानन्तर-पुण्य-कर्म के उदय से अमिततेज एवं श्रीविजय का सुखदायी समय बड़े प्रेम से व्यतीत होने लगा । एक दिन कोई पुरुष श्रीविजय के दरबार में आया एवं उन्हें आशीर्वाद देकर जोर से कहने लगा-'राजन् ! मेरी बात सुनिए । आज से सातवें दिन पोदनपुर के राजा के मस्तक पर वज्रपात होगा, यह निश्चय समझकर शीघ्र ही इसके निवारण का उपाय कीजिए ।' यह सुन कर युवराज क्रोधपूर्वक कहने लगा-'लगता है, तू सब जाननेवाला है; इसलिये बता तो सही कि उस समय तेरे मस्तक पर क्या गिरेगा ?' युवराज की बात सुनकर वह आगन्तुक के पुरुष कहने लगा-'मेरे मस्तक पर अभिषेक के साथ रत्नों की वर्षा होगी । मेरे कहे हुए इन वचनों में सन्देह नहीं है ।'उसके इस प्रकार के निश्चित वचन सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ एवं वह कहने लगा-'हे मित्र ! इस आसन पर विराजिए, आप से कुछ बात-चीत करनी है । आपका गोत्र क्या है, गुरु कौन है, आपने क्या-क्या शास्त्र पढ़ा है एवं किस प्रकार पढ़ा है ? आपका नाम क्या है एवं किस कारण

से आपने ऐसी भविष्यवाणी की है ?' वह निमित्त-ज्ञानी कहने लगा-'कुण्डलपुर नगर में राजा सिंहरथ राज्य करता है । उसके बुद्धिमान पुरोहित का नाम सुरगुरु है, मैं उनका ही निपुण शिष्य हूँ । बलभद्र के साथ दीक्षा लेकर मैंने सब अष्टांग-निमित्त पढ़े हैं एवं ध्यान लगाकर सुने हैं' ॥११०॥ 'इस संसार में वे अष्टांग-निमित्त कौन-कौन से हैं, उनके नाम क्या हैं, फल क्या हैं एवं लक्षण क्या हैं ? हे निमित्त-शास्त्र के जाननेवाले ! मुझे सब सुनाओ ।' राजा के इस प्रकार पूछने पर वह कहने लगा-'राजन ! शुभ-अशुभ को सूचित करनेवाले उन अष्टांग-निमित्तों का वर्णन मैं करता हूँ, आप ध्यान लगाकर सुनिए । अन्तरीक्ष, भौम, अंग, स्वर, व्यन्जन, लक्षण छिन्न एवं स्वप्न-ये आठ 'निमित्त' कहलाते हैं । आकाश में शीघ्र एवं मन्दगति से चलनेवाले जो चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारे हैं--ये पाँच प्रकार के ज्योतिषी हैं । उनके उदय-अस्त से हार-जी, वृद्धिहानि, जीवन-मरण, हानि-लाभ, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, शुभ-अशुभ आदि अन्य भी अनेक बातें निमित्त-शास्त्र के विद्वानों द्वारा कही जाती हैं । सज्जनों के द्वारा वह वास्तविक 'अन्तरीक्ष' नाम का निमित्त-ज्ञान कहा जाता है । पृथ्वी के स्थानों के भेदों को जानकर हानि-वृद्धि का ज्ञान करना तथा पृथ्वी के भीतर के रत्न आदि का निश्चय करना 'भौम' नाम का निमित्त-ज्ञान कहलाता है । अंग-उपांगों को स्पर्श कर या देख कर जीवों के जीवन-मरण, रोग-आरोग्य, सुख-दुःख आदि अंग एवं तीनों कालों से उत्पन्न हुए शुभ-अशुभों का निरूपण करना चतुर पुरुषों के द्वारा 'अंग' नाम का निमित्त-ज्ञान कहलाता है । निमित्त-शास्त्रों को जाननेवाला चतुर भेरी, मृदंग वीणा आदि के शुभ-अशुभ स्वरों से तथा गर्दभ, पक्षी, हाथी आदि के स्वाभाविक सुस्वर-दुःस्वरों से प्राणियों के सब तरह के इष्ट-अनिष्टों को जान सकता है । यह संसार में 'स्वर' नाम का निमित्त-ज्ञान कहलाता है ॥१२०॥ मस्तक मुख आदि में उत्पन्न हुए तिल-चिह्न-घाव आदि से लक्ष्मी, स्थान, मान, लाभ-हानि आदि का जानना 'व्यन्जन' नाम का निमित्त-ज्ञान कहलाता है । श्रीवृक्ष, स्वस्तिक (सांथिया) आदि शरीर पर उत्पन्न हुए एक सौ आठ लक्षणों से भोग-ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति का कथन करना 'लक्षण' नाम का निमित्त-ज्ञान है । देव, मनुष्य तथा राक्षसों के भेद से वस्त्र, शास्त्र आदि में चूहे आदि के द्वारा छेद करने पर उसका फल कहना 'छिन्न' नाम का निमित्त-ज्ञान है । शुभ तथा अशुभ के भेद से स्वप्न दो प्रकार के हैं । उन्हें सुनकर मनुष्यों को उनके फलाफल आदि का यथार्थ कथन करना, 'स्वप्न' नाम का निमित्त-ज्ञान है । ये सब मनुष्यों के सुख-दुःख

की सूचना देनेवाले हैं । भूख,प्यास, शीत, उष्ण आदि बाईस परिषहों को न सह सकने के कारण मैं पद्मिनीखेट नगर में आया । पाप-कर्म के उदय से मुझ दुष्ट, मन्दभागी तथा पापी ने सब तरह के सुख देनेवाली जिनमुद्रा छोड़ दी । वहाँ पर सोमशर्मा नामक मेरे मामा नेबड़े प्रेम से हिरण्यलोमा से उत्पन्न हुई चन्द्रानना नाम की अपनी पुत्री का विवाह मेरे साथ कर दिया । मैं वहाँ पर कुछ उपार्जन तो करता था नहीं, सदा निमित्त-शास्त्र का ही अभ्यास करता रहता था । इधर उसके पिता का दिया हुआ सब धन शेष हो चुका था; इसलिये चन्द्रानना मुझसे अब कुछ विरक्त-सी हो गई थी ॥१३०॥ एक दिन भोजन के समय उसने क्रोध से मेरी थाली में मेरा इकटठा किया हुआ कौड़ियों का समूह पटक दिया एवं कहा-'यही तुम्हारा उपार्जित धन है ।' मेरी थाली स्फटिक के समान थी, उसमें वे कौड़ियाँ सूर्य की किरणों के समान जान पड़ती थीं तथा मेरी स्त्री ने उस थाली में हाथ भी धोए थे; इसलिए कौड़ी डालते समय उसमें पानी की धारा भी पड़ रही थी । इन सब बातों को देखकर मैंने निश्चय कर लिया-सम्मानपूर्वक मेरा अभिषेक होगा एवं मुझे प्रचुर धन भी मिलेगा । हे राजन् ! आज आपको यह समाचार अमोघजिह्व ने भेजा है ।' उस निमित्त-ज्ञानी की यह युक्तिपूर्ण उक्ति सुनकर राजा चिन्ता से व्याकुल हो गया एवं उसको बिदाकर मन्त्रियों ने कहने लगा-'इस निमित्त-ज्ञानी की बात का निश्चय कर निर्णय करना चाहिये एवं फिर उसके निराकरण का उपाय करना चाहिए; क्योंकि जब आयु का नाश अत्यन्त शीघ्र होनेवाला हो, तो फिर उसका उपाय करने के लिए कौन देर करेगा ?' राजा की यह बात सुनकर सुमति नाम का मन्त्री कहने लगा-'हे राजन् ! धर्म-सेवन करते हुए सावधानी पूर्वक लोहे की पेटी में बन्द होकर समुद्र के मध्य में रहना चाहिए।' सुमति मन्त्री की यह बात सुनकर सुबुद्धि नाम का मन्त्री कहने लगा-'समुद्र में रहना ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ मगरमच्छों का डर है; इसलिए विजयार्द्ध पर्वत की गुफा में रहना ठीक है ।' सुबुद्धि मन्त्री की यह उक्ति सुनकर सब बातों को जानने वाला बुद्धिमान मन्त्री बुद्धिसागर एक प्रसिद्ध कथा कहने लगा-इसी भरतक्षेत्र के सिंहपुर नगर में सोम नाम का एक ज्ञानी किन्तु कुबुद्धि परिव्राजक रहता था, जो कि असत् शास्त्रों के अभ्यास से बड़ा ही अभिमानी हो गया । एक दिन वह वाद-विवाद में जिनदास से हार गया । समय पाकर वह मरा एवं उसी सिंहपुर नगर में एक विशाल भैंसा बन उत्पन्न हुआ ॥१४०॥ बुरे शास्त्रों के अभ्यास से उत्पन्न हुए पाप-कर्मों के उदय से वह एक छोटे व्यापारी के घर में आया । वहाँ पर

वह नमक आदि का बोझ लादता रहा । जब वह भैंसा बोझ लादते-लादते बहुत थक गया एवं बोझ लादने योग्य न रहा, तब उस व्यापारी ने भी उसकी ओर उपेक्षा की दृष्टि से देखना आरम्भ किया तथा उसे घास-पानी देना बन्द कर दिया । अपनी कुक्षि (पेट) फट जाने के कारण वह मर गया एवं अशुभ बैर-बन्ध के कारण किसी नगर के श्मशान में राक्षस हुआ । वहाँ उसे जाति-स्मरण भी हुआ था । उसी नगर में कुम्भभीम राज्य करता था । पाप-कर्म के उदय से कुम्भ सदा भयानक नरक को ले जानेवाले मांससेवन में तल्लीन रहता था । कुम्भ के रसोइया का नाम रसायन-पाक था । एक दिन उस रसोइया को पशु का मांस नहीं मिला; इसलिये उसने राजा के रोष के डर से किसी मरे हुए बालक का मांस बना कर राजा को खाने के लिए दे दिया । उसी दिन से वह पापी मनुष्य के मांस का लोलुपी हो गया था । नरक गति में जानेवाले एवं नर-मांस के लोलुपी उस कुम्भभीम ने स्वयं ही मांस पकाना प्रारम्भ किया था । इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि राजा प्रजा की रक्षा करनेवाला होता है; परन्तु प्रजा की रक्षा करना तो दूर रहा, वह पापी अपनी प्रजा का ही भक्षण करने लगा । राजा को दुष्ट समझकर मन्त्रियों ने उस पापी का परित्याग कर दिया था । सो ठीक ही है, क्योंकि घोर दुःख देनेवाले पाप का फल इसी जन्म में मिल जाता है । उस रसोइया के पकाये हुए मांस से जीवित रहने वा.. उक्त क्रूर राजा ने अपने रसोइये को मार कर ऐसी विद्या सिद्ध की, जिससे ऊपर लिखा हुआ भैंसा का जीव राक्षस उसके वश में हो गया ॥१५०॥ वह दुष्ट निर्दयी एवं नरक जानेवाला कुम्भ उसी नगर में चारों ओर घूमने लगा एवं उस राक्षस की सहायता से वह अपनी भोली-भाली प्रजा को ही खाने लगा । उस समय उसके भय से उसकी सारी प्रजा अपनी रक्षा के लिए शीघ्रता के साथ उस नगर को छोड़ कर कारकट नामक नगर में चली गयी थी । परन्तु वह पापी वहाँ जाकर भी प्रजा का भक्षण करने लगा था, इसलिए उसी समय से उस नगर का नाम 'कुम्भ कारकट' नगर पड़ गया था । वह पापी जिस मनुष्य को भी देखता था, उसी को खा जाता था; इससे डरकर वहाँ की प्रजा ने उसको एक निश्चित जगह पर ठहराने का प्रबन्ध किया । उसके आहार के लिए प्रतिदिन एक मनुष्य एवं एक गाड़ी अन्न देना प्रजा ने स्वीकार किया था । उसी नगर में चन्द्रकौशिक नाम का एक ब्राह्मण रहता था । संसार-संबंध को बढ़ानेवाली उसकी स्त्री का नाम सोमश्री था । उन दोनों के पुण्य-कर्म के उदय से तथा बहुत दिनों तक भूतों की उपासना करने से मण्डकौशिक नाम का पुत्र उत्पन्न

हुआ था । एक दिन पाप-कर्म के उदय से भयभीत वह मण्डकौशिक गाड़ी पर बैठा हुआ कुम्भ का आहार बनने के लिए जा रहा था । दैवयोग से उसी मार्ग से भूत जा रहे थे । उन भूतों ने उस ब्राह्मण को रोक लिया; परन्तु कुम्भ हाथ में डण्डा लेकर आया एवं सब भूतों पर प्रहार करने लगा । कुम्भ के डर से भूतों ने उस ब्राह्मण को एक बिल में छुपा दिया एवं वे सब भाग गए । परन्तु अशुभ-कर्म के उदय से बिल में एक अजगर ने उस ब्राह्मण को निगल लिया । आचार्य कहते हैं-'देखो, कर्म-रूपी शत्रुओं से घिरा हुआ यह प्राणी अनेक दुःखों की परम्परा को भोगता रहता है एवं जब तक वह कठिन तपश्चरण नहीं करता; तब तक वह कभी उन दुःखों से छूट नहीं सकता है ॥१६०॥ हे राजन् ! विजयार्द्ध पर्वत की गुफा में तो अनेक प्रकार से भय (संकट) भरे हुए हैं; इसलिये आपका उसमें रहना सर्वथा अनुचित है । इसके लिए तो कुछ अन्य ही उत्तम उपाय सोचना चाहिए ।' उसकी इस कथा को सुनकर सूक्ष्म बुद्धिवाला मतिसागर नाम का मन्त्री कहने लगा-'उस निमित्त-ज्ञानी ने यह तो नहीं कहा था कि महाराज श्रीविजय के ऊपर ही वज्र गिरेगा, वरन् उसने यह कहा है कि पोदनपुर नगर के स्वामी के ऊपर वज्र गिरेगा । इसलिए जब तक यह विघ्न दूर न हो जाए, तब तक इस नगर का राजा किसी अन्य को बना देना चाहिए ।' मतिसागर की यह बात सब चतुर मन्त्रियों ने मान ली एवं सबने मिलकर राज्य-सिंहासन पर एक यक्ष का प्रतिबिम्ब स्थापित कर दिया । सब ने कहा कि आज से पोदनपुर का राजा तू ही है । यह कहकर सबने उसकी पूजा की । इधर महाराज श्रीविजय ने भी राज्य एवं भोगोपभोगों की सारी सम्पदाएँ छोड़ दीं । तदनन्तर वह राजा चैत्यालय में गया एवं शान्ति के लिए सब तरह के विघ्नों को दूर करनेवाले श्रीजिनबिम्ब की महापूजा करने लगा । वह राजा सुपात्रों को समस्त अनिष्टों को दूर करनेवाला दान देने लगा तथा दीन एवं अनाथ लोगों को करुणादान देने लगा । वह एकाग्रचित्त से समस्त विघ्नों को दूर करनेवाले एवं पन्च-परमेष्ठी के वाचक ऐसे पन्च-नमस्कार मन्त्र का जप बारम्बार करने लगा । उसने अन्य सब कार्य त्याग दिये एवं श्रीजिन-मन्दिर में बैठकर प्रतिदिन विघ्नों को दूर करनेवाला धर्मध्यान करने लगा । यह बात ठीक ही है कि धर्म से, श्रीजिनेन्द्रदेव की पूजा करने से, पात्रों को दान देने से एवं नमस्कार मन्त्र के जप के फल से सब तरह के विघ्न दूर हो जाते हैं ॥१७०॥ यही समझकर उसके मन्त्रीगण भी श्री जिनेन्द्रदेव की नित्य पूजा, जप तथा दान देकर शान्ति-कर्म करने लगे । राजा के सब कटुम्बी लोग भी विघ्न दूर करने के लिए दानपूजा से

उत्पन्न तथा शान्ति प्रदान करनेवाला धर्म-सेवन प्रतिदिन करने लगे । नगर में प्रजा के लोग भी शान्ति के लिए दान, श्रीजिन-पूजा एवं महामन्त्र का जाप आदि द्वारा अनेक गुणों का भण्डार-रूप पुण्य सम्पादन करने लगे । इस प्रकार उस नगर में धर्म की प्रवृत्ति बहुत-ही बढ़ गई थी । ठीक ही है; क्योंकि जिस प्रकार वज्र से पर्वत चूर-चूर हो जाता है, उसी प्रकार धर्म-सेवन से सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं । सातवें दिन उस राज्य सिंहासन पर बैठी हुई यक्ष-प्रतिमा के मस्तक पर अकस्मात् भीषण शब्द करता हुआ निष्ठुर वज्रपात हुआ ।

इस प्रकार जब वह उपद्रव दूर हो गया, तब वे नगर-निवासी बड़े ही प्रसन्न हुए तथा द्विगुणित उत्साह से पूजा-दान-व्रत आदि के द्वारा धर्म-सेवन करने लगे । लोग बड़े ही प्रसन्न हुए, उन्होंने उस नगर में सब ओर तोरण बाँधे तथा चारों ओर बड़े-बड़े नगाड़े बजवाए । इस प्रकार उन्होंने बड़ा भारी उत्सव मनाया । उस विघ्न के शान्त हो जाने से राजा को धर्म पर भारी विश्वास हो गया तथा अपने किए हुए धर्म का प्रत्यक्ष फल देख लेने से वह बहुत ही प्रसन्न हुआ । राजा ने सन्तुष्ट होकर उस निमित्त-ज्ञानी को बुलवाया, उसका आदर-सत्कार किया एवं पद्मिनीखेट के साथ-साथ उसे सौ गाँव प्रदान किए । सब मन्त्रियों ने भुक्ति एवं विधिपूर्वक श्री जिनेन्द्रदेव की शान्ति पूजा की एवं फिर शान्ति प्रदान करनेवाला महाभिषेक किया ॥१८०॥ पुण्य-कर्म के उदय से कलशों से राजा का अभिषेक किया एवं उन्हें सिंहासन पर विराजमान कर अपने राज्य का स्वामी बनाया । भगवान श्री जिनेन्द्रदेव के कहे हुए धर्म का सेवन करने से पुण्य-कर्म के उदय से अनेक तरह के दुःख एवं शोक तथा मनुष्यों का नाशकारी समस्त विघ्नों का समूह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । यह मनुष्य धर्म के प्रभाव से सुन्दर स्त्रियाँ प्राप्त करता है, धर्म के ही प्रभाव से अच्छे सुख प्राप्त करता है, धर्म के ही प्रभाव से बड़ी भारी राज्य-विभूति को प्राप्त होता है एवं धर्म के ही प्रभाव से परलोक में स्वर्गों के सुख प्राप्त करता है । धर्म के प्रभाव से मनुष्यों के अत्यन्त तीव्र-मनुष्य, देव एवं सर्प आदि से उत्पन्न होनेवाले; अग्नि, जल आदि से उत्पन्न होनेवाले एवं मनुष्यों को नष्ट करनेवाले आकस्मिक अनन्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं । संसार में यह धर्म सब तरह से सुख देनेवाला है, जीव का भला करनेवाला है, स्वर्ग मोक्ष को प्राप्त करनेवाला है, श्री तीर्थंकर की परम विभूति को देनेवाला है, गुणों की निधि है, पापों का नाश कराने वाला है, समस्त अनिष्टों का नाश करनेवाला है एवं

श्री शांतिनाथ पुराण

विद्वानों के द्वारा सेवन करने योग्य है, इसलिये गुणी पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए समस्त पापों को त्याग कर सदैव धर्म का सेवन करते रहना चाहिये । श्री शान्तिनाथ भगवान जरा-रहित हैं, देवों के द्वारा पूज्य हैं, समस्त तत्वों को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान हैं, इन्द्रिय-दमन, शान्ति एवं संयम के स्थान हैं, सब तरह के सुख देनेवाले हैं, समस्त दोषों से रहित हैं एवं स्वर्ग-मोक्ष के कारण हैं । ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान की समस्त निर्मल कीर्ति का वर्णन कर मैं उनकी स्तुति करता हूँ ।

श्री शान्तिनाथ पुराण में अमिततेज को राज्य, प्रजापति ज्वलनजटी का मोक्ष-गमन, श्रीविजय के विघ्नों के निवारण करने का वर्णन करनेवाला तीसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥३॥

चौथा अधिकार

ज्ञानादि गुणों का घात करनेवाले घातिया-कर्मों को शान्त करनेवाले एवं संसार में शान्ति-स्थापना करानेवाले श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्रदेव को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ अथानन्तर-किसी एक दिन श्रीविजय ने माता के उपदेश से अपना कार्य सिद्ध करने के लिए आकाशगामिनी विद्या सिद्ध की । उस विद्या की सहायता से वह रानी सुतारा के साथ विमान में बैठकर क्रीड़ा करने के लिए ज्योतिर्वन में गया । वहाँ पर वह अपनी रानी के साथ 'मनोहर' नाम के वन में आनन्द से इच्छानुसार लीलापूर्वक विहार कर रहा था । इधर चमरचन्च नामक नगर में विद्याधरों का राजा इन्द्राशनि राज्य करता था । उसके पुण्य-कर्म के उदय से उसे आसुरी नाम की रानी प्राप्त हुई थी । उन दोनों के अशनिघोष नाम का पुत्र हुआ था, उसने भी आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कर ली थी एवं उसके प्रभाव से वह आकाश-मार्ग से अपने नगर को आ रहा था । उस वन में सुतारा को देख कर वह उस पर मोहित हो गया एवं छलपूर्वक ले जाने का प्रयास करने लगा । उसने श्रीविजय को एक बनावटी हिरण दिखलाया । अशुभ-कर्म के उदय से श्रीविजय क्रीड़ा करता हुआ उस हिरण के पीछे चला गया । पापी अशनिघोष विद्या के प्रभाव से श्रीविजय का रूप बना कर सुतारा के सम्मुख गया एवं कहने लगा-'हे सुन्दरी, हे प्रिये ! वह हिरण तो वायु के समान उड़ कर भाग गया, परन्तु भाग्य से मैं लौट आया । अब सूर्य भी अस्त होने आया है; इसलिये चलो, घर लौटें ।' इस प्रकार कह कर उस पापी विद्याधर ने सुतारा को अपने विमान में बिठा लिया एवं थोड़ी दूर जाकर

उसे अपना असली रूप दिखलाया । उसके असली रूप को देखकर वह बहुत ही व्याकुल हो गई एवं कहने लगी-'पापी, दुष्ट, मूर्ख ! तू कौन है ? मुझे यहाँ क्यों ले आया ?' ॥१०॥ इधर अशनिघोष की आज्ञा से बैताली विद्या सुतारा का रूप बना कर उसकी जगह बैठा गई थी । जब श्रीविजय उधर से लौटा एवं सुतारा (बैताली) को खेद-खिन्न देखा, तो उसने उससे पूछा-'हे सुन्दरमुखी ! तेरी अवस्था ऐसी दुःख को सूचित करनेवाली क्यों हो रही है ?' इसके उत्तर में सुतारा (बैताली) ने कहा-'नाथ ! मुझे कुक्कुट सर्प ने काट लिया है ।' यह कह कर उस दुष्टा ने मायाचारी (विद्या) से अपने को मरण-तुल्य बना लिया । पोदनपुर के राजा श्रीविजय का हृदय बहुत ही कोमल था । सर्प के विष को मणि, मन्त्र, औषधि आदि के द्वारा भी असाध्य होते देख कर वह उसके साथ मरने के लिए तैयार हो गया । उसने लकड़ी इकटठी कर चिता बनाई, सूर्यकानत मणि के संयोग से अग्नि लगाई एवं शोक से व्याकुल होकर वह स्वयं रानी के साथ उसमें जा बैठा । उसी समय उसके पुण्य-कर्म के उदय से उस उपद्रव को शान्त करने के लिए दो उत्तम विद्याधर वहाँ पर आ पहुँचे । उन दोनों में एक ने अपने पराक्रम से विच्छेदनी विद्या का स्मरण कर उस बैताली विद्या को मार भगाया । वह बैताली विद्या उसके सामने ठहर न सकी एवं राजा श्रीविजय को अपना असली-रूप दिखा कर अदृश्य हो गई । यह सब देख कर राजा को बड़ा भारी आश्चर्य हुआ एवं उसने उस विद्याधर से पूछा-'यह क्या है ?' इसके उत्तर में वह विद्याधर कहने लगा-॥२०॥'' इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पुण्यवान एवं मनोहर विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में ज्योतिप्रभ नाम का एक सुन्दर नगर है । वहाँ का राजा सम्भिन्न मैं हूँ एवं पुण्य-कर्म के उदय से मेरी सर्व-कल्याणी नाम की रानी के गर्भ से उत्पन्न हुआ यह द्वीपशिख नाम का मेरा पुत्र है । मैं सदा से ही विद्या एवं श्रेष्ठ पुण्य से शोभायमान सर्वोत्तम अमिततेज विद्याधर का अनुचर बना आ रहा हूँ । आज मैं पुण्य सम्पादन करने के लिए पर्वतों पर यात्रा कर आकाश-मार्ग से आ रहा था । मार्ग में मैंने एक विमान में से शोक के शब्द आते हुए सुने वे शब्द नारी के थे एवं बड़ी करुणा एवं दुःख से भरे हुए थे । वह कह रही थी-'हे स्वामी श्रीविजय ! आप कहाँ हैं ? हे रथनूपुर के राजन ! आप कहाँ हैं ? मेरी रक्षा कीजिए ।' तदनन्तर मैं उस विमान के समीप गया एवं उस पुरुष से कहा-'तू कौन है एवं किसको हरकर ले जा रहा है ?' तब वह क्रोध से कहने लगा-'मैं चमरचन्च नगर का राजा हूँ, अशनिघोष विद्याधर मेरा नाम है एवं मैं इसे जबरदस्ती ले जा रहा

हूँ । यदि तुझमें सामर्थ्य है तो आकर इसे छुड़ा ले जा ।' उसकी यह बात सुनकर मैंने अपने मन में विचारा कि यह पापी मेरे स्वामी की बहिन को हरकर ले जा रहा है । ऐसे समय में मुझे साधारण मनुष्यों के समान उसके सामने नहीं जाना चाहिये, किन्तु इस दुष्ट को मारकर सुतारा का उद्धार करना चाहिये । यही सोचकर मैं उसके समीप गया । जब मैंने उसके साथ युद्ध करना प्रारम्भ किया, तब सुतारा ने कहा- 'भाई ! तुम युद्ध मत करो, बल्कि इसी समय ज्योतिर्वन में जाओ एवं शोक-रूपी अग्नि से दग्ध राजा श्रीविजय से मेरी अवस्था का सब समाचार कह सुनाओ ।'॥३०॥ हे राजन् ! इस प्रकार आपकी रानी के द्वारा भेजे हुए हम यहाँ आये हैं । आपके शत्रु की भेजी हुई बैताली देवी को मैंने मार भगाया है ।" राजा सम्भिन्न का वृत्तान्त सुनकर श्रीविजय ने कहा-'हे मित्र ! अब आप शीघ्र ही जाकर यह सब समाचार मेरी माता स्वयंप्रभा एवं अनुज से कह सुनाइये ।' तब राजा सम्भिन्न ने अपने पुत्र द्वीपशिख को पोदनपुर भेज दिया । इधर पोदनपुर में अनेक उपद्रव हुए थे । उन्हें देखकर अमोघजिह्व एवं जयगुप्त निमित्तज्ञानियों को अपने निमित्तज्ञान से जानकर स्वयंप्रभा आदि से कहा-'इस समय महाराज को कुछ कष्ट उत्पन्न हुआ है; परन्तु वह उसी समय नष्ट भी हो गया । कोई पुरुष इसी समय कुशल समाचार लेकर आएगा । आप लोग निश्चिन्तता के साथ बैठे रहें, किसी तरह का भय न करें । महाराज इस समय पुण्य-कर्म के उदय से बिना किसी कष्ट के कुशलतापूर्वक निवास कर रहे हैं ।' उसी समय द्वीपशिख नाम का विद्याधर आकाश से उतर कर पृथ्वी पर आया एवं उसने विधिपूर्वक स्वयंप्रभा तथा उसके पुत्र को नमस्कार किया । उसने कहा कि राजा श्रीविजय कुशलपूर्वक हैं, आप लोग शंका त्याग दीजिये । यह कह कर उसने सब वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कह सुनाया । उस समाचार को सुनकर स्वयंप्रभा की कान्ति मन्द पड़ गई एवं जिस प्रकार पृथ्वी दावानल (अग्नि) से जल जाती है, उसी प्रकार वह शोक-रूपी अग्नि से मानो झुलस-सी गई ॥४०॥ स्वयंप्रभा अपने पुत्र एवं सेना को लेकर अनेक विद्याधरों के साथ नगर से निकली एवं पुत्र को देखने के लिए शीघ्र ही उस वन में जा पहुँची । राजा श्रीविजय ने दूर से ही देखा कि माता आ रही है एवं वह शोक से व्याकुल-सी हो रही है । उन्हें देखकर वह सामने आया एवं उनके दोनों चरणकमलों में नमस्कार किया । स्वयंप्रभा ने अपने पुत्र को देखा एवं बड़े सन्तोष से उसका आलिंगन किया एवं फिर 'जय हो, जीवो' आदि वाक्यों के द्वारा उसे आशीर्वाद दिया । जब श्रीविजय सुख से बैठ गया, तब माता के पूछने

पर उसने सुतारा के हरण-जनित स्त्री-वियोग से होनेवाला कष्ट आदि का सब वृत्तान्त कह सुनाया। इसके बाद उसने माता के सामने राजा सम्भिन्न की प्रशंसा भी अनेक प्रकार से की। ठीक ही है, क्योंकि विद्वान लोग किसी के उपकार को कभी भूलते नहीं हैं।

स्वयंप्रभा ने अपने छोटे पुत्र विजयभद्र को तो नगर की रक्षा का भार सौपा एवं स्वयं बड़े पुत्र श्रीविजय के साथ आकाश-मार्ग से रथनूपुर नगर की ओर प्रस्थान किया। अपने देश के दूतों से अमिततेज ने भी उसके आने का समाचार जान लिया एवं वह उसे सम्मान देने के लिए उसके सामने आया। अमितेज ने बड़ी विभूति के साथ उसे नगर में प्रवेश कराया एवं स्नान-भोजन आदि से उसका बहुत ही अच्छा आदर-सत्कार किया ! तदनन्तर माँ-बेटे ने अर्थात् स्वयंप्रभा एवं श्रीविजय ने अमिततेज के सामने पाप-कर्म के उदय से होनेवाले सुतारा के हरण आदि का सब समाचार कह सुनाया। यह सुनकर अमिततेज ने सुतारा को मुक्त कर देने के लिए अशनिघोष विद्याधर के पास मरीच नाम का एक दूत शीघ्र भेजा। ॥५०॥ दूत राजा अशनिघोष के पास गया एवं उससे सुतारा की मुक्ति की माँग की। परन्तु उस पापी ने दूत से बहुत-ही अपशब्द कहे। इसलिए वह दूत शीघ्र वहाँ से चला आया एवं अपने स्वामी के पास आकर जो कुछ दुर्व्यवहार उसके साथ हुआ था, सब ज्यों-का-त्यों कह सुनाया। तब राजा अमिततेज ने मन्त्रियों के साथ विचार-विमर्श किया एवं अपनी विद्या एवं सेना की सहायता से उस मदोन्मत्त विद्याधर के नाश करने की तैयारी कर ली। अमिततेज विद्याधर ने श्रीविजय को बन्धमोचनी (बन्ध को छुड़ानेवाली), प्रहरणवारणी (शस्त्र प्रहार को रोकनेवाली) एवं युद्धवीर्या (युद्ध में पराक्रम प्रगट करनेवाली)-ये तीन विद्याएँ प्रदान कीं। अमितेज ने रश्मिवेग, सुवेग आदि अपने पाँच-सौ पुत्रों के साथ पोदनपुर नगर के राजा श्रीविजय को शत्रु के सामने भेजा तथा वह स्वयं बड़े पुत्र सहस्ररश्मि के साथ सब विद्याओं के सिद्ध करने के स्थान ह्रीमन्त पर्वत पर जा पहुँचा। वहाँ पर वह अपने पुत्र के साथ संजयन्त नाम के महाचैत्यालय में सब विद्याओं का नाश करनेवाली 'महाज्वाला' नाम की विद्या सिद्ध करने लगा। इधर अशनिघोष ने रश्मिवेग आदि के साथ श्रीविजय का आगमन सुनकर हठपूर्वक युद्ध के लिए अपने पुत्रों को भेज दिया। सुघोष, शतघोष, सहस्रघोष आदि वे सब योद्धा श्रीविजय के साथ युद्ध करने लगे। वहाँ पर उन दोनों सेनाओं का बड़ा भारी युद्ध हुआ, जो कि अत्यन्त आश्चर्यजनक था एवं अपार जीवराशि का क्षय करनेवाला था ॥६०॥

उस युद्ध में कितने ही लोगों के अंग एवं सन्धियाँ छिन्न-भिन्न हो गई थीं एवं उसमें से कितने ही उपवास व्रत धारण कर तथा श्रीजिनेन्द्रदेव का स्मरण करते हुए स्वर्ग चले गये थे। जिनके शरीर बाणों से छिन्न-भिन्न हो गये थे, ऐसे कितने ही धीर-वीर योद्धा भाव-दीक्षा लेकर तथा ध्यान धारण कर स्वर्ग में जा विराजमान हुए थे। उस युद्ध में तीव्र दुःख से दुःखी कितने ही लोग पन्चनमस्कार मन्त्र का ध्यान कर उत्तम देवगति को प्राप्त हुए थे। वह युद्ध रौद्र-ध्यान से उत्पन्न हुआ था एवं अत्यन्त पापों को उत्पन्न करनेवाला था; इसलिये धर्म-ध्यान में तत्पर रहनेवाले हम (लेखक) से उसका वर्णन नहीं किया जाता। इस प्रकार अत्यन्त भय उत्पन्न करनेवाला वह संग्राम पन्द्रह दिनों तक होता रहा; अन्त में अन्याय से उत्पन्न हुए पाप के कारण सब योद्धा शिथिल पड़ने लग गये। यह समाचार सुनकर वह पापी अशनिघोष विद्याधर क्रोध से अन्धा होकर स्वयं युद्ध करने के लिए आया। वह बुद्धिहीन एवं कुमार्गगामी विद्याधर शत्रु को पाकर अपनी ही हानि करनेवाला तथा अपयश एवं पाप का कारण ऐसा घोर युद्ध करने लगा। उस युद्ध में जब श्रीविजय ने अपने दो रूप बनाए, तब अशनिघोष ने भी अपनी 'भ्रामरी' विद्या से अपने दो रूप बना लिए। परन्तु अशनिघोष के वे दोनों ही रूप श्रीविजय ने खण्डित कर दिए। उनके खण्डन करते ही उनके चार रूप प्रकट हो गए; इस प्रकार खण्डन करते-करते अशनिघोष के रूपों की दूनी-दूनी वृद्धि होती गई। इस प्रकार समस्त युद्ध -स्थल 'भ्रामरी' विद्या के प्रभाव से अशनिघोष के अनेक रूपों से यम के घर के समान भर गया ॥७०॥ उसी समय रथनूपुर के राजा अमिततेज को महापुण्य कर्म के उदय से समस्त राज्य को बढ़ानेवाली वह विद्या सिद्ध हो गई। तदनन्तर अमिततेज विद्याधर अपने पुत्र के साथ युद्ध-स्थल पर आया एवं आते ही उसने 'भ्रामरी' विद्या का नाश करने के लिए 'महाज्वाला' विद्या को आज्ञा दी। अशनिघोष को युद्ध करते हुए पन्द्रह दिन हो गये थे; अन्त में वह 'महाज्वाला' विद्या के प्रभाव को सह नहीं सका; इसलिये अशुभ-कर्मों के उदय से वह भयभीत हो गया। वह युद्ध से हट गया एवं दूर भाग गया। विजय नाम के उत्तम नाभेव पर्वत पर भव्य-जीवों का शरणभूत श्री जिनेन्द्रदेव का समवशरण आया हुआ था। वह अशनिघोष विद्याधर भागकर वहाँ जा पहुँचा। अमिततेज आदि भी क्रोध से भरे उसके पीछे-पीछे गये, परन्तु वहाँ पर मानस्तम्भ को देखते ही सब शान्त हो गये एवं सबके चित्त भी स्वस्थ हो गये। उन सब लोगों (अशनिघोष, अमिततेज आदि) ने अपना-अपना बैररूपी विष त्याग

कर तथा संसार-मात्र का हित करनेवाले श्री जिनेन्द्रदेव की तीन प्रदक्षिणा देकर उन्हें नमस्कार किया एवं एक साथ मिल कर बैठ गये। उसी समय पुण्यवती सती अशनिघोष की माता आसुरी उसी मार्ग से दावानल से जली हुई लता के समान दग्ध सुतारा को लेकर वहाँ आई। वह श्रीविजय एवं अमिततेज से कहने लगी कि मेरे पुत्र से घोर अपराध हो गया है, आप उसे क्षमा कर दीजिए। यह कह कर उसने सुतारा रानी को उन दोनों को सौंप दिया। श्री जिनेन्द्रदेव के सामने जब पशुओं का जाति एवं स्वभाव से उत्पन्न घोर बैर भी नष्ट हो जाता है, तो फिर भला मनुष्यों का बैर तो नष्ट हो ही जाएगा। श्री जिनेन्द्रदेव के समीप दुर्भिक्ष, इति, भीति आदि सब नष्ट हो जाते हैं, फिर भला इस संसार में उनके समीप जाकर बैर-भाव का नष्ट हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है ॥८०॥ श्री जिनेन्द्रदेव को पाकर अनादि काल से बंधे हुए कर्म भी नष्ट हो जाते हैं; फिर उनकी दिव्य-ध्वनि सुनकर मनुष्यों का बैर छूट जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। श्रीजिनेन्द्रदेव का ध्यान करने में तत्पर ऐसे भव्य जीव अत्यन्त दुर्निवार यमराज का भी लीलामात्र में निवारण कर सकते हैं, तो फिर भला शुभ-कर्मों के उदय से क्या शत्रु का निवारण नहीं किया जा सकता है ? भगवान की दिव्य-ध्वनि सुनकर यदि सिंह, हिरण आदि क्रूर जीव भी परस्पर प्रेम करने लग जाते हैं; तो फिर भला दो मनुष्यों में परस्पर प्रेम क्यों नहीं हो सकता है ? श्री जिनेन्द्रदेव के माहात्म्य से प्राणियों के शरीर को नष्ट करनेवाली सब तरह की विघ्न-बाधा भी नष्ट हो जाती हैं; तो फिर भला इस संसार में उन दोनों को किसी प्रकार का विघ्न किस प्रकार हो सकता था ? इसलिये बुद्धिमानों को यमराज तथा बुरे विघ्नों को दूर करने के लिए इहलोक एवं परलोक दोनों का हित करनेवाले श्री जिनेन्द्रदेव का ही स्मरण करना चाहिए।

अथानन्तर अमिततेज विद्याधर ने भक्तिपूर्वक श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार किया एवं तत्वार्थों का मर्म जानने के लिए हाथ जोड़ कर धर्म का स्वरूप पूछा। वह पूछने लगा-'हे भगवन् ! यह असार संसार-रूपी समुद्र तीव्र दुःखरूपी लहरों से भरा हुआ है। घोर क्रोध-मान आदि कषायरूपी मगरमच्छों से व्याप्त है। हे नाथ ! इसको कौन पार कर सकता है ? हे देव ! आप संसाररूपी सागर के पार हो चुके हैं; आप ही संसार में एकमात्र बन्धु हैं एवं आप ही सब जीवों का हित करने में तत्पर हैं; इसलिए आपके सिवाय इस विषय में अन्य किसी से पूछा नहीं जा सकता। हे प्रभो ! आप ही संसार के नाथ हैं, आप ही तीनों लोकों

का हित करनेवाले हैं, आप ही देवों के द्वारा पूज्य हैं एवं आप ही इस संसार में उत्तम हैं । मुनिलोग आपकी ही सेवा करते हैं, आप ही प्राणियों के गुरु हैं एवं आप ही इस संसार-भर में समस्त तत्वों को प्रकाशित करनेवाले दीपक हैं ॥९०॥ हे श्री जिनेन्द्रदेव ! आप अतिशय पुण्यवान हैं; इसलिए आपको नमस्कार हो । हे जगत्नाथ ! आप तीनों लोकों के स्वामी हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो । हे देव ! रत्नत्रयरूपी निधि को लेकर भव्य जीव आपकी दिव्य-ध्वनिरूपी महानौका पर चढ़ कर संसार-रूपी सागर से पार हो जाते हैं एवं मोक्षरूपी द्वीप में जा पहुँचते हैं । हे स्वामिन् ! जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के बिना रात्रि का अन्धकार दूर नहीं हो सकता है, उसी प्रकार आप के दिव्य-ध्वनिरूपी दीपक के बिना हम लोगों के मन का अन्धकार कभी दूर नहीं हो सकता । जिस प्रकार संसार-मार्ग में चलनेवाले जीव मेघों की वर्षा से सुखी होते हैं, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में चलने की इच्छा रखनेवाले भव्य जीव आप की दिव्य-ध्वनि की वर्षा से सुखी होते हैं । हे श्री जिनेन्द्रदेव ! जिस प्रकार मेघ वर्षा के द्वारा चातकों की प्यास बुझाता है, उसी प्रकार आप भी अपनी दिव्य-ध्वनि से संसार में भ्रमानेवाले भोगों से उत्पन्न हुई हमारी तृष्णा को दूर करते में सक्षम हैं । हे जगत्पूज्य ! हे श्री जिनेन्द्रदेव ! आप हम सरीखे भव्य-जीवों के लिए तत्वों से भरे हुए धर्म के स्वरूप का निरूपण कीजिए ।' इस प्रकार पूछने पर श्री जिनेन्द्रदेव दिव्य-ध्वनि के द्वारा अपनी सारगर्भित वाणी में धर्म का स्वरूप कहने लगे । जिस प्रकार मेघों की वर्षा से चातक पक्षी सन्तुष्ट होते हैं; उसी प्रकार भगवान की दिव्य-ध्वनि से भव्य जीव भी सन्तुष्ट होते हैं । भगवान तत्वों का निरूपण कर कहने लगे-'हे विद्याधरों के राजा ! तू अपना मन निश्चल कर सुन, मैं तेरे लिए धर्म एवं तत्वों से भरा हुआ कुछ ज्ञान निरूपित करता हूँ । जीवों को घोर दुःख देनेवाला यह संसार अनन्त एवं अनादि है । अभव्यों के लिए तो इसका कभी अन्त ही नहीं होता, किन्तु भव्य-जीवों के लिए इसका अन्त हो जाता है । इस संसार में घोर दुःख देनेवाले कर्म हैं; उन कर्मों के अनेक भेद हैं । मूल-भेद तो आठ हैं एवं उत्तर-भेद एक सौ अड़तालीस हैं ॥१००॥ उन कर्मों के कारण तथा बन्ध करानेवाले, आस्रव हैं, जो कि सब तरह के पाप उत्पन्न करनेवाले एवं मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय आदि के योग के भेद से अनेक प्रकार के हैं । उनमें से ज्ञान एवं चारित्र का घात करनेवाला, धर्म एवं शुभ-अशुभ तत्वों में मूढ़ता उत्पन्न करनेवाला मिथ्यात्व पाँच प्रकार का कहा गया है । श्री जिनेन्द्रदेव ने धर्म का नाश करनेवाले इस मिथ्यात्व के-एकान्त, विपरीत,

वैनयिक, संशय एवं अज्ञान-ये पाँच भेद बतलाये हैं । संसार के समस्त तत्व क्षणिक हैं एवं कर्मों का न तो कोई कर्त्ता है एवं न भोक्ता है । इसी प्रकार बौद्धों के द्वारा एकान्त कथन करना 'एकान्त मिथ्यात्व' कहलाता है । देव रागी हैं, गुरु परिग्रह सहित होता है एवं हिंसा से धर्म होता है-'इस प्रकार वेद एवं ब्राह्मण से उत्पन्न होनेवाला कथन करना तथा पशुओं की बलि के द्वारा यज्ञादि का करना 'विपरीत मिथ्यात्व' कहा जाता है । मूर्ख लोग, जो श्री जिनेन्द्रदेव तथा कुदेवों में, सुगुरु एवं कुगुरु में एक-सा विनय करते हैं, वह तपस्वियों के आश्रय से उत्पन्न हुआ' वैनयिक मिथ्यात्व' है । केवली कवलाहारी होते हैं एवं स्त्रियों को भी मोक्ष होता है, ऐसा कथन पाखण्डियों के द्वारा कहा हुआ 'संशय मिथ्यात्व' है । देव-कुदेव, धर्म-अधर्म, सुगुरु-कुगुरु एवं शास्त्र-कुशास्त्र का ज्ञान न होना, सो म्लेच्छों से उत्पन्न होनेवाला 'अज्ञान मिथ्यात्व' है । श्री जिनेन्द्रदेव ने इस प्रकार पाँच प्रकार के मिथ्यात्व कहे है। यह मिथ्यात्व समस्त दोषों का भण्डार है; इसलिए बुद्धिमानों को इसका त्याग सर्प के समान कर देना चाहिये । इसी मिथ्यात्व से पाप को उत्पन्न करनेवाली मूढ़ता एवं दुष्टता उत्पन्न होती है तथा इसी मिथ्यात्व से विवेक, धर्म का ज्ञान, चारित्र आदि श्रेष्ठ गुण सब नष्ट हो जाते हैं ॥११०॥ इसलिये हे भव्य ! तू मोक्ष प्राप्त करने के लिए सब तरह के पापों को उत्पन्न करनेवाले इस मिथ्यात्वरूपी पर्वत को सम्यग्दर्शनरूपी वज्र की चोट से चूर-चूर कर दे । मनुष्यों को चारों गतियों में घुमानेवाले यह मिथ्यात्व, पहिले मिथ्यात्व गुणस्थान में मुख्यता से बन्ध का कारण है । पाँचों इन्द्रियों तथा मन-इन छः को वश में न करना एवं त्रस स्थावर के भेद से छः प्रकार के जीवों की रक्षा न करना, यह बारह प्रकार का असंयम कहलाता है । जीवों का घात करनेवाले पंचेन्द्रियों के विषयों में मन, वचन, काय-इन तीनों योगों के द्वारा मनुष्यों की जो उच्छृंखल (इच्छानुसार) प्रवृत्ति है, वह अशुभास्रव करनेवाला असंयम कहलाता है । यह असंयम दुराचारों को उत्पन्न करनेवाला है तथा इहलोक एवं परलोक-दोनों लोकों में दुःख देनेवाला है; इसलिये तू अपनी श्रेष्ठ व्रतरूपी तलवार के बल से इसे शत्रु के समान नष्ट कर दे । जीवों के जब तक अप्रत्याख्यानावरण नामक चारित्र मोहनीय-कर्म का उदय रहता है, तब तक अर्थात् चौथे गुणस्थान तक यह असंयम मुख्यतया बन्ध का कारण गिना जाता है । चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, स्नेह एवं निद्रा-ये पन्द्रह प्रमाद कहलाते हैं । ये सब प्रमाद व्यर्थ में पापों को उत्पन्न करनेवाले हैं एवं व्रतों का घात करनेवाले हैं; इसलिये चतुर पुरुषों को ध्यान एवं अध्ययन के

द्वारा इनका नाश शत्रु के समान कर देना चाहिये । व्रतों में मल वा दोष उत्पन्न करनेवाली मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को 'प्रमाद' कहते हैं । यह प्रमाद मुख्यता से छट्ठे गुणस्थान में बन्ध का कारण है । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ एवं संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ-इस प्रकार कषाय के कुल सोलह भेद हैं ॥१२०॥ हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद तथा नपुंसक वेद-ये नव नौ-कषाय कहलाते हैं । इनमें से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ सम्यग्दर्शन का घात करते हैं; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ अणुव्रतों का घात करते हैं; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ सकल संयम का घात करते हैं एवं संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ यथाख्यात चारित्र का घात करते हैं । श्री जिनेन्द्रदेव ने इन घोर कषायों को चारों गतियों में परिभ्रमण करानेवाले एवं अत्यन्त दुःख देनेवाले स्थितिबन्ध के कारण बतलाए हैं । ये पच्चीस कषाय पाप-कर्म के कारण हैं, सातवें नरक के लिए मार्ग दिखलानेवाले हैं, अनेक भवों में परिभ्रमण करानेवाले हैं, क्रूर हैं, अशुभ-कर्मों को उत्पन्न करनेवाले हैं एवं समस्त दोषों के भण्डार हैं; इसलिए इनको तू क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच आदि शस्त्रों के द्वारा शीघ्र ही नष्ट कर दें । इस प्राणी के जब तक संज्वलन कषाय का उदय रहता है, तब तक अर्थात् सातवें, आठवें, नौवें एवं दशवें गुणस्थान में ये संज्वलन कषाय मुख्यतया से बन्ध के कारण हैं । मन-वचन-काय के द्वारा आत्मा के प्रदेशों को जो परिस्पन्दन होता है, उसको 'योग' कहते हैं । यह योग ही संसार का कारण है एवं जीवों को शुभ-अशुभ कर्म का फल देनेवाला है । यह योग पन्द्रह प्रकार का है । चार प्रकार का मनोयोग, चार प्रकार का वचनयोग एवं सात प्रकार का काययोग-यह पन्द्रह प्रकार का योग जीवों को दुःख देनेवाला है । सत्यमनोयोग एवं असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग एवं अनुभयमनोयोग-ये चार प्रकार के 'मनोयोग' हैं तथा सत्यवचन योग, असत्यवचन योग, उभयवचन योग एवं अनुभयवचन योग-ये सदा शुभाशुभ के देनेवाले चार प्रकार के 'वचनयोग' हैं । औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियक काययोग, वैक्रियकमिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारकमिश्र काययोग एवं कार्मण काययोग-ये सात प्रकार के 'काययोग' कहलाते हैं । इनमें से सत्यमनोयोग, सत्यवचनयोग, अनुभयमनोयोग एवं अनुभयवचन योग-ये चार योग चतुर पुरुषों के ग्रहण करने योग्य हैं; क्योंकि ये ही धर्म ही रक्षा करनेवाले हैं, उत्तम

हैं एवं सब जीवों का मंगल करनवाले हैं ॥१३०॥ असत्य मनोयोग, असत्यवचन योग, उभय मनोयोग, उभय वचनयोग-ये सब तरह के पापों को उत्पन्न करनेवाले हैं, अन्य जीवों को दुःख देनेवाले हैं एवं दुष्ट हैं; इसलिए बुद्धिमानों को अपने प्राणों की हानि होने पर भी असत्य वचन नहीं बोलना चाहिए। जीवों का दुःख तथा क्लेश का सागर प्रकृतिबन्ध तथा प्रदेशबन्ध योगों के द्वारा होता है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव ने निरूपण किया है। मन, वचन, काय से उत्पन्न हुआ यह योग अकेला ही ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें गुणस्थान में सातावेदनीय-कर्म का बन्ध करता है। अशुभयोग से इहलोक तथा परलोक दोनों में अत्यन्त क्लेश, दुःख तथा शोक आदि का महासागर तथा नरक का कारण महापाप उत्पन्न होता है। शुभयोग से विवेकी पुरुषों को चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर की विभूति देनेवाले तथा सब तरह के सुख प्रगट करनेवाले पुण्य-कर्म का बन्ध होता है। जिस प्रकार अपनी स्त्री आसक्त होकर अपने पति के पास आ जाती है, उसी प्रकार जो इन योगों को रोककर परमात्मा का ध्यान करते हैं; उनके पास मुक्तिरूपी स्त्री अपने आप आ जाती है। हे भव्य ! स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त करने के लिए ध्यान तथा अध्ययनरूपी जाल से विषयरूपी मैदान में दौड़ते हुए इन योगरूपी हिरणों को तू बाँध। हे वत्स ! आज मैंने मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय तथा योग-ये पाँच बन्ध के कारण बतलाए हैं, ये सब पाप उत्पन्न करनेवाले हैं, समस्त दुःखों के समुद्र हैं, तीव्र हैं, दुष्ट हैं तथा चारों गतियों में परिभ्रमण करानेवाले हैं। विषयों में अन्धा हुआ यह मनुष्य ऊपर लिखे हुए मिथ्यात्व आदि पाँच कारणों के द्वारा एक सौ बीस कर्मों की असह्य प्रकृतियों का सदा बन्ध करता रहता है ॥१४०॥ उन कर्मों से घिरा हुआ तथा दुःख से व्याकुल यह जीव अशुभ-कर्म के उदय से सदा पहिले मिथ्यात्व गुणस्थान में ही रहता हुआ संसाररूपी वन में परिभ्रमण किया करता है। यह संसाररूपी समुद्र भयानक लहरों से भरा हुआ है, नरक ही इसके रंध्र हैं, जन्म-मरण एवं बुढ़ापा ही इसकी मछलियाँ हैं, इस समुद्र का कहीं अन्त नहीं है एवं अत्यन्त कठिनता से इसके पार जाया जा सकता है। ऐसे समुद्र में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र सहित, संयम रहित, यह भव्य अथवा अभव्य जीव रात-दिन डूबता एवं तैरता रहता है। किसी योग्य समय काललब्धि आदि को प्राप्तकर तथा सम्यग्दर्शन का घात करनेवाली सातों प्रकृतियों का उपशम कर, सुमार्ग को दिखानेवाला उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। तदन्तर यह मनुष्य अप्रत्याख्यानावरण-रूपी पाप-कर्म के क्षयोपशम से सब तरह के सुख देनेवाले बारह

व्रतों को धारण करता है । फिर प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होने से यह मनुष्य मुक्ति-रूपी स्त्री को प्रसन्न करनेवाले पूर्ण महाव्रतों को धारण करता है । तदनन्तर सम्यग्दर्शन का घात करनेवाली सातों प्रकृतियों का नाश कर यह जीव कर्म-रूपी शत्रुओं का नाश करनेवाला उत्तम एवं मोक्ष प्राप्त कराने में अति सक्षम क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है । इसके पश्चात् क्षायिक चारित्र से विभूषित हुआ वह सुयोग्य मुनि क्षपक श्रेणी में उत्तीर्ण होता है एवं शुक्लध्यानरूपी खड्ग से मोहरूपी शत्रु का नाश करता है । तदनन्तर वे मुनिराज दूसरे शुक्लध्यान से बाकी के तीनों घातिया-कर्मों का नाश करते हैं तथा समस्त लोक-अलोक को प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं । उस समय वे नव केवल-लब्धियों के स्वामी हो जाते हैं, अनन्त गुणों के सागर हो जाते हैं एवं तीनों लोकों के द्वारा पूज्य हो जाते हैं । तदनन्तर वे धर्मोपदेश दिया करते हैं ॥१५०॥ फिर वे केवली भगवान तीसरे शुक्लध्यान से योगों का निरोध करते हैं तथा चौथे शुक्लध्यान से समस्त कर्मों का नाश करते हैं । कर्म एवं शरीर का सम्बन्ध छूट जाने से वे एरण्ड के बीज के समान लोक के ऊपरी भाग तक ऊपर को गमन करते हैं तथा अनन्त स्वाभाविक गुणों को प्राप्त होते हैं । वहाँ पर वे सदा काल (हमेशा) सब तरह की बाधाओं से रहित, उपमा-रहित, आतंक-रहित एवं विषयों से रहित अविनाशी अनन्त सुख का उपभोग किया करते हैं । सम्यक्त्व आदि अष्ट गुणमय; अरूपी, नित्य, निरन्जन, सिद्ध भगवान मुक्ति-लक्ष्मी के साथ अनन्त काल तक सदा विराजमान रहते हैं । रत्नत्रय के सम्बन्ध से ऐसे भव्य-जीव अनुक्रम से संसाररूपी समुद्र को पार कर मोक्ष में जा विराजमान होते हैं एवं वहाँ पर सदा अनन्त सुख का अनुभव किया करते हैं ।' इस प्रकार जन्म से लेकर निर्वाण प्राप्त करने तक का कथन करनेवाली श्री जिनेन्द्रदेव की अमृत-वाणी का पान कर अमिततेज विद्याधर मोक्ष प्राप्त करने के समान सुख का अनुभव करने लगा । उस समय काल-लब्धि के प्राप्त हो जाने से अमिततेज ने स्वर्ग-मोक्ष के कारण सातों तत्वों का श्रद्धान करने योग्य सम्यग्दर्शन धारण किया । उस भव्य विद्याधर ने अपनी आत्मा का धर्म प्रकट करने के लिए अपने योग्य गृहस्थों के उत्तम व्रत धारण किये । तदनन्तर उस राजा ने अपने दोनों हाथ मस्तक से लगा कर भगवान को नमस्कार किया । तत्पश्चात् उसने अपने पहिले (पूर्व) भव-सम्बन्धी प्रश्न पूछे । वह पूछने लगा-'हे भगवन् ! हे केवलज्ञान से विभूषित परमदेव ! मेरे चित्त में आप से अन्य कुछ पूछने की इच्छा है ॥१६०॥ हे देव ! इस अशनिघोष विद्याधर

श्री शांतिनाथ पुराण

ने मेरी छोटी बहिन सुतारा का किस कारण से हरण किया ? कृपया आप मुझे बताइये । मैंने पहिले जन्म में ऐसा कौन-सा उत्तम पुण्य-कर्म किया था, जिससे मैं विद्याधरों का स्वामी हुआ तथा मुझे ऐसी महाविभूति प्राप्त हुई ? श्रीविजय पर मेरा अत्यधिक प्रेम किस कारण से है ? हे प्रभो ! मेरे हित के लिए कृपा कर इन तीनों प्रश्नों का उत्तर दीजिये ।' इस प्रकार जो भगवान के वचनों में अनुरक्त है, सम्यग्दर्शनरूपी रत्न का अद्वितीय पात्र है, परम धर्म का जाननेवाला है, ज्ञान-विज्ञान में चतुर है, अणुव्रतरूपी गुणों से शोभायमान है तथा सब विद्याधर जिसके चरणकमलों को नमस्कार करते हैं ऐसे अमिततेज विद्याधर ने श्री जिनेन्द्र भगवान से इन उत्तम प्रश्नों को पूछा । तीनों लोक जिनके उत्तम चरण-कमलों की पूजा करते हैं, जो अत्यन्त निर्मल हैं, संसार के समस्त तत्वों को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान हैं, सबका हित करनेवाले हैं, अनन्तज्ञान आदि अनेक गुणरत्नों के समुद्र हैं, मुक्तिरूपी रमा के उत्तम वर हैं तथा संसाररूपी समुद्र से पार करानेवाले हैं, ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव सब का उपकार करने के लिए भव्य अमिततेज की पूर्वभव सम्बन्धी धर्म-कथा कहने लगे । जिन्होंने कर्मरूपी समस्त शत्रुओं को नष्ट कर दिया है, जो पाँचवें चक्रवर्ती हैं जिन्होंने कामदेव का सारा अभिमान जीत लिया है, तथापि जो कामदेव के समान हैं, अत्यन्त रूपवान हैं एवं समस्त गूढ़ तत्वों को जाननेवाले हैं, ऐसे सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्रदेव अपनी कीर्ति से तीनों लोकों में शोभायमान होते रहें ।

इस प्रकार श्री शान्तिनाथ पुराण में अमिततेज के द्वारा धर्म-सम्बन्धी प्रश्न पूछनेवाला चौथा अधिकार समाप्त हुआ ॥४॥

पाँचवाँ अधिकार

अपने आरम्भ किए हुए कार्य को सुसम्पन्न करने के लिए तीनों लोक जिसकी सेवा करते हैं, विद्वान लोग जिसकी पूजा करते हैं एवं जो सब जीवों का हित करनेवाली है, ऐसी जिनवाणी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ श्री जिनेंद्रदेव अमिततेज के पूर्व भव कहने लगे-'इसी जम्बूद्वीप के मंगलादेश की अलका नगरी में धरणीजड़ नाम का एक ब्राह्मण रहता था । उसकी ब्राह्मणी का नाम अग्निला था । उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए थे-एक का नाम इन्द्रभूति एवं दूसरे का नाम अग्निभूति था । वे दोनों भाई मिथ्याज्ञानी थे । उसी धरणीजड़ के अशुभ-कर्म के उदय से कपिल नाम का एक दासी पुत्र था, जो तीक्ष्ण बुद्धि था । जब ध

रणीजड़ अपने दोनों पुत्रों को वेद पढ़ाया करता था, तब उसे सुनकर वह कपिल भी वेद याद कर लेता था। कपिल के वेद पढ़ने के रहस्य को जानकर उस ब्राह्मण ने उसे जबर्दस्ती घर से निकाल दिया; परन्तु वह कपिल बाहर जाकर भी शीघ्र ही वेद-वेदांग का पारगामी हो गया। अथानन्तर-इसी जम्बूद्वीप के मलय देश में रत्नसन्चयपुर नाम का नगर है, वहाँ पर अपने पूर्वोपार्जित पुण्य-कर्म के उदय से श्रीषेण नाम का राजा राज्य करता था। वह राजा कान्तिवान था, अत्यन्त रूपवान था, नीति-मार्ग की प्रवृत्ति करनेवाला था, शूर था, धीर-वीर था, राजाओं के द्वारा पूज्य था, शत्रुओं को जीतनेवाला एवं गुणों का समुद्र था। वह जिन-धर्म में अपना चित्त लगाता था, शास्त्रों का जानकार था, सत्यनिष्ठ था, उसे किसी तरह की कोई बाधा नहीं थी कोई रोग नहीं था एवं वह सुखसागर में निमग्न था। वह सदा पात्र-दान करता था, श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करने में तत्पर रहता था, गुरु में भक्ति रखता था, सदाचारी था, विवेकी था; पुण्यवान था एवं उत्तम था। वह हार, कुण्डल, केयूर, मुकुट आदि आभरणों से सुसज्जित था एवं दिव्य वस्त्रों से विभूषित था। इसलिए वह अपने रूप से कामदेव को भी जीतता था ॥१०॥ इस प्रकार राज्य-लक्ष्मी को वश में करनेवाला श्रीषेण राजा अपने शुभ-कर्म के उदय से न्यायपूर्वक अपनी प्रजा का पालन करता था। उस श्रीषेण के पुण्य-कर्म के उदय से रूपवती, लावण्यमयी एवं शुभ लक्षणों से सुशोभित सिंहनिन्दिता एवं अनिन्दिता नाम की दो रानियाँ थीं। सिंहनिन्दिता के शुभ-कर्म के उदय से चन्द्रमा के समान अत्यन्त रूपवान एवं शुभ लक्षणों से सुशोभित इन्द्र नाम का पुत्र हुआ था। धर्म के प्रभाव से अनिन्दिता के रूपवान, गुणवान एवं ज्ञान-विज्ञान का पारगामी उपेन्द्र नाम का पुत्र हुआ था। जिस प्रकार पापों को नाश करनेवाले मुनिराज सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र से सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार शत्रुओं को जीतनेवाला वह राजा उन दोनों सुन्दर पुत्रों से शोभायमान होता था। उसी नगर में सात्यकी नाम का एक ब्राह्मण रहता था; उसकी ब्राह्मणी का नाम जम्बू था एवं उसके गुणों से सुशोभित सत्यभामा नाम की पुत्री थी। पहिले कहा हुआ धरणीजड़ का दासी-पुत्र कपिल जनेऊ धारण कर ब्राह्मण के रूप में उसी रत्नसन्चयपुर नगर में आया। उसे रूपवान एवं वेद का पारगामी देखकर सात्यकी उसे अपने घर ले गया एवं अपनी पुत्री सत्यभामा का विवाह उससे कर दिया। रात्रि में सत्यभामा को जब कपिल की नीच चेष्टाओं का पता चला-तब यह अच्छे कुल का नहीं है' इस चिन्ता ने उसे आ घेरा। वह सोचने लगी कि

श्री शांतिनाथ पुराण

मनुष्यों को हलाहल विष खा लेना अच्छा है, सर्प का साथ करना अच्छा है, जलती हुई अग्नि या अथाह सागर में कूद पड़ना अच्छा है, परन्तु नीच मनुष्यों की संगति करना अच्छा नहीं है ॥२०॥ ऐसा विचार कर पवित्र हृदयवाली वह धीर-वीर सती सत्यभामा कपिल से कुछ विरक्त-सी होकर अपने चित्तम में सदा खेद-खिन्न रहने लगी । इधर कर्मयोग से धरणीजड़ दरिद्र हो गया था एवं उसने जब कपिल के वैभव की बात सुनी तो धन की इच्छा से वह उसके पास आया । कपिल ने लोगों से कहा कि ये मेरे पिता हैं, तो लोगों ने उसका आदर-सत्कार किया । वह ब्राह्मण सुखपूर्वक कपिल एवं सत्यभामा के घर पर रहने लगा । एक दिन सत्यभामा ने धरणीजड़ ब्राह्मण को बहुत-सा धन देकर बड़ी विनय के साथ उससे कपिल के कुल के सम्बन्ध मे पूछा । उत्तर में ब्राह्मण ने कहा-'हे पुत्री । यह तेरा पति कपिल मेरी दासी का पुत्र है । इस दुष्ट ने ब्राह्मण का कपट भेष बना लिया है ।' आचार्य कहते हैं-देखो, कुटिला या पर-स्त्री आदि से उत्पन्न हुए मूर्खों के गुप्त महापाप भी कुष्ठ रोग के समान शीघ्र ही प्रकट हो जाते हैं । यह सुनकर उस पुण्यवती सत्यभामा ने अपने शील-भंग होने के डर से कपिल का त्याग कर दिया एवं राजमहल में जाकर राजा की शरण ली । इतने दिन तक उसने कपट करने का पाप किया था, इसलिए राजा ने दुष्ट कपिल को गर्दभ (गधे) पर चढ़वा कर अपने राज्य से बाहर निकाल दिया । दान-पुण्य आदि गुणों से शोभायमान एवं शीलव्रत से विभूषित वह सती (पतिव्रता) सत्यभामा राजमहल में ही सुखपूर्वक रहने लगी ।

अथानन्तर-पुण्योपार्जन करने में तत्पर वह श्रीषेण राजा पात्र-दान देने के लिए प्रतिदिन स्वयं द्वारापेक्षण करता था ॥३०॥ एक दिन अमितगति एवं अरिंजय नाम के दो आकाशगामी चारण मुनि उसके गृह पर पधारे । वे दोनों मुनिराज सब प्रकार के परिग्रहों से रहित थे; परन्तु गुणरूपी सम्पदाओं से रहित नहीं थे । तपश्चरण से उनका समस्त शरीर कृश हो गया था एवं वे रागद्वेष से सर्वथा विमुक्त थे । वे संसार की विभूति में निर्लोभी थे, तथापि मोक्ष-साम्राज्य प्राप्ति की उन्हें बड़ी लिप्सा थी । वे समस्त जीवों का हित करनेवाले थे, धीर-वीर थे एवं ज्ञान-ध्यान में सदा तत्पर रहते थे । यद्यपि वे स्त्री की वाँछा से रहित थे, तथापि मुक्ति रूपी स्त्री में बड़े ही आसक्त थे । मनुष्य एवं देव सब उनकी पूजा करते थे; वे तीनों काल सामायिक करते थे तथा रत्नत्रय से सुशोभित थे । वे इच्छा तथा अहंकार से रहित थे, मूलगुण तथा उत्तरगुण की खानि थे तथा भव्य-जीवों को संसाररूपी समुद्र से पार कराने के लिए जहाज के समान थे।

वे ज्ञानरूपी महासागर के पारगामी थे, पृथ्वी के समान क्षमा धारण करनेवाले थे तथा कर्मरूपी ईंधन को जलाने के लिए वे अग्नि के समान थे, वे जल के समान स्वच्छ हृदय के थे, वायु के समान सब देशों में विहार करनेवाले थे। वे दोनों मुनिराज अपने धर्म का (आत्मा के धर्म) का उद्योत करनेवाले थे, चतुर थे तथा प्रतिदिन वन में निवास करनेवाले थे। वे दोनों ही विद्वान मुनि चौरासी लाख उत्तरगुणों से विभूषित थे तथा शील के अठारह हजार भेदों से सुशोभित थे। ऐसे वे दोनों मुनिराज आहार लेने के लिए राजा के घर पधारे। जिस प्रकार राजा के अर्थ-कोष को देख कर दरिद्र प्रसन्न होता है, उसी प्रकार मनुष्यों को मोक्ष प्राप्त करानेवाले उन दोनों मुनिराजों को देख कर राजा श्रीषेण बहुत ही प्रसन्न हुआ। राजा ने अपना मस्तक झुका कर उन दोनों मुनिराजों के चरणकमलों को नमस्कार किया तथा 'तिष्ठ-तिष्ठ' कह कर दोनों को विराजमान किया ॥४०॥ श्रेष्ठ दान देने में तत्पर उस राजा के उस समय श्रद्धा, शक्ति, निर्लोभ, भक्ति, ज्ञान, दया तथा क्षमा-दाता के ये सातों गुण प्रकट हो गए थे। प्रतिग्रह, उच्च-स्थान, पाद-प्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, कायशुद्धि, वाक्शुद्धि, मनशुद्धि तथा आहारशुद्धि-ये नौ प्रकार की भक्ति कहलाती है। यह नवधाभक्ति पुण्य की जननी है तथा इसलिए पुण्य को उत्पन्न करनेवाली है। उस दान के समय राजा ने वे नव भक्तियाँ की थीं। जो विशुद्ध हो, प्रासुक हो, मिष्ट हो, कृतकारित आदि दोषों से रहित हो, मनोज्ञ हो, छहों रसों से परिपूर्ण हो एवं ध्यान-अध्ययन आदि को बढ़ानेवाला हो-उसे श्रेष्ठ आहार कहते हैं। उस राजा ने मोक्ष प्राप्त करने के लिए उन दोनों चारण-मुनियों को विधिपूर्वक ऊपर लिखे हुए सातों गुणों से युक्त तृप्त करनेवाला उत्तम आहार दिया। दोनों रानियों ने भी उस श्रेष्ठ दान की अनुमोदना कर भक्तिपूर्वक मुनियों की सुश्रूषा, नमस्कार, विनय आदि के द्वारा यथेष्ट पुण्य-सम्पादन किया था। सत्यभामा ब्राह्मणी ने दीन होने पर भी बड़ी भक्ति से आदर-सत्कार आदि के द्वारा उन मुनिराजों की सेवा की थी, इसलिये उसने भी रानियों के समान ही पुण्य-सम्पादन किया था। इस प्रकार उन लोगों ने अच्छे परिणामों से पात्र-दान देकर उसी समय महापुण्य सम्पादन किया था। ठीक ही है, क्योंकि अच्छे परिणामों से क्या नहीं प्राप्त हो सकता है ? उन दोनों मुनिराजों ने समभावों से आहार लिया तथा अपने पदार्पण से उस गृह को पवित्र कर शुभ आशीर्वाद दे वे आकाश-मार्ग से गमन कर गए। उस आहार दान से उत्पन्न आनन्द-रस से तृप्त-हृदय वह राजा अपने जीवन को कृतकृत्य एवं गृहस्थाश्रम को सफल मानने लगा

श्री शांतिनाथ पुराण

॥५०॥ अथानन्तर-कौशाम्बी नगर में पुण्य-कर्म के उदय से महाबल नाम का राजा राज्य करता था; उसकी रानी का नाम श्रीमती था तथा उन दोनों के श्रीकान्ता नाम की पुत्री थी । रूप-लावण्य आदि गुणों से विभूषित श्रीकान्ता का विवाह पुण्य-कर्म के उदय से श्रीषेण के पुत्र इन्द्र के साथ विधिपूर्वक हुआ था । राजा महाबल के अनन्तमती नाम की एक विलासिनी थी, जो कि रूपवती एवं गुणवती थी । राजा ने स्नेह-भेंट स्वरूप उसे श्रीकान्ता को दे दिया । किन्तु अनन्तमती रूपवान उपेन्द्र पर आसक्त हो उसके साथ काम-भोग आदि करके भ्रष्टा हो गई । उस विलासिनीके लिए वे दोनों भाई परस्पर युद्ध करने लगे । आचार्य कहते हैं-देखो, मनुष्यों के ऐसे भोगादि सुखों को धिक्कार है, जिसके लिए भाई-भाई में परस्पर युद्ध हो जाए । इन बातों को सुनकर राजा श्रीषेण को अपनी आज्ञा भंग होने का बहुत दुःख हुआ तथा पाप-कर्म के उदय से वह विषफल को सूंघकर मर गया । तत्पश्चात् वह धातकीखंड द्वीप में पूर्वमेरु के उत्तर दिशा की ओर उत्तर कुरु नाम की सुख देनेवाली भोगभूमि में लावण्य आदि से सुशोभित आर्य उत्पन्न हुआ । सिंहनिन्दिता रानी भी उसी विषफल को सूंघ कर मर गई एवं प्रदत्त दान से उत्पन्न हुए धर्म के प्रभाव से उसी भोगभूमि में उसी आर्य की आर्या उत्पन्न हुई । दूसरी रानी अनिन्दिता की मृत्यु भी उसी प्रकार हुई तथा वह स्त्रीलिंग छेद कर महापुण्य के उदय से उसी भोगभूमि में आर्य हुई । वह सत्यभामा ब्राह्मणी भी प्राणों को त्याग कर धर्म के प्रभाव से उस अनिन्दिता के यहाँ आर्या हुई ॥६०॥ आचार्य कहते हैं-'देखो, अपमृत्यु वा अपघात से मर कर भी, केवल उस महादान के फल से ही, वे लोग शुभगति को प्राप्त हुए थे; इसलिए यह कहना उचित होगा कि दान देना उत्तम है । इधर वे दोनों भाई युद्ध कर रहे थे; परन्तु पूर्व जन्म के स्नेह के कारण मणिकुण्डल नामक विद्याधर ने आकर उनको युद्ध से विरत किया । वह कहने लगा-हे राजकुमारों ! मैं एक कथा कहता हूँ, तुम अपना ईर्ष्याभाव त्याग कर तथा चित्त को शान्त कर सुनो, क्योंकि वह कथा तुम दोनों का हित करनेवाली है । देखो, धातकीखण्डद्वीप में पूर्वमेरु सम्बन्धी पूर्व विदेहक्षेत्र है, जो कि सद्धर्म एवं तीर्थंकर आदि से सुशोभित है । उस क्षेत्र के पुष्कलावती देश में एक विराट रूपाचालपर्वत शोभायमान है, जो कि ऊँचा है, जिन चैत्यालयों से विभूषित है एवं दूसरे मेरु के समान जान पड़ता है । उस पर्वत की दक्षिण श्रेणी में आदित्याभ नाम काएक सुन्दर नगर है तथा उसमें पुण्य-कर्म के उदय से कुण्डलों से सुशोभित सुकुण्डली नाम का एक राजा राज्य करता है । उसकी रानी का नाम

श्री शांतिनाथ पुराण

अमिततेजसेना है तथा उन दोनों का बुद्धिमान पुत्र मणिकुण्डल मैं हूँ । पुण्डरीकिणी नगरी में अतिप्रभ नामक केवली भगवान के पास जाकर तथा उन्हें नमस्कार कर मैं ने अपने पूर्व भव की कथा पूछी थी । तब भगवान ने जो कुछ मुझसे कहा था, वही मैं तुम लोगों से इस समय कहना चाहता हूँ, क्योंकि तीर्थंकर के मुख से कही हुई वह कथा बड़ी मनोहर है तथा तुम दोनों का हित करनेवाली है ॥८०॥ देखो-पुष्करद्वीप में जिन चैत्यालयों का आश्रयभूत पश्चिम मेरु पर्वत है; उसके पूर्व की ओर त्रिवर्णाश्रम से सुशोभित विदेहक्षेत्र है । उसमें एक वीतशोका नगरी है, जिसमें चक्रायुध नाम का राजा राज्य करता था तथा उसकी पुण्यशालिनी रानी का नाम कनकमाला था । कनकमाला के कनकलता तथा पद्मलता नाम की दो पुत्रियाँ थीं । उसी राजा के विद्वन्मती नाम की दूसरी पतिव्रता रानी भी थी, जिसके पद्मावती नाम की पुत्री थी । धर्म के प्रभाव से वे सब मिलकर अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव करते थे । एक दिन रानी कनकमाला पुण्य-कर्म के उदय से अपनी दोनों पुत्रियों के साथ गणिनी (व्रतधारी आचार्या) अमितसेना अर्जिका के पास पहुँची । उनके समीप जाकर सब ने नमस्कार किया तथा काल-लब्धि के प्राप्त हो जाने से सब ने गृहस्थों के व्रत अंगीकार किये । वे सब व्रतों को पालन कर सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्त्रीलिंग को छेद कर सौधर्म स्वर्ग में बड़े ऋद्धिधारी देव हुए । पद्मावती भी मरकर अपने पुण्योदय से सौधर्म स्वर्ग में एक अप्सरा हुई, जो कि बड़ी ही गुणवती थी । वे सब देवगण धर्म के प्रभाव से उत्पन्न हुए इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले उत्तम सुखों एवं ऋद्धियों का तथा देवियों आदि के सम्बन्ध से प्रकट होनेवाले सुखों का अनुभव करने लगे । अपनी आयु के पूर्ण हो जाने पर वे सब वहाँ से च्युत हुए एवं पुनर्जन्म धारण किया । उनमें से कनकलता का जीव मणिकुण्डल मैं हुआ हूँ । कनकलता, पद्मलता दोनों पुत्रियों के जीव स्वर्ग से देव पर्याय त्याग कर शेष पुण्य-कर्म के उदय से इन्द्र तथा उपेन्द्र नाम के तुम दोनों राजपुत्र उत्पन्न हुए हो ॥८०॥ तथा पद्मावती का जीव, जो सौधर्म स्वर्ग में अप्सरा हुई थी, वह वहाँ से चय कर यह रूपवती अनन्तमती विलासिनी हुई है । श्री अमितप्रभ तीर्थंकर से यह शुभ एवं उत्तमकथा सुनकर पहिले जन्म के स्नेह से तुम्हें समझाने के लिए मैं आया हूँ । इस कथा को सुनकर उन दोनों भाईयों ने अपनी निन्दा की तथा विरक्त होकर वे दोनों भाई शुभ-कर्म के उदय से सुधर्म नाम के मुनिराज के समीप पहुँचे । उन दोनों ने उन मुनिराज को नमस्कार किया; विरक्त होकर बाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग किया तथा

उत्कृष्ट संयम धारण कर लिया । उन दोनों मुनिराजों ने शुक्लध्यान रूपी अग्नि से कर्मरूपी ईंधन को शीघ्र ही जला दिया तथा घोर तपश्चरण के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया । उन दोनों ने सूक्ष्मध्यानरूपी शस्त्र से समस्त कर्मों का नाश किया तथा वे दोनों मनुष्य शरीरों को नष्ट कर मोक्ष में पधार अनन्त-गुणों के पात्र बन गये । अनन्तमती ने भी श्राविका के सम्पूर्ण व्रत धारण किये तथा कर्म के प्रभाव से स्वर्ग में उत्पन्न हुई । ठीक ही है, क्योंकि सज्जनों के अनुग्रह से भला क्या प्राप्त नहीं हो सकता है ?

अथानन्तर-राजा श्रीषेण आदि सब जीव (दोनों रानियों एवं सत्यभामा ब्राह्मणी) जो उत्तर कुरु नामक भोगभूमि में उत्पन्न हुए थे, वे पात्र-दान के प्रभाव से दश प्रकार के कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुए एवं अवर्णनीय सुखों का अनुभव करने लगे । मद्यांग, तूर्यांग, विभूषांग, मालांग, दीपांग, ज्योतिरांग, मृहांग, भोजनांग, पात्रांग तथा वस्त्रांग-ये दश प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं ॥९०॥ श्री जिनेन्द्रदेव ने भोगभूमि में दश प्रकार के कल्पवृक्ष कहे हैं । वे कल्पवृक्ष बड़े मनोहर होते हैं, रत्नमय होते हैं तथा अपनी कान्ति से सब दिशाओं को प्रकाशित करनेवाले होते हैं । मद्यांग जाति के वृक्ष, मधु, मैरेय, सीधु, अरिष्ट, आस्रव आदि सुगन्धित तथा अमृत के समान अनेक प्रकार के रसों को देते हैं । यह मद्य, मद्य नहीं है; किन्तु इसमें कामोद्दीपन की सामर्थ्य है-इसलिए उपचार से इसे 'मद्य' कहते हैं । वास्तव में यह एक प्रकार से वृक्षों का रस है, जिसे भोगभूमियों में लोग सेवन करते हैं । जो मद उत्पन्न करता है, जिसे मतवाले लोग पीते हैं तथा जो मन को मोहित करनेवाला है, ऐसे मद्य को आर्य लोग कभी नहीं पीते हैं । तूर्यांग जाति के वृक्ष भेरी, नगाड़े, घण्टा, शंख, मृदंग, झल्लरी तालकाहला आदि वाद्य-यन्त्र देते हैं । भूषणांग जाति के वृक्ष हार, केयूर, नूपुर, कुण्डल, करधनी, कंकण तथा मुकुट आदि आभूषण देते हैं । मालांग जाति के वृक्ष नागकेसर, चम्पा आदि सब ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले फूलों की अनेक प्रकार की मालाएँ देते हैं । दीपांग जाति के ऊँचे वृक्ष प्रतिदिन मणिमय दीपों से शोभायमान होते हैं एवं नये पत्तों, फूलों-फलों से जलते हुए दीपकों के समान जान पड़ते हैं । ज्योतिरांग जाति के वृक्ष सदा दैदीप्यामान होते हुए प्रकाश प्रदान करते हैं एवं करोड़ों सूर्यों के समान सब दिशाओं को प्रकाशित करते रहते हैं । गृहांग जाति के वृक्ष मण्डप, ऊँचे-ऊँचे राजभवन; राज-दरबार चित्रशाला, नृत्यशाला आदि देने में समर्थ होते हैं ॥१००॥ भोजनांग जाति के वृक्ष अमृत के समान स्वादिष्ट, पौष्टिक एवं (षट) छहों रसों से भरपूर भोजन आदि सुन्दर आहार

देते हैं । अशन, पान, खाद्य, सद्य-यह चार प्रकार का आहार कहलाता है । कड़वा, कषायला, चरपरा, मीठा, खट्टा एवं नमकीन-ये छः रस कहलाते हैं । पात्रांग जाति के वृक्ष सोने एवं रत्नों के बने हुए भृंगार, कचक, कलशा, थाली, करवा आदि बर्तन दिया करते हैं । वस्त्रांग जाति के वृक्ष कोमल, बारीक एवं बहुमूल्य रेशमी दुपट्टा एवं पहनने से कपड़े देते हैं । ये कल्पवृक्ष न तो वनस्पति हैं एवं न देवों के द्वारा बनाये हुए हैं; ये केवल पृथ्वी के बने हुए हैं । ये कल्पवृक्ष अनादि निधन हैं एवं स्वभाव से ही फल देनेवाले हैं । काल आदि से उत्पन्न हुए किसी भी निमित्त कारण की इनकी आवश्यकता नहीं है । जिस प्रकार आजकल के वृक्ष मनुष्यों का उपकार करते हैं, उसी प्रकार मनुष्यों के दान के फल से ये कल्पवृक्ष भी अनेक प्रकार के फलों से भरपूर रहते थे । भोगभूमि में मूंगा, सोना, हीरा, चन्द्रमा एवं नीलरत्न आदि से सुशोभित रहनेवाली पाँचों रंग की सुगन्धित पृथ्वी दिन-रात शोभा देती है । वहाँ की पृथ्वी हर समय सब इन्द्रियों को सुख देती रहती है एवं उस पर सदा कोमल-चिकनी चार अंगुल प्रमाण घास सुशोभित रहती है । वहाँ के पशु रसायन के रस की बुद्धि रखनेवाले होते हैं तथा स्वादिष्ट, कोमल एवं चिकनी घास को सदा चरते रहते हैं ॥११०॥ वहाँ पर क्रीड़ा-पर्वत भी बने हुए हैं, जो सुन्दर हैं, जिनमें से किरणें निकल रही हैं; सोना, मूंगा, रत्न आदि से बने हुए हैं एवं कल्पवृक्षों से शोभायमान हैं । वहाँ पर स्वच्छ जल से भरी हुई बावड़ी भी हैं, जिनमें रत्नों की सीढ़ियाँ लगी हुई हैं तथा स्थान-स्थान पर दोनों किनारे रत्नमय बालू से सुशोभित नदियाँ बहती रहती हैं । वहाँ के वन भी बड़ी शोभा देते हैं, जिनमें मदोन्मत कोकिल सदा कूकती रहती है । सब ऋतुओं के फल-फूल खिले रहते हैं एवं दूसरे देवारण्य के समान जान पड़ते हैं । वहाँ पर सूर्य का सन्ताप कभी नहीं होता; न बादलों से वर्षा होती है, न शीतकाल होता है तथा न कोई भय होता है । न वह चाँदनी होती है, न रात-दिन का विभाग होता है, न ऋतुएँ पलटतीहैं तथा न वहाँ पर किसी को दुःख देनेवाली भाव प्रकट होते हैं । वहाँ पर सिंह, सूअर, बिल्ली, बाघ, कुत्ता आदि निकृष्ट जानवर कभी मांसमक्षी तथा क्रूर नहीं होते है । शंख, चींटी, डाँस, मच्छर, खटमल, बीछी आदि विकलत्रय (दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय) जीव भी पैदा नहीं होते । वहाँ पर कौवा, गीध आदि पक्षी नहीं होते तथा सर्प आदि विषैले एवं दुष्ट मांसभक्षी जानवर भी होते । वहाँ पर रोगी, द्वेष करनेवाला; ज्वर से पीड़ित, बूढ़ा, दीन, कुरूप, बदसूरत, उन्मत्त (पागल), लंगड़ा, लूला आदि तथा दुःखी-दरिद्र, दुर्जन,

शोक करनेवाला; क्रोधी, अभिमानी, दुर्बल, दुश्वर (बुरी आवाजवाला), अशुभ, क्रूर तथा पाप-कर्म करनेवाला प्राणी कभी दिखाई नहीं देता ॥१२०॥ वहाँ पर न तो किसी को इष्ट-वियोग होता है, न अनिष्ट-संयोग होता है; न किसी का शील भंग होता है, न कोई अनाचार होता है; विषाद, ग्लानि, निन्द्रा, तन्द्रा (अलस) पलक से पलक लगना आदि कुछ नहीं होता। न शरीर सम्बन्धी मलमूत्र होता है, न लार टपकती है एवं न स्वेद (पसीना) बहता है। वहाँ पर सब भोगभूमियाँ उदीयमान सूर्य के समान होता हैं, सब पसीना-रहित, रज-रहित उत्तम एवं हार, कंकण, केयूर, मुकुट आदि आभूषणों से शोभायमान रहते हैं। सब के भोगोपभोग की सामग्री एक-सी होती है, सब का सुख एक-सा होता है, सब सुन्दर होते हैं एवं सब के वज्रवृषभ-नाराच-संहनन होता है। सबका स्वर मीठा होता है, देखने में सब मनोहर होते हैं, मन्दकषायी होते हैं, रूपवान होते हैं, शुभ होते हैं। सब दयालु एवं कोमल-हृदय होते है तथा समचतुरस्रसंस्थान वाले होते हैं। वहाँ के प्राणी कला, विज्ञान, चातुर्य आदि गुणों से सुशोभित होते हैं तथा शुभ-कर्म के उदय से ही वे सब आर्य स्वभाव से ही भद्र एवं उत्तम होते हैं। वहाँ पर उत्पन्न होने के बाद प्राणी सात दिन तक अपना मुंह ऊपर को किये हुए पड़े रहते हैं एवं अपने अंगूठे से उत्पन्न दिव्य रस का पान किया करते हैं। मुनीश्वर उनकी आगे की दशा का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि अगले सात दिनों तक वे दम्पति पृथ्वी पर रेंगते हैं; फिर तीसरे सप्ताह में वे उठ खड़े होते हैं, मीठे शब्द करते हैं एवं पृथ्वी पर लीलापूर्वक गिरते-पड़ते चलना सीखते हैं। उसके बाद चौथे सप्ताह में पैरों को स्थिर रखते हैं एवं फिर पाँचवें सप्ताह में कला, ज्ञान आदि गुणों से परिपूर्ण हो जाते हैं ॥१३०॥ छठवें सप्ताह में पूर्ण यौवन प्राप्त हो जाते हैं एवं वस्त्र-आभूषण आदि से सुशोभित वे भोगभूमियाँ बड़ी ही अच्छी जान पड़ती हैं। वे गर्भ में भी नौ महीने तक रत्नों के बने हुए घर के समान रहते है। एवं फिर दान के फल से बड़े सुख से उनका जन्म होता है। जब वे दोनों (दम्पति) उत्पन्न होते हैं, तब माता-पिता की मृत्यु हो जाती है। मरते समय माता को छींक आती है एवं पिता जम्भाई लेता है। इस प्रकार उनकी मृत्यु सुख से होती है। वहाँ पर जीवों के भाई-पुत्र आदि का संकल्प नहीं होता, उनके केवल पति-पत्नी का ही सम्बन्ध होता है, उनके अन्य किसी सम्बन्ध की कल्पना नहीं होती। उनके शरीर की ऊँचाई तीन कोस होती है, वे सम्पूर्ण लक्षणों से सुशोभित होते हैं एवं बुढ़ापा, रोग आदि उनके कुछ नहीं होता। श्री जिनेन्द्रदेव ने उन आर्यों की आयु तीन

पल्य की बतलाई है तथा उनका कभी कदलीघात नहीं होता एवं वे सदा यौवनावस्था में ही बने रहते हैं । वे तीन दिन के बाद बदरीफल के (बेर के) समान आहार लेते हैं, जो कि अमृतमय, दिव्य एवं महास्वादिष्ट होता है । वे आर्य सदा संकल्पमात्र से ही दश प्रकार के कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुए विभिन्न ऋतुओं में सुख देनेवाले भोगों का अनुभव किया करते हैं । सम्यग्दर्शन रहित भद्र पुरुष ही उत्कृष्ट पात्र को दान देने के कारण भोगोपभोग करनेवाले विलक्षण आर्य होते हैं । पात्र-दान की अनुमोदना से उदार हृदय के पशु भी भोगभूमि में भोगोपभोगों से भरपूर शुभ जन्म लेते हैं ॥१४०॥ केवल भोगों की इच्छा रखनेवाले मनुष्य, कुपात्र को दान देने से, इसी भोगभूमि में सुखी होते हैं। यदि सम्यग्दर्शन-रहित भी एक बार पात्र दान देता है, तो वह भोगभूमि में सुखसागर के मध्य में अवश्य जाकर मग्न होता है । प्रीति उत्पन्न करनेवाला तथा बाधा-रहित जो सुख भोगभूमियों में प्राप्त होता है, वह अनेक प्रकार की चिन्ता रखनेवाले चक्रवर्तियों को भला कहाँ मिल सकता है ? भोगभूमियों में रहनेवाले जीवों को दान से ही अनेक प्रकार की ऋद्धि प्राप्त होती हैं; दान से ही अनेक तरह के सुख मिलते हैं, दान से ही अनेक तरह के भोग मिलते हैं, दान से ही अनेक तरह के गुण प्राप्त होते हैं, दान से ही रूप-लावण्य आदि अनेक तरह की सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं एवं दान से ही अनेक तरह की प्रीति प्राप्त होती है । भोगभूमि में उत्पन्न होनेवाले सब आर्य पात्र-दान से उत्पन्न हुए महासुखों का उपभोग कर मन्द कषायरूप भावों से मरकर स्वर्ग को जाते हैं ।

अथानन्तर- श्रीषेण का जीव भी बहुत दिन तक वहाँ सुख भोगकर सौधर्म स्वर्ग के श्रीनिलय विमान में श्रीप्रभ नाम का देव हुआ । सिंहनिन्दिता का जीव भी भोगभूमि के सुख भोगकर उसी स्वर्ग के उसी विमान में विद्युत्प्रभा नाम की देवी हुई । अनिन्दिता का जीव भोगभूमि के सुखों का भोगकर उसी सौधर्म स्वर्ग में बिमलप्रभ नाम का देव हुआ । सत्यभामा ब्राह्मणी का जीव भी सुखपूर्वक प्राणों को त्याग कर पुण्य-कर्म के उदय से उसी विमान में शुक्लप्रभा नाम की देवी हुई ॥१५०॥ उन सब का शरीर निर्मल था, सात धातुओं से तथा नख-केश आदि से रहित था एवं आँखों की टिमकार से मुक्त था । उन सबके मति, श्रुति, अवधि-ये तीन ज्ञान थे, आठ ऋद्धियों से वे सुशोभित थे, मानसिक आहार से सन्तुष्ट हो जाते थे, उनका शरीर वैक्रियक था एवं वे बड़े ही रूपवान थे । उनके रोग-क्लेश-विषाद आदि कभी नहीं होते

थे, उनका हृदय सदा शुभ रहता था, वे बड़े ही निर्मल थे, मधुर-भाषी थे, सुन्दर एवं नेत्रों को सुख देनेवाले थे। वे सब दिव्य माला, दिव्य वस्त्र एवं आभूषणों से सुशोभित थे, शुभ लक्षणोंवाले थे, स्वेद-रहित थे, सुन्दर थे, समचतुरस्र-संस्थान थे एवं सुन्दर आकृतिवाले थे। पूर्व-जन्म में उपार्जन किये हुए पुण्य-कर्म के उदय से वे सब देव तथा देवियाँ रूप, लावण्य तथा शोभा से सुशोभित थे तथा अनेक गुणों से विभूषित थे। वे सब दिव्य सामग्री लेकर मेरु पर्वत, नन्दीश्वर द्वीप आदि स्थानों के अकृत्रिम चैत्यालयों में जाकर भगवान की पूजा करते थे। वे देव परलोक सम्बन्धी सुख प्राप्त करने के लिए कर्म-भूमियों में जाकर बड़ी भक्ति से प्रतिदिन श्री जिनेन्द्रदेव की वन्दना करते थे। वे देव तत्वों को जानने के लिए तथा उन पर श्रद्धान करने के लिए अपने परिवार के साथ श्री तीर्थंकर के मुख से प्रगट हुई जिनवाणी को सुनते थे। वे देव दिव्य भवनों में मेरु पर्वत पर, वनों में तथा द्वीप समुद्रों में अपनी-अपनी देवियों के साथ सदा अनेक तरह की क्रीड़ा किया करते थे ॥१६०॥ वे देव अपनी अपनी देवियों के साथ मधुर गीत सुनते थे, सुन्दर नृत्य देखते थे तथा अनेक तरह के भोग भोगते थे। स्वर्ग में अनन्त सुख है; इसलिए आनन्द-रस से तृप्त हुए तथा सुख-सागर में निमग्न हुए वे देव बीतते हुए समय का ज्ञान भी नहीं कर पाते थे। अपने पुण्य-कर्म के उदय से उन चारों जीवों की पाँच पल्य की आयु थी, जो सब तरह के दुःखों से, बाधाओं से रहित थी तथा सुख का स्थान थी। उस आयु को पूरी कर तू (श्रीषेण का जीव) वहाँ से चयकर पुण्य-कर्म के उदय से यहाँ अर्ककीर्ति राजा का अमिततेज नाम का पुत्र हआ है। रानी सिंहनिन्दिता का जीव, जो स्वर्ग में विद्युत्प्रभा देवी थी, वहाँ से चय कर शुभ-कर्म के उदय से ज्योतिप्रभा नाम की तेरी स्त्री हुई है। रानी अनिन्दिता का जीव, जो स्वर्ग में देव था, वहाँ से चयकर पुण्य के फल से यह बुद्धिमान श्रीविजय हुआ है, जो कि तुझसे बहुत स्नेह करता है। सत्यभामा ब्राह्मणी का जीव; जो स्वर्ग में देवी थी, वहाँ से चयकर शुभ-कर्म के उदय से पुण्यवती एवं शुभ-लक्षणों से सुशोभित यह सुतारा हुई है। ऐरावती नदी के किनारे रथभूत-रमण नामक वन में एक तापस का आश्रम था, जिसकी भूमि पूर्णरूप से जली हुई थी एवं जो मिथ्यात्व से भरपूर था। उसमें कौशिक नाम का एक तपस्वी रहता था, जो कि मिथ्या तपश्चरण एवं मिथ्या व्रत करने में सदैव तत्पर रहता था। अशुभ-कर्म के उदय से चपलवेग नाम की स्त्री उसकी पत्नी थी। पूर्व-वर्णित कपिल नाम का मूर्ख ब्राह्मण बहुत दिनों तक चारों गतियों में परिभ्रमण

करता रहा एवं अनाचार करने के कारण उस तापस परिवार में मृगश्रृंग नाम का पुत्र हुआ । वह भी मिथ्यात्व-कर्म के उदय से संसार में परिभ्रमण करनेवाला पंचाग्नि आदि मिथ्या तपश्चरण ही किया करता था तथा मिथ्या व्रतों को ही पालता रहता था ॥१७०॥

एक दिन उसने चपलवेग विद्याधर की विभूति देखी एवं उसे देखकर उस मूर्ख ने उस विभूति को विद्वानों के द्वारा निन्दा करने योग्य तथा त्याज्य बताया । पहिले जन्म में किये हुए उस निदान के फलस्वरूप विद्याधरों के कुल में यह अशनिघोष विद्याधर हुआ है एवं पूर्व जन्म के स्नेह के कारण ही आज इतने सुतारा का हरण किया है । प्रेम, द्वेष, स्नेह एवं बैर-ये सब पूर्व जन्मों के सम्बन्ध से ही भव-भव में अनेक प्रकार से प्राणियों के साथ जुड़े रहते हैं । इसलिए हे राजन् ! अपनी आत्मा का हित चाहनेवालों को चाहिए कि वे कभी भी किसी दुर्बल प्राणी के साथ दुःखदायी बैर न बाँधें । हे राजन ! इस जन्म के नौवें भव में तू श्री शान्तिनाथ नाम का सोलहवाँ तीर्थंकर तथा पाँचवाँ चक्रवती होगा । इस प्रकार भगवान-रूपी चन्द्रमा की वाणी-रूपी चाँदनी से उस विद्याधर की हृदय-रूपी कुमुदिनी का मुख पूर्ण-रूप से विकसित हो गया । उस समय वह विद्याधर अपने तीर्थंकर पद की प्राप्ति की घोषणा सुन कर अत्यन्त आनन्द-मग्न हो गया एवं अपने को ऐसा मानने लगा, मानो उसे अरिहन्त की विभूति प्राप्त हो गई हो । अशनिघोष विद्याधर ने भी अपनी पूर्व कथा सुन कर पहिले अपनी आत्मा की यथेष्ट निन्दा की एवं तदनन्तर परम वैराग्य को प्राप्त कर वहीं पर संयम धारण कर लिया ।

इस कथा को सुन कर अशनिघोष की माता आसुरी को भी स्वर्ग-मोक्ष देनेवाला संवेग प्राप्त हुआ तथा उसने भगवान के वचनानुसार कर्मों को नाश करनेवाली जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली । श्रीविजय की माता स्वयंप्रभा भी सांसारिक देह तथा भोगों से विरक्त हुई एवं कर्मरूपी शत्रुओं का नाश करने के लिए उसने मोक्ष प्राप्त करनेवाला संयम धारण कर लिया ॥१८०॥ सुतारा भी अपने पूर्व-भव सुनकर विरक्त हुई तथा मोक्ष के लिए वैराग्यरूपी आभरणों से सुशोभित होकर कर्मों का नाश करनेवाला तपश्चरण करने लगी । श्रीविजय आदि शेष सब लोगों ने भक्तिपूर्वक श्री जिनेन्द्रदेव की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, उनको सादर नमस्कार किया तथा अमिततेज के साथ अपने योग्य स्थान के लिए प्रस्थान किया । व्रतों का समुदाय ही जिसका मुकुट है, ज्ञान ही जिसका कुण्डल है, यम-नियम ही जिसके शस्त्र हैं, सम्यग्दर्शन ही जिसका हार

है, शान्त परिणाम ही जिसका सुख है, शील ही जिसके वस्त्र है तथा मनुष्य, विद्याधर सब जिसकी पूजा व आदर-सत्कार किया करते हैं, ऐसा वह अमिततेज राजा पुण्य-कर्म के उदय से मुनिराज के समान शोभायमान होता था। साता वेदनीय-कर्म के उदय से जो अनेक प्रकार के सुखों को भोगता है, पुण्यकर्म के उदय से जिसे सब विद्याधर नमस्कार करते हैं तथा जो गुणों का एक महासागर है, ऐसा वह राजा अर्ककीर्ति का पुत्र अमिततेज विद्याधर, लोक में उत्पन्न हुई समस्त लक्ष्मी को प्राप्त हुआ था। इसलिए हे विद्वानों ! श्री जिनेन्द्रदेव ने जो कुछ भी कहा है, वह निर्मल है, तीर्थंकर की विभूति को देनेवाला है, श्रेष्ठ-दान तथा व्रतों से उत्पन्न होता है, देवगण भी जिसके लिए प्रार्थना करते हैं, जो सुखों की खानि है, नरकादि दुर्गतियों से रोकनेवाला है, अच्छे-अच्छे पदों को देनेवाला है तथा स्वर्ग की लक्ष्मी का घर है। इसलिये ऐसे पुण्य-कर्मों का सम्यग्दर्शन के साथ सदा शीघ्रता के साथ सम्पादन करते रहो। जिनके चरण-कमलों को देव तथा विद्याधर सब नमस्कार करते हैं, जो तीनों लोकों के अद्वितीय स्वामी हैं, जो निर्मल गुणों के समुद्र हैं, शान्ति देनेवाले हैं, धर्म के कर्त्ता हैं, अनेक श्रेष्ठ मुनिराज जिनकी सेवा करते हैं तथा जो मुक्तिरूपी स्त्री में अनुरक्त हैं, ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान अपनी निर्मल कीर्ति से सदा जयवन्त हों।

इस प्रकार श्री शान्तिनाथ पुराण में राजा श्रीषेण व श्री शान्तिनाथ के चार भवों का वर्णन करनेवाला पाँचवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥५॥

छट्ठा अधिकार

जो संसार भर को शान्ति देनेवाले हैं तथा तीनों लोक जिनकी पूजा करते हैं,, ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान को मैं अपने पाप विनष्ट करने के लिए प्रतिदिन नमस्कार करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर-अमिततेज विद्याधर सब पर्वों में हिंसा आदि आरम्भ को त्याग मोक्ष प्राप्त करानेवाला उपवास नियमपूर्वक करने लगा। जब कभी उसे राज्य के आरम्भादिक से कोई दोष लग जाता था, तो वह उस दोष को दूर करनेवाला योग्य प्रायश्चित भी कर लेता था। सब तरह की विभूति को देनेवाली तथा आठ द्रव्यों से होनेवाली महापूजा भी श्री जिनालय में जाकर वह बड़ी विभूति के साथ करता था तथा

अपने घर पर भी समयानुकूल पूजा किया करता था। वह अपने परिवार के साथ विमान में बैठकर मेरु पर्वत आदि क्षेत्रों के जिन चैत्यालयों में विराजमान जिन-प्रतिमाओं की वन्दना बड़ी भक्ति से सदा करता रहता था। वह राजा प्रतिदिन शुद्धतापूर्वक सुख का सागर एवं घर के सब पापों को दूर करनेवाला उत्तम चार प्रकार का दान मुनिराजों को दिया करता था। वह तीर्थंकरों के पुराणों में कही हुई, पदार्थों से संवेग प्रकट करनेवाली; महापुण्य उत्पन्न करनेवाली, सारभूत, मनोहर एवं उत्तम धर्म-कथा को सदा सुनता रहता था। अपने मन को जीतनेवाला वह राजा भव्य जीवों को सुख का सागर-रूप, सब जीवों का हित करनेवाले सारभूत धर्म का उपदेश दिया करता था। चारों गतियों में परिभ्रमण करानेवाले दुष्ट दर्शन-मोहनीय कर्म का नाश कर वह राजा मुक्तिरूपी स्त्री को वश करनेवाले निःशंकित आदि गुणों को बढ़ाता रहता था। वह राजा मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपना योग्यतानुसार स्वर्ग प्रदायक सारभूत व्रतों का यत्नपूर्वक निरतिचार पालन करता था ॥१०॥ मुनि के समान उसके परिणाम शान्त हो गये थे, पिता के समान वह प्रजा का पालन करता था एवं इहलोक तथा परलोक-दोनों लोकों का हित करनेवाले धार्मिक कार्यों में वह सदा अपनी प्रवृत्ति रखता था। अपने कुल में तथा अपनी जाति में उत्पन्न हुई प्रज्ञप्ति कामरूपिणी, अग्निस्तम्भिनी, उदकस्तम्भिनी, विश्वप्रवेशिनी, अप्रतिघातगामिनी, आकाशगामिनी, उत्पादनी, वशीकरणी, आवेशिनी, प्रस्थापिनी, प्रमोहनी, प्रहरणी, संक्रामणी, वर्तनी, संग्रहणी, भंजनी, विपाटनी, प्रवर्तनी, प्ररोदनी, प्रहापणी, प्रभावती, प्रलापनी, निक्षेपिणी, शवरी, चाण्डाली, मातगी, गौरी, षट्कांगिका, श्रीमुद्रनी, शतशंगकुला, कुम्भांडी, चिरवेगिनी, रोहिणी, मनोवेगा, चपलवेगा, चण्डवेगा, लघुकरी, पर्णालध्वाक्षिका, वेगवती, शीतवेताली, उष्णवेताली, महाज्वाला, सर्वविद्याछेदनी, युद्धवीर्या, बन्धनमोचनी, प्रहरावरणी, भ्रामरी, भोगिनी आदि बहुत-सी विद्याएँ उस अमिततेज विद्याधर ने अपने पुण्य-कर्म के उदय से स्वयं सिद्ध की थीं।

पुण्य-कर्म के उदय से वे सब विद्याएँ उसके सब तरह के कार्यों को करानेवाली थीं तथा अनेक तरह की मनोहर भोगोपभोग की सम्पदाओं को देती रहती थीं। धर्म के प्रभाव से उसे दोनों श्रेणियों का आधिपत्य मिल गया था; इसलिये वह दोनों श्रेणियों का चक्रवर्ती होकर विद्याधरों के योग्य भोगों का अनुभव करता था। किसी एक दिन ज्ञानवान् सब तरह के परिग्रहों से रहित तथा धीर-वीर दमवर नामक

एक चारण मुनि उस राजा के घर आहार लेने के लिए आये । राजा ने बड़ी भक्ति से उन मुनिराज की पड़गाहना की तथा केवल आत्म-सुख में लीन हुए उन श्रेष्ठ मुनिराज को अपना परलोक सुधारने के लिए मधुर आहार-दान दिया । उस दान के फल से उस राजा के घर इहलोक तथा परलोक-दोनों लोकों में उत्तम फल को प्रदान करनेवाली रत्न-वृष्टि आदि पंच-आश्चर्य प्रगट हुए । एक दिन धर्मोपदेश सुनने की इच्छा से प्रेरित होकर अमिततेज तथा श्रीविजय दोनों ही अमरगुरु तथा देवगुरु मुनिराजों के समीप गए । दोनों राजाओं ने उन दोनों मुनिराजों को मस्तक झुकाकर नमस्कार किया, उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं तथा फिर उनसे धर्म का यथार्थ स्वरूप पूछा ॥२०॥ तब अमरगुरु मुनिराज कहने लगे कि मैं धर्म के कुछ साधन बतलाता हूँ, तुम दोनों ही ध्यान लगाकर सुनो । मोक्ष देनेवाला निर्मल धर्म सम्यग्दर्शन से उत्पन्न होता है तथा सम्यज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा तपश्चरण से भी नियमपूर्वक वह धर्म प्राप्त होता है । मुक्तिरूपी स्त्री के चित्त को मोहित करनेवाला वह उत्तम धर्म मुनियों के उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों से प्रगट होता है । दूसरों को उत्कृष्ट धर्म का उपदेश देने से, दूसरों का उपकार करने से, मन-वचन-काय को शुद्ध रखने से, वह महाधर्म प्राप्त होता है । मुनीश्वरों को वह उत्तम-धर्म कायोत्सर्ग पालन करने से, धर्म-शुक्ल आदि उत्तम-ध्यान करने से तथा श्रेष्ठ मन्त्रों का जाप करने से प्राप्त होता है । गृहस्थों को वह पुण्य रूप धर्म, अणुव्रत आदि बारह व्रतों को पालन करने से, पात्रों को दान देने से तथा भगवान श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करने से प्राप्त होता है । इस प्रकार धर्म उपार्जन करने के बहुत से साधन हैं; उन सबको जानकर तुम दोनों को स्वर्ग-मोक्ष प्रदायक धर्म का उपार्जन करना चाहिए । पुण्य-कर्म के उदय से ही यह जीव परलोक में इन्द्र होता है, तीर्थंकर होता है, चक्रवर्ती होता है, बहुत-सी विभूतियाँ प्राप्त करता है, स्वर्ग प्राप्त करता है, कामदेव होता है, पूज्य होता है; सदा श्रेष्ठ सुखों को प्राप्त होता है, मान्य होता है, रूपवान होता है, धर्मात्मा होता है एवं अत्यन्त गुणी होता है । इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-सी विभूतियाँ को प्राप्त होता है । जिनकी बुद्धि धर्म में ही लगी हुई है, ऐसे वे मुनिराज उन दोनों के सामने इस प्रकार धर्म का स्वरूप, उसके हेतु-कारण एवं फल कह कर मौन हो गए ॥३०॥ वे दोनों राजे धर्म का यथार्थ स्वरूप सुन कर एवं उनके वचनामृतों का पान कर ऐसे सन्तुष्ट हुए, जैसे वे अजर-अमर हों । तदनन्तर जिन्हें देव-मनुष्य सब पूजते हैं, ऐसे मुनिराजों के चरणकमलों को नमस्कार कर श्रीविजय ने अपने पिता त्रिपृष्ट के पहिले भव

के सम्बन्ध में पूछा । मुनिराज ने अपने ज्ञान से विश्वनन्दि के भव से लेकर पुण्य उत्पन्न करनेवाले सारे भव कह सुनाए । यह सुन कर वह सोचने लगा-'देखो, विषयों में आसक्त होकर मैंने अनेक दुःखों को देनेवाले एवं महानिन्द्य भोगों में विश्वास किया था ।' तदनन्तर धर्म-ध्यान में तत्पर वे दोनों ही राजे अनेक तरह से पुण्योपार्जन कर उन दोनों मुनिराजों के चरण-कमलों को नमस्कार कर अपने घर को चले गये । वे दोनों ही राजे भूमिगोचरी एवं विद्याधरों के भोगों का अनुभव करते हुए पुण्योदय से प्राप्त अपने राज्य का शासन बहुत दिनों तक करते रहे । पुण्य-कर्म के उदय से एक दिन वे दोनों ही राजे विपुलमति एवं विमलमति नामक मुनियों के समीप पहुँचे । उन दोनों ही राजाओं ने तीनों लोकों के द्वारा पूज्य उन मुनिराजों के चरण-कमलों को मस्तक झुका कर नमस्कार किया तथा उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर बैठ गये । तब ज्येष्ठ मुनिराज ने उन दोनों के सामने समस्त दुःखों को दूर करनेवाला एवं समस्त सुखों का सागर धर्म का स्वरूप कहा-जो मुनि-श्रावक के भेद से दो प्रकार का है । तदनन्तर मुनिराज ने कहा कि तुम दोनों की आयु एक महीना शेष रह गई है, इसलिये अब तुम योग्य व्रत धारण कर लो ॥४०॥ यह सुनकर उन दोनों को ही भोग, शरीर, संसार एवं राज्य से वैराग्य उत्पन्न हुआ तथा शुभ परिणामों को धारणकर वे दोनों अपने-अपने घर लौट गये ।

अथानन्तर-वे दोनों ही चिन्तवन करने लगे-'देखो, यह आयु क्षण-क्षण में यों ही बीतती जाती है, तथापि मूर्ख अपनी आत्मा का हित करनेवाले धर्म का सेवन नहीं करते हैं । यह राज्य-लक्ष्मी बिजली एवं बादल के समान चन्चल है; ये भोग दुष्ट विषफल के समान अन्त में बहुत ही दुःख देनेवाले हैं । स्त्रियाँ दुर्गति को देनेवाली हैं एवं सर्पिणी के समान प्राणों का नाश करनेवाली हैं । सब धन-धान्य आदि को भक्षण करनेवाले माया-जाल के समान ये पुत्र हैं । यह परिवार अहित करनेवाला है; धर्म-दान-दीक्षा आदि को रोकनेवाला है एवं पाप की प्रेरणा देनेवाला है । इसलिये बुद्धिमान लोगों को इसका त्याग शत्रुओं के समान कर देना चाहिये । स्त्री आदि से उत्पन्न हुआ सुख सामायिक है, दुर्गति प्रदायक है, दुःख से उत्पन्न होता है एवं दुःख का कारण है; इसलिये वह दुःखरूप है, इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं । एक जन्म का नाश करनेवाले हलाहल का पान करना श्रेष्ठ है; परन्तु अनेक जन्मों में दुःख देनेवाले विषय-सेवन से उत्पन्न हुआ सुख भोगना उत्तम नहीं है । यह संसार विषमय है, अपार है, दुःखों से भरा हुआ है एवं जीवों

को सब तरह के दोष उत्पन्न करनेवाला है; इसमें विषयों में अन्धे हुए मनुष्य ही परिभ्रमण करते हैं । जो धर्म की नाव पर चढ़कर संसाररूपी समुद्र को पारकर मोक्ष नगर में जा विराजमान हुए हैं, वे ही सुखी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है । हम लोग बड़े मूर्ख हैं, जो विषयों में आसक्त होकर एवं राज्य का भार ढो-ढो कर इस दुर्लभ आयु का बहुभाग यों ही व्यर्थ गंवा देते हैं ॥५० ॥ इसलिए जब तक निर्दयी यम हमें लेने के लिए नहीं आ जाता, तब तक हमें अपना हित कर लेना चाहिए । उन दोनों धीर-वीर राजाओं ने इस प्रकार अपने मन में चिन्तवन किया एवं भोगों से विरक्त होकर द्विगुणित संवेग को प्राप्त किया । राजा अमिततेज ने अपने पुत्र अर्कतेज को एवं श्रीविजय ने अपने पुत्र श्रीदत्त को राज्य दे दिया तथा वैराग्य में तल्लीन होकर वे दोनों सिद्धकूट चैत्यालय में पहुँच गए । वहाँ पर जाकर वे दोनों ही अपनी आत्मा को विशुद्ध करने के लिए समस्त पापों को नाश करनेवाली श्री जिनेन्द्रदेव की अष्टाह्निका महापूजा भक्ति एवं विभूति के साथ करने लगे । पूजा करने के बाद वे दोनों ही राजा परलोक को सुधारनेवाले नन्दन नामक मुनिराज के समीप चन्दन नामक वन में पहुँचे । वहाँ जाकर मन, वचन एवं काय की शुद्धिपूर्वक मुनिराज के चरण-कमलों को नमस्कार किया तथा उनकी की आज्ञानुसार दोनों प्रकार के अशुभ परिग्रहों का त्याग कर उन दोनों ने जिन-मुद्रा धारण की । उन्होंने जीवन-पर्यन्त चार प्रकार के आहार का त्याग कर सन्तोषरूप आहार धारण किया अर्थात् जीवन-पर्यन्त आहार का त्याग कर संन्यास धारण किया तथा शुद्धतापूर्वक चारों प्रकार की आराधना करने लगे । वे दोनों ही मुनिराज अपनी शक्ति को प्रकट कर भूख-प्यास आदि से उत्पन्न हुए बाईस घोर परीषहों को यथाशक्ति करते थे । वे दोनों ही मुनि मन, वचन एवं काय की शुद्धतापूर्वक अपने मन में समस्त इच्छाओं को पूर्ण करनेवाले पंच-परमेष्ठी के महामंत्र का जाप करने लगे । वे दोनों ही मुनिराज समस्त पापों को दूर करने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार सब तरह सुख देनेवाले धर्मध्यान में ही रात-दिन संलग्न रहते थे ॥६०॥ तपश्चरण से उन दोनों का समस्त शरीर कृश हो गया था, हाथ-पैरों की शक्ति विलीन हो गई थी, केवल हड्डी-चर्म शेष रह गया था, दोनों नेत्र भीतर को धँस गये थे; परन्तु दोनों का हृदय शुद्ध था । उन दोनों ने शरीर से ममत्व त्याग दिया था, श्री जिनेन्द्रदेव के चरण-कमलों में अपना हृदय समर्पण कर दिया था । उन्होंने अशुभ ध्यान सर्वथा छोड़ दिया था तथा वैराग्य में ही अपना चित्त लगाया था । वे समस्त कर्मों का नाश करने के लिए दृढ़-संकल्प थे,

आत्मबल उनका सहायक था तथा शुभ भावों से सदा धर्मध्यान में तत्पर रहते थे। उनमें से शुद्ध बुद्धि को धारण करनेवाले अमिततेज ने विधिपूर्वक प्रायोपगम संन्यास धारण किया, चारों आराधनाओं का आराध न किया तथा समाधिपूर्वक प्राणों को त्याग कर वे आनत स्वर्ग के नन्द्यावर्त विमान में बड़ी ऋद्धि के धारी रविचूल नाम के देव हुए। श्रीविजय भी संन्यास की विधि से प्राणों को त्याग कर उसी स्वर्ग के स्वस्तिक विमान में मणिचूल नाम का देव हुआ। वहाँ पर सब विमान श्वेत रत्नों के बने हुए हैं, भूमि सब इच्छाओं को पूर्ण करनेवाली है एवं समस्त वृक्ष ही कल्पवृक्ष हैं। वहाँ के राजभवन बहुत ऊँचे हैं तथा मणियों की किरणों से आलोकित हैं; सभा स्थान बहुत ही मनोहर है तथा उपपाद स्थान बहुत-ही उत्तम हैं। वहाँ पर सौ योजन लम्बे, पचास योजन चौड़े तथा पचहत्तर योजन ऊँचे अकृत्रिम जिन-मन्दिर हैं। वे जिन-मन्दिर रत्न तथा सुवर्ण से बने हुए हैं, सदा सब दिशाओं को प्रकाशित करते रहते हैं, देव-देवियों से भरे रहते हैं तथा गाजे-बाजे आदि के शब्दों से भरपूर रहते हैं ॥७०॥ मन्दिरों में भगवान श्री जिनेन्द्रदेव की सर्वदा पूजा होती है तथा अनेकानेक उत्सव होते रहते हैं। ऐसे चैत्यालय रत्नों के बने हुए उपकरणों से सदा शोभायमान रहते हैं। प्रत्येक श्रीजिनमन्दिर में रत्नों की कान्ति से दैदीप्यमान तथा पाँच सौ धनुष ऊँची एक सौ आठ प्रतिमाएँ विराजमान हैं। वे चैत्यवृक्ष बड़े ही भले जान पड़ते हैं, जिन पर श्री जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाएँ विराजमान हैं, जो रत्नों तथा सोने के बने हुए हैं, बड़े ऊँचे हैं तथा इन्द्र भी जिनकी पूजा करते हैं। वहाँ के नगर, कोट व गलियों से शोभायमान हैं तथा देव-देवियों से भरे हुए हैं। वहाँ के क्रीड़ा पर्वत, वन, बावड़ी तथा तालाब बड़े मनोहर जान पड़ते हैं। वहाँ पर रात-दिन का विभाग नहीं होता, रत्नों का प्रकाश सर्वदा बना रहता है। वहाँ पर न सन्ताप होता है, न प्रबल वायु होती हे, न वर्षा होती है, न गर्मी-सर्दी की बाधा ही होती है। वहाँ पर न तो छहों ऋतुओं का परिवर्तन होता है तथा न चोर, शत्रु आदि का भय होता है। इस स्वर्गलोक में न कोई दुःखी है, न दरिद्र है, न हीन है, न कुरूप है, न कोई अंग-उपांग रहित है तथा न कोई कुमार्गगामी दिखाई देता है। वहाँ पर सदा उत्सव होता रहता है, गीत-नृत्यों में सब चतुर होते हैं, समय सदा शान्त बना रहता है, भाव शुभ होते हैं तथा सब देव सदा यौवनावस्था में ही बने रहते हैं। बहुत कहने से क्या लाभ है ? संसार में जो दुर्लभ तथा कठिन है, वह स्वर्ग में स्वभावतः ही दिखाई दे जाता है। उन दोनों ही देवों ने शुभ-कर्म के उदय से दिव्य-शैय्या सहित

शुद्ध रत्नमय शिला संपुट के भीतर जन्म लिया था ॥८०॥ दो घड़ी में ही वे यौवन अवस्था को प्राप्त हो गये थे, आठ ऋद्धियों को प्राप्त कर चुके थे तथा उनके तीनों ज्ञानरूपी नेत्र खुल गये थे। वे दोनों ही देव पुष्पमाला, वस्त्र, आभूषण पहने हुए थे, सुन्दर थे तथा दिव्य रूपवान थे। जब उन्होंने पुण्य-कर्म के उदय से अपने को देव पर्याय में उत्पन्न जाना, तब कल्पवृक्षों से प्राप्त होनेवाली अनेक तरह की पूजा की सामग्री लेकर वहाँ के जिनालय में जाकर भक्तिपूर्वक भगवान की पूजा की। तदनन्तर उन्होंने पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त अनेक देवियों को तथा विमान आदि से भरी हुई ऋद्धियों को ग्रहण किया। इस प्रकार वे धर्म के प्रभाव से गाजे, बाजे, नृत्य आदि से होनेवाले तथा देवियों के गुणों से प्रगट होनेवाले अनेक भोगों का उपभोग करते थे। उनका शरीर साढ़े तीन हाथ का था, उन्हें विक्रिया ऋद्धि प्राप्त थी तथा मोक्ष प्राप्त करने तक के हेतु सर्व सिद्धिदायक बीस अवधिज्ञान प्राप्त थे। उनकी आयु बीस सागर की थी एवं हजार वर्ष बाद वे अमृत के समान मानसिक आहार लेते थे। वे बीस पक्ष के बाद उच्छ्वास लेते थे तथा चित्त में देवांगनाओं के स्मरण-मात्र से ही वे काम-सुख से तृप्त हो जाते थे। वे दोनों देव बड़ी विभूति के साथ तीर्थंकरों के पन्च-कल्याणकों में जाकर भक्ति से उनकी पूजा करते थे। वे दोनों ही देव पुण्योपार्जन के लिए देवलोक, मनुष्यलोक तथा तिर्यन्चलोक में जाकर वहाँ स्थित अकृत्रिम जिन-प्रतिबिम्बों की पूजा किया करते थे ॥९०॥ स्वर्ग-मोक्ष के सुख प्राप्त करने के लिए वे देव गणधरों के तथा धर्मोपदेश देनेवाले मुनियों के चरण-कमलों को नमस्कार किया करते थे। धर्म-सेवन करने के लिए वे अपने परिवार के साथ श्री तीर्थंकर के समवशरण में जाकर उनकी उपमा-रहित दिव्य-ध्वनि सुनते थे। इस प्रकार वे प्रतिक्षण अनेक तरह के पुण्योपार्जन किया करते थे तथा सुखसागर में निमग्न होकर अनेक तरह के भोग भोगते रहते थे। जो देवियों के समूह के बीच बैठ कर पुण्य से प्राप्त हुए भोगों में लीन हो रहे हैं तथा जिनके परिणाम शुभ हैं, ऐसे उन दोनों देवों को समय का व्यतीत होना भी ज्ञात नहीं होता था। अथानन्तर-इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में वत्सकावती नाम का एक मनोहर देश है। उस देश में ध्यानमग्न मुनियों से सुशोभित बहुत-से वन हैं तथा धर्मात्मा लोगों से भरे हुए बहुत-से गाँव, खेट, नगर हैं। नगर के बहिर्भाग में कायोत्सर्ग धारण किए हुए अनेक मुनि विराजमान हैं। वहाँ स्वच्छ जल से भरी तथा पक्षियों के मनोहर शब्द से गुन्जायमान कितनी ही नदियाँ बहती रहती हैं। वहाँ पर निर्मल जल से भरे हुए तथा राजहंसों से

शोभायमान तालाब हैं एवं पग-पग पर कमलों से शोभित बावड़ियाँ हैं। वहाँ पर धर्मोपदेश देनेवाले, असंख्य जिनराज, देव-मनुष्यों के साथ प्रतिदिन विहार करते हैं । वहाँ पर चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण, कामदेव एवं असंख्य धर्मात्मा उत्पन्न होते रहते हैं ॥१००॥ केवलज्ञानी भी सब संघ के साथ विहार करते हैं तथा देवों के द्वारा पूज्य तथा सातों ऋद्धियों से सुशोभित गणधर देव भी विहार करते रहते हैं । वहाँ पर ऊँची ध्वजाओं से शोभायमान अनेक चैत्यालय हैं; जो मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका-इन चारों संघों से भरे हुए धर्म की खानि के समान हैं । वहाँ पर कुदेव, कुलिंगी, कुशास्त्र, कुधर्म तथा उनको प्ररूपण करनेवाले शास्त्र कभी दिखाई नहीं देते । वहाँ पर अनेक सुख देनेवाला अहिंसा तथा सत्यस्वरूप, मुनि श्रावक के भेद से दो प्रकार का जिन-धर्म सदा प्रवर्तमान रहता है । उसी देश के मध्य भाग में बड़ी मनोहर अनेक तरह की सैकड़ों ऋद्धियों से भरपूर तथा स्वर्ग के समान प्रभावशालिनी प्रभाकरी नाम की नगरी है । वह नगरी बारह योजन लम्बी है तथा नौ योजन चौड़ी है । अनेक पुण्यवान लोगों से भरी हुई वह नगरी दूसरीधर्म की खानिके समान जान पड़ती है । बाहर से नगरी में आने के लिए रत्नों की किरणों से शोभायमान एक हजार बड़े मार्ग हैं तथा ध्वजाओं से शोभायमान पाँच सौ छोटे मार्ग हैं । वहाँ पर ऊँचा अकृत्रिम कोट है, जल से भरी हुई खाई है, सोने के तथा रत्नों के बारह हजार बाजार हैं, एक हजार चौक हैं तथा मनुष्यों से भरे हुए मोक्षमार्ग के समान राजमार्ग हैं । करोड़ों भवनों में लगी हुई, देवों को वश में करनेवाली ध्वजाओं से वह नगरी ऐसी उत्तम जान पड़ती है, मानो वहाँ पर जन्म लेने के लिए वे अपने ध्वजारूपी हाथों से देवों को ही बुला रही हो ॥११०॥ वहाँ पर बजो-गाजे से भरपूर, सुवर्णमय सुन्दर श्रीजिन-मन्दिर ऐसे जान पड़ते हैं, मानों धर्म के सागर ही हों । उस नगरी में दान, पूजा करनेवाले पुण्यवान व्रती, सदाचारी तथा अच्छे लक्षणों वाले पुरुष निवास करते हैं । चारों प्रकार के संघ से सुशोभित सुख देनेवाली सदा उत्सवों से भरपूर एवं धर्म की खानि वह नगरी जिनवाणी के समान शोभायमान है । उस नगरी में उत्पन्न हुए कितने ही लोग मोक्ष प्रदायक दीक्षा धारण कर तथा तपश्चरण के बल से कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त करते हैं । कितने ही लोग गृहस्थ-धर्म का पालन कर भगवान की पूजा कर स्वर्ग जाते हैं एवं कितने ही दान देकर भोगभूमि के सुख प्राप्त करते हैं । ऐसे अनेक गुणों से शोभायमान उस नगरी में पुण्य-कर्म के उदय से धर्मात्मा स्तिमितसागर नाम का राजा राज्य करता था । वह राजा त्यागी था,

रूपवान था, न्यायमार्ग में तत्पर था, शूर-वीर था, धीर-वीर था एवं पुण्यवान था; इसलिए वह दूसरे विष्णु के समान जान पड़ता था। पुण्य-कर्म के उदय से उस राजा के रूपवती, लावण्यमयी, सती, सुन्दरी तथा आभूषणों से सुशोभिता वसुन्धरा नाम की रानी थी। रविचूल नाम का देव नन्द्यावर्त्य विमान से चय कर उन दोनों के अपराजित नाम का पुत्र हुआ। मणिचूल नाम का देव अपने स्वस्तिक विमान से चय कर उसी राजा की अनुमती रानी के श्रीमान् अनन्तवीर्य नाम का पुत्र हुआ ॥१२०॥ वे दोनों ही भाई अनुक्रम से बढ़ते हुए अस्त्र-शस्त्र आदि अब विद्याओं में निपुण हो गए एवं कुमार अवस्था को प्राप्त होकर कला, विज्ञान आदि सब शास्त्रों में सुशोभित हो गए। तदनन्तर वे दोनों ही राजपुत्र युवा अवस्था को प्राप्त हो गए। उनका शरीर पुण्य-कर्म के उदय से रूप की आभा से सुशोभित हो गया था। वे दोनों ही भाई जम्बूद्वीप के दो चन्द्रमाओं के समान जान पड़ते थे, क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा अपनी कान्ति से कुमुदिनियों के समूह को प्रफुल्लित करता है, उसी प्रकार वे दोनों भाई भी अपनी कान्ति से कुवलय अर्थात् पृथ्वी-मंडल को प्रसन्न करते थे। चन्द्रमा जिस प्रकार तृष्णा एवं सन्ताप को दूर करता है, उसी प्रकार वे दोनों भाई भी तृष्णा एवं सन्ताप को दूर करते थे। जिस प्रकार चन्द्रमा अनेक कलाओं को धारण करता है, उसी प्रकार वे दोनों भाई भी अनेक कलाओं को धारण करते थे। अर्थात् यों कहना चाहिए कि वे दोनों भाई सूर्य के समान थे; क्योंकि सूर्य जिस प्रकार पद्म अर्थात् कमलों को प्रफुल्लित करता है, उसका शरीर (पिंड) दैदीप्यमान रहता है, वह अन्धकार का नाश करता है, सदा उदयावस्था में रहता है एवं प्रतापी होता है; उसी प्रकार दोनों भाई भी पद्मा अर्थात् लक्ष्मी को आनन्दित करनेवाले थे। उनके शरीर दैदीप्यमान थे, पाप-रूप अन्धकार का नाश करनेवाले थे, सदा बढ़ते थे एवं बड़े प्रतापी थे। उनके वक्षःस्थल पर हार शोभा देता था, मस्तक पर मुकुट शोभायमान था, कानों में कुण्डल थे तथा समस्त शरीर आभूषणों से शोभित था। वे दोनों धीर-वीर भाई दिव्य वस्त्र पहिने रहते थे, अपने अतिशय रूप से कामदेव को भी जीतते थे एवं अपनी विभूति से लोगों को बतला रहे थे कि धर्म का फल कैसा होता है ? वे दोनों भाई न्याय-मार्ग में तत्पर थे, चतुर थे राजनीति की प्रवृत्ति करनेवाले थे, सब शत्रुओं को वश में करनेवाले थे, पुण्यवान थे एवं सत्यवक्ता थे। वे जिन-धर्म में लीन थे; दान, जिन-पूजा आदि करने में तत्पर थे, ज्ञान के अभ्यास में लगे रहते थे एवं देव तथा गुरुओं के चरणाविन्दों की सदा सेवा किया करते थे। उन दोनों भाईयों को अनेक

ऋद्धियाँ प्राप्त थीं; नारायण व बलभद्र का पद प्राप्त था; अनेक राजा उनकी सेवा करते थे एवं इसलिए वे इन्द्र व प्रतीन्द्र के समान जान पड़ते थे। अपने दोनों पुत्रों को राज्य भोगने के योग्य समझ कर राजा स्तिमितसागर लक्ष्मी-भोग एवं सुखादिकों से विरक्त हो गया। ठीक ही है; क्योंकि सज्जन लोग भोगों का अनुभव तब तक ही करते हैं, जब तक कि पुत्र योग्य न हो जाए। पुत्र के योग्य हो जाने पर वे उन सब को त्याग देते हैं ॥१३०॥ राजा स्तिमितसागर ने सबसे पहिले श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा की एवं फिर बड़ी विभूति के साथ अभिषेक कर अपने बड़े पुत्र अपराजित को राज्य दे दिया। उसने बड़े उत्सव के साथ दूसरे पुत्र अनन्तवीर्य को युवराज पद दिया। इस प्रकार उस राजा ने सब भोगों की इच्छा त्याग दी; केवल चारित्र की इच्छा करने लगे। वह राजा, स्वयंप्रभ नामक तीर्थंकर देव के समीप पहुँचा एवं धर्मोपदेश देनेवाले उन श्री जिनेन्द्रदेव को बड़ी भक्ति से नमस्कार किया। तीर्थंकर की आज्ञानुसार उसने सब परिग्रहों का त्याग किया एवं कर्मों का नाश करने के लिए सब तरह से कल्याण करनेवाली उत्तम दीक्षा धारण की। किसी एक दिन स्तिमितसागर मुनि ने धरणेन्द्र की विभूति देखी, तो उन्हें ईर्ष्या उत्पन्न हो गई एवं उसे पाने के लिए ऐसा निदान किया, जो कि साधुओं के लिए निन्दा करने योग्य है। इसलिए उस अशुभ निदान के फल से उसने बड़ी ऋद्धि के पद को नष्ट कर सामान्य भोग प्रदान करनेवाले धरणेन्द्र पद को प्राप्त किया। जिस प्रकार इहलोक में थोड़े मूल्य की वस्तु अधिक मूल्य में मिलना कठिन नहीं होता, उसी प्रकार परलोक के लिए भी यही नियम निश्चित है। इधर वे दोनों भाई अपने उपार्जन किए हुए शुभ-कर्म के उदय से नारायण-बलभद्र का पद पाकर नीति-परायण आचरणों से एवं बड़ी विभूति से भारी उन्नति को प्राप्त हुए थे। उनके घर बर्बरी एवं चिलातिका नाम की दो नर्तकियाँ थीं, जो कि बड़ी रूपवती थीं एवं नृत्य-गीत आदि कलाओं में बड़ी निपुण थीं ॥१४०॥ किसी दिन वे दोनों ही भाई उन दोनों का नृत्य देख रहे थे एवं बड़ी प्रसन्न मुद्रा में बड़े आराम से बैठे थे कि इतने में वहाँ नारद आ पहुँचे। उस समय वे दोनों भाई नृत्य देखने में इतने तल्लीन थे कि उन्होंने नरकगामी, क्रूर पापी उस नारद को आसन प्रदान, नमस्कार आदि से आदर-सत्कार नहीं किया। जिस प्रकार तेल के संयोग से अग्नि भभक उठती है या ज्येष्ठ के महीने मे सूर्य अतिशय सन्तप्त हो जाता है, उसी प्रकार उस समय नारद का हृदय भी क्रोधरूपी अग्नि की शिखा से सन्तप्त हो रहा था। वह कलहप्रिय नारद उसी समय उस सभा से निकल गया एवं क्रोध से

काँपता हुआ सीधे शिवमन्दिर नामक एक नगर में जा पहुँचा । वहाँ राजसभा में राजा दमितारि राज्य-सिंहासन पर बैठे थे । वह पापी नारद उनके समीप जा पहुँचा एवं उन्हें आशीर्वाद दिया । राजा दमितारि नारद को देख अपने आसन से उठकर सामने आये एवं नारद का आदर-सत्कार किया । फिर प्रणाम कर उन्हें सिंहासन कर बिठाया । तदनन्तर राजा ने कहा-'हे शुभदायक ! (अच्छा फल देनेवाले), आज आप मेरे घर किस कारण से पधारे हैं ?' इसके उत्तर में वह कुमार्गगामी नारद हिंसा-प्रेरक एवं न्याय-विमुख शब्दों में राजा दमितारि के नाश-सूचक वचन कहने लगा । वह कहने लगा कि प्रभाकरी नगरी में जो दोनों भाई राज्य करते हैं, वे बलभद्र-नारायण हैं; उनके समान कोई दूसरा मल्ल नहीं है एवं वे अपनी सद्यः प्राप्त राज्यलक्ष्मी के मद में उन्मत्त हो रहे हैं । उनके घर पर दो नृत्य करनेवाली हैं, जो संसार में सारभूत हैं एवं आपके ही योग्य हैं । उन्हें देखकर मैं आपको सब कहने के लिए शीघ्रता से आया हूँ ॥१५०॥ नारद की बातें सुनकर दमितारि के मन में लालसा उत्पन्न हुई एवं उसने उसी समय भेंट देकर सब समाचार को जानने के लिए दूत को भेजा । वत्सकावती देश में दिनों-दिन उन्नति के शिखर पर चढ़नेवाले उन दोनों भाईयों के पास वह दूत पहुँचा । संयोग से उस दिन राजा अपराजित एवं शुद्ध-हृदय युवराज अनन्तवीर्य मन्त्रियों के साथ प्रोषधोपवास करते हुए श्री जिनालय में विराजमान थे । दूत ने दोनों के सामने भेंट रखदी एवं कहने लगा-'हे देव ! शिवमन्दिर नगर में सब शत्रुओं को जीतनेवाला, तीन खण्ड पृथ्वी का स्वामी राजा दमितारि संसार में प्रसिद्ध है । उन्होंने मुझे आपके यहाँ की दोनों नर्तकियों को आप से माँग लाने के लिए भेजा है । उनको प्रसन्न करने के लिए आप की अपनी दोनों नर्तकियों को इसी समय मुझे दे देना चाहिये । उनके मिलने से राजा प्रसन्न होंगे एवं आपको भी उसका बहुत अच्छा फल मिलेगा।' यह सुन कर दोनों राजाओं ने दूत को तो अपने प्रासाद में भेज दिया एवं मन्त्रियों को बुला कर उनसे पूछा कि अब क्या करना चाहिये ? उसी समय पुण्य-कर्म के उदय से सब प्रकार के फल देनेवाले, तीसरे भव के (अमिततेज के भव के) विद्या देवता ने स्वयं आ कर उन दोनों के सामने कहा-'तुम घबराओ मत । अपना उद्देश्य सिद्ध करने के लिए अपनी इच्छानुसार कार्य में मुझे लगा दो ।' विद्या देवता का यह परामर्श सुन कर उन्होंने राज्य का भार तो मन्त्रियों को सौंप दिया एवं स्वयं नर्तकियों का भेष धारण कर उस दूत के साथ चले गए ॥१६०॥ उन्होंने अपने भावी कार्यक्रम का पक्का विचार कर लिया । वे शिवमन्दिर नगर

में पहुँचे, वहाँ राजा दमितारि को देखा एवं उन दोनों ने राजभवन में प्रवेश किया। राजा दमितारि ने नर्तकी का भेष धारण किए हुए उन दोनों से बातचीत की, आदर-सत्कार से उन्हें सन्तुष्ट किया एवं दोनों को अपने वासभवन में भेज दिया। दूसरे दिन उन दोनों ने अपने मनोहर अंग, उपांग, विलास, रस एवं भाव आदि दिखला कर नृत्य करना प्रारम्भ किया। उन दोनों को देख कर राजा दमितारि बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने उन्हें योग्य पारितोषिक दिया एवं कहा कि ये सब उत्तम कलाएँ आप मेरी पुत्री कनकश्री (कनकमाला) को सिखलाइए। यह कह कर उसने अपनी पुत्री कनकश्री को नृत्य-कला सीखने के लिए उन दोनों के पास भेज दिया। वे दोनों उस विद्याधर की पुत्री को यथायोग्य नृत्य-कला सिखलाने लगे। एक दिन वे दोनों ही भाई होनहार नारायण (अनन्तवीर्य अर्द्धचकी) के गुणों की गाथा से भरा हुआ काव्य, कानों को सुख देनेवाले मीठे स्वर में पढ़ने लगे। उस काव्य का अभिप्राय यह था-'जिसने कुल एवं बल आदि गुणों से संसार भर के सब राजाओं को जीत लिया है, जिसने अपने शरीर की शोभा से कामदेव को भी लज्जित कर दिया है, जो सब से श्रेष्ठ तरुण अवस्था को धारण करता है, चतुर स्त्रियों के विलास एवं सुन्दर कटाक्षों का केन्द्र है-ऐसे वे पृथ्वी, के स्वामी, प्रसिद्ध राजा अनन्तवीर्य तुम लोगों की रक्षा करें।' उनके इस काव्य को सुन कर राजपुत्री का मन काम-वासना पीड़ित हो गया एवं वह उनसे पूछने लगी-'जिसके विषय में मैं यह काव्य सुन रही हूँ, वह राजपुरुष कौन है ?' इसके उत्तर में वे कहने लगे कि जिस प्रकार पर्वत से महामणि प्रकट होती है, उसी प्रकार अनेक राजा-महाराजाओं से सेवित वह अनन्तवीर्य राजा स्तिमितसागर का पुत्र है एवं प्रभाकरी नगरी का शासन करनेवाला है। इस प्रकार अनन्तवीर्य के गुण, रूप एवं लावण्य का वर्णन सुनकर उस विद्याधर की पुत्री का प्रेम द्विगुणित हो गया एवं वह इस प्रकार कहने लगी ॥१७०॥ 'क्या मुझे अनन्तवीर्य के दर्शन हो सकते हैं ?' तब दूत भेषधारी अनन्तवीर्य ने कहा-'हाँ, अवश्य ही हो सकते हैं।' यह कह कर उसने दूत का भेष हटा कर अपना साक्षात् रूप दिखला दिया। दूत के भेष में अनन्तवीर्य को देख कर कनकमाला मदन-ज्वर से पीड़ित हो गई एवं वे दोनों भेषधारी नर्तकियाँ उसे लेकर आकाश-मार्ग से उड़ गयीं। राजा दमितारि ने कंचुकी के मुख से जब कनकमाला के लुप्त होने की बात सुनी, तो उन दोनों दूतों को पकड़ने के लिए अपने योद्धाओं को भेजा। योद्धाओं को अपनी तरफ आते देख कर उन दोनों में से बड़े भाई (बलभद्र) राजा अपराजित ने

श्री शांतिनाथ पुराण

उस कन्या को तो अपने छोटे भाई अनन्तवीर्य के साथ दूर भेज दिया एवं स्वयं लौट कर उन योद्धाओं से युद्ध करने लगे । वे योद्धा बहुत देर तक तो बलभद्र के साथ लड़ते रहे; परन्तु अन्त में सब को यमराज के घर जाना पड़ा । यह समाचार सुन कर राजा दमितारि को बड़ा क्रोध आया एवं उसने उनसे भी निपुण एवं शूरवीर योद्धाओं को युद्ध के लिए भेजा । जिस प्रकार समुद्र में पर्वत तक डूब जाता है, उसी प्रकार बलभद्र की तलवार की धाररूपी सागर में वे सब शत्रु डूब गये । इस बात को सुन कर राजा दमितारि को बहुत ही आश्चर्य हुआ व उसने सब मन्त्रियों को बुला कर कहा कि सामान्य नर्तकियों का इतना प्रभाव नहीं हो सकता, रहस्य कुछ अन्य ही हैं; तुम सब शीघ्र पता लगवाओ । उन मन्त्रियों ने बड़ी चेष्टा के उपरान्त सब रहस्य का पता लगाया एवं राजा को सब से अवगत करवा दिया । समस्त वृत्तान्त सुनकर दमितारि का हृदय क्रोधरूपी अग्नि से सन्तप्त हो गया तथा वह स्वयं सेना लेकर युद्ध करने के लिए निकला । बलभद्र (राजा अपराजित) अकेला ही था; इसलिये वह दमितारि का पहिले-पहल सामना न कर अपने विद्या तथा पराक्रम के प्रभाव से अन्य अनेक योद्धाओं को मारने लगा । यह देखकर यम के समान प्रचंड दमितारी अपराजित के सामने आया । दमितारि को अपने बड़े भाई के सामने जाता हुआ देखकर अनन्तवीर्य को भी क्रोध आ गया एवं वह स्वयं उसके सामने गया ॥१८०॥ राजा अपराजित भी उसके समीप पहुँचा तथा विद्याबल के मद से उद्धत राजा दमितारि को मदरहित किया । अनेक प्रकार से युद्ध कर अन्त में उसे रथ विहीन कर दिया । राजा दमितारि समझ गया कि अनन्तवीर्य को सहज में ही जीता नहीं जा सकता; वह धीर-वीर तथा बहुत पराक्रमी है । ऐसा समझ उसने चक्र हाथ में लिया एवं मारने के लिए उस पर चलाया । सब तरह के कल्याणों को सिद्ध करनेवाला वह चक्र अनन्तवीर्य के पुण्य-कर्म के उदय से उसकी तीन प्रदक्षिणा देकर उसके दाहिने हाथ पर आकर ठहर गया । अनन्तवीर्य ने उसी चक्र से राजा दमितारि को यमलोक भेज दिया तथा सेना के बाकी बचे हुए योद्धाओं को अपने अभय-दान दिया । पुण्य-कर्म के उदय से जिसका पराक्रम प्रकट हो चुका है, ऐसे अनन्तवीर्य की स्तुति अनेक विद्याधर तथा भूमिगोचरी राजाओं ने आकर की तथा उसकी पूजा की । इस प्रकार धर्म के प्रभाव से जिन्हें विद्याएँ प्राप्त हुई हैं, जिन्होंने सब शत्रुओं को जीत लिया है, युद्ध में अपना पराक्रम प्रकट किया है, जो सब तरह के सुख के सागर हैं, प्रतापी हैं तथा मनुष्य, विद्याधर, देव, सब जिनकी सेवा करते हैं,

ऐसे वे दोनों भाई संसार में देवों के समान सुशोभित होते थे । धर्म के प्रभाव से कठिन संग्राम में अनेक प्रकार की विजय प्राप्त होती है, धर्म के ही प्रभाव से तीनों लोकों में विराजनेवाली अनेक तरह की लब्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा धर्म के ही प्रभाव से इन्द्र, तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि के अनेक प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं । संसार में ऐसा कौन-सा पदार्थ है, जो धर्मात्मा सज्जनों को प्राप्त न होता हो ? यह एक धर्म ही मोक्ष का कारण है; इन्द्र चक्रवर्ती आदि के पद को देनेवाला है तथा सुख की खानि है । इसलिये हे विद्वानों ! शीघ्र ही इस धर्म का सेवन करो, व्यर्थ की बड़ी-बड़ी बातों तथा आडम्बरों से कोई लाभ नहीं होता । जो वृद्धावस्था आदि दोषों से रहित हैं, देव भी जिनकी सेवा करते हैं, जो सब तरह के परिग्रहों से रहित हैं, अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित हैं, गुणों के समूह तथा सुख के समुद्र हैं, प्रातिहार्यों से सुशोभित हैं, समस्त दोष जिन्होंने नष्टकर दिये हैं तथा जो पुण्यवान लोगों को शान्ति प्रदान करनेवाले हैं, ऐसे परम देव श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर की मैं स्तुति करता हूँ ।

इस प्रकार श्री शान्तिनाथ पुराण में देव एवं शलाका पुरुष-इन दो भवों का वर्णन करनेवाला छटठा अधिकार समाप्त हुआ ॥६॥

सातवाँ अधिकार

जो धीर-वीर हैं, जिन्होंने समस्त शत्रुओं का नाश कर दिया है, जो महाराज (चक्रवर्ती राजा) हैं, भव्य जीवों को शान्ति देनेवाले हैं, स्वयं शान्त हैं तथा गुणों के सागर हैं, ऐसे परम देव श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर को मैं उनके गुणों को प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर-किसी एक दिन वे दोनों ही भाई विमान में बैठकर आकाश मार्ग से जा रहे थे; परन्तु पूजा का क्रम उल्लघन होने के भय से ही मानो उनके दोनों विमान अकस्मात् आकाश मार्ग में रुक गये । यह विमान किसी ने कील दिया है अथवा किस कारण से ये आगे नहीं जा रहे हैं-इस प्रकार विचार करते हुए वे चारों ओर देखने लगे, इतने में ही उन्हें सम्मुख में मान-स्तम्भ दिखलाई दिया । उन्हें ऊपर से बावड़ियाँ दिखाई दीं, चारों वन दिखाई दिए एवं देव, मनुष्य तथा मुनिराज आदि के संगम से भरी हुई समोशरण सभा दिखाई दी । अनेक तरह से अन्तरंग, बहिरंग लक्ष्मी एवं प्रातिहार्यों से वेष्टित तथा अनेक

प्रकार की ऋद्धियों से सुशोभित ऐसी गन्धकुटी पर विराजमान श्री केवली देव दिखाई दिए। भव्य जीवों को समझाने के लिए इन्हीं धर्म-रत्नाकर श्रीजिनेन्द्रदेव की धर्म एवं वैराग्य उत्पन्न करनेवाली कथा कहता हूँ। इसी विजयार्द्ध पर्वत के शिव-मन्दिर नामक नगर में राजा कनकपुन्ज राज्य करते थे; उनकी महारानी का नाम जयदेवी था। उनके कीर्तिधर नाम का पुत्र था, जो कि अत्यन्त यशस्वी था। बुद्धिमान एवं पृथ्वी के समान क्षमा आदि गुणों को धारण करनेवाले ये राजा कीर्तिधर ही दमितारि के पिता थे। किसी दिन शुद्ध बुद्धिवाले वे राजा कीर्तिधर काल लब्धि पाकर राज्य, भोग, उपभोग शरीर एवं संसारादि से विरक्त हुए। तदनन्तर वे परम ज्ञानी व भव्य जीवों को सब प्रकार की शान्ति प्रदान करनेवाले शान्तिकर नाम के मुनिराज के समीप जा पहुँचे ॥१०॥ वहाँ जा कर मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक मस्तक झुका कर मुनिराज को नमस्कार किया एवं दोनों प्रकार के परिग्रहों को त्याग कर श्री जिनेश्वरी दीक्षा धारण की। मूल-गुण तथा उत्तर-गुणों को धारण करनेवाले एवं सब जीवों का हित चाहनेवाली वे संयमी दृढ़वती बारह प्रकार का तपश्चरण करने लगे एवं ध्यान केन्द्रित करने का कठोर अभ्यास करने लगे। उन्होंने एक वर्ष तक प्रतिमायोग धारण किया एवं फिर शुक्लध्यान से घातिया-कर्मों को नष्टकर केवलज्ञान प्राप्त किया। तदनन्तर भक्ति-वश भव्य देवों ने आ कर उन कीर्तिधर केवली भगवान की पूजा एवं वन्दना की। उन्होंने अनेक देशों में विहार किया, धर्म-वृष्टि से भव्य प्राणी-रूपी खेतों को सींचा एवं फिर वे आकर वहाँ विराजमान हुए। वहीं पर उन दोनों भाईयों ने भक्तिपूर्वक उनकी तीन प्रदक्षिणा दीं, मस्तक झुकाकर उनको नमस्कार किया एवं धर्मश्रवण करने के लिए बैठ गए। उन दोनों भाईयों ने केवली के मुख से अनेक प्रकार के सुख देनेवाले तथा दोनों लोकों का हित करनेवाले दोनों प्रकार के धर्मों का स्वरूप सुना तथा आत्म-निन्दा कर पापों का नाश किया। तदनन्तर कनकश्री भी उन दोनों के साथ आई, घातिया-कर्मों का नाश करनेवाले गृहस्थाश्रम में अपने पितामह को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया एवं अपने पूर्व-भव पूछे। इसके उत्तर में समस्त जीवों के हित करने में तत्पर वे केवली भगवान अपने वचनामृतरूपी जल से उसकी ज्ञान-पिपासा शान्त करने के लिए कहने लगे-'इस उत्तम जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र मे मनोहर शंख नगर में देविल नाम का एक वैश्य रहता था ॥१०॥ उसकी स्त्री का नाम बन्धुश्री था। तू उनके यहाँ श्रीदत्ता नाम की ज्येष्ठ पुत्री थी। तेरी दो दो लघु भगिनी भी थीं, जिनका नाम कुन्टी एवं पंगूकुणी था। ये दोनों ही

श्री शांतिनाथ पुराण

बहरी, कुबड़ी, कानी तथा लंगड़ी थीं । उन सब का पालन-पोषण तू ही करती थी । किसी एक दिन पुण्य-कर्म के उदय से तू शैल पर्वत पर गई तथा वहाँ पर तूने सर्वयश नाम के मुनिराज की वन्दना की । मुनिराज ने कृपा कर तेरे सुख के लिए सब तरह के सुखों की खानि तथा सारभूत श्रावक-धर्म का निरूपण किया । उसे सुन कर तेरे परिणाम शान्त हुए तथा तू अहिंसा अणुव्रत को तथा धर्मचक्र नाम के उपवास को धारण कर अपने घर आई । एक दिन तूने शुद्ध परिणामों से विधिपूर्वक सुव्रता नाम को गणिनी को रसों से पूर्ण आहार दिया । परन्तु अपने अशुभ-कर्मों के उदय से उसने उसी समय उस आहार का वमन कर दिया । उस समय तेरे सम्यग्दर्शन नहीं था, इसलिये तूने उसकी निन्दा की । तदनन्तर व्रतों पालन के फल से तूने समाधिपूर्वक अपने प्राण त्यागे तथा सुख के सागर सौधर्म स्वर्ग में सामानिक जाति की देवी हुई । वहाँ पर अनेक तरह के उत्तम सुख भोग तथा फिर वहाँ से चय कर तू मन्दिरमालिनी नाम की रानी के गर्भ से दमितारि की पुत्री हुई । व्रत तथा उपवास के पुण्य फल से तूने स्वर्ग में सुख भोगे तथा इस लोक में भी उत्तम जन्म, रूप एवं सम्पदा प्राप्त की ॥३०॥ मुनिराज की निन्दा करने के कारण उत्पन्न हुए पाप से तुझे शोक हुआ एवं तेरे बलवान पिता का वध हुआ, तेरा हरण हुआ तथा तू दुःखी हुई । इसलिये प्राण नाश होने पर भी चतुर तथा पुण्यवान पुरुषों को मुनियों के शरीर को ग्लानि देखकर उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये । क्योंकि मुनियों की निन्दा सब दोषों की खानि है तथा सब तरह के दुःख उत्पन्न करनेवाली है ।' इस कथा को सुनकर विद्याधर पुत्री कनकश्री दुःखी हुई एवं श्री केवली देव को नमस्कार कर उन दोनों भाईयों के साथ प्रभाकरी नगरी को चली गई । अथानन्तर अनन्तवीर्य का पुत्र अनन्तसेन शिव-मन्दिर नगर में राज्य करता था । कनकश्री के भाई सुघोष एवं विद्युंदुष्ट उस नगर में बाहर से आये तथा पिता के शत्रु अनन्तसेन को देख कर उस पर क्रोधित होकर उसके साथ लड़ने लगे । दमितारि के दोनों पुत्रों को अपने पुत्र के साथ लड़ते हुए देख कर नारायण एवं बलभद्र को भी क्रोध आ गया तथा उन्होंने उन दोनों को युद्ध में मार गिराया । अपने दोनों भाईयों के मरण का समाचार सुन कर कनकश्री उस दुःख को सह नहीं सकी तथा भारी शोक के कारण दावानल (अग्नि) से जली हुई लता के समान वह मुरझा गई । वह कामभोगों की इच्छा त्याग कर वैराग्य को प्राप्त हुई तथा आत्मज्ञान हो जाने के कारण अपने किये हुए कर्मों की निन्दा करने लगी । वह विचारने लगी कि ये भोग तो पिता-भाई आदि का घात करानेवाले हैं, नरक

के साधन हैं तथा अनेक क्लेशों के महासागर हैं, इसलिये कोई भी बुद्धिमान इनका सेवन नहीं करेगा। यह लक्ष्मी बिजली के समान चन्चला है, यह जीवन की ओस की बूँद के समान शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है यह शरीर रोगरूपी सर्प का घर है तथा संसार में जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, वह सब नष्ट हो जानेवाला है ॥४०॥ इस प्रकार चिन्तवन कर वह द्विगुणित वैराग्य को प्राप्त हुई तथा काल-लब्धि प्राप्त हो जाने से दीक्षा लेने के लिए प्रस्तुत हुई। नारायण एवं बलभद्र से प्रार्थना कर वह उनसे पृथक हुई एवं अपने ज्ञान से शल्यों को त्याग कर निःशल्य हुई। तीनों लोक जिनकी पूजा करते हैं, ऐसे स्वयंप्रभ तीर्थंकर के समीप वह पहुँची एवं मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक मस्तक झुका कर उन्हें नमस्कार किया। उस विद्याधरी ने उन तीर्थंकर देव से मृत्युरूपी विष का निवारण करनेवाले धर्मामृत का पान किया एवं शोकरूपी विष का बहुत-ही शीघ्र त्याग कर दिया। वह सुप्रभा नाम की गणिनी के पास पहुँची एवं उन्हें नमस्कार कर कर्मों का नाश करने के लिए तथा सुख प्राप्त करने के लिए उनसे दीक्षा धारण की। संसार से डर कर उसने बारह प्रकार का कठिन तपश्चरण धारण किया एवं स्त्रीलिंग को छेद कर सौधर्म स्वर्ग में उत्तम देव हुई। वहाँ पर वह देव अपने हृदय में धर्म धारण कर देवियों एवं विभूति आदि से उत्पन्न होनेवाले सुख भोगने लगा। धर्म का फल-रूप देखो ! कहाँ तो वह कामान्ध कन्या, कहाँ वह कठिन तपश्चरण एवं कहाँ यह अनेक प्रकार की विभूतियों से शोभायमान स्वर्ग का देव-यह सब आश्चर्य चकित करनेवाले संयोग हैं। संसार में यह प्राणी सोचता कुछ है तथा भाग्य से कार्य कुछ अन्य ही कर बैठता है। इसलिए भाग्य की लीला बड़ी ही विचित्र है।

अथानन्तर-उन दोनों भाईयों ने पुण्य-कर्म के उदय से छः प्रकार की सेना, चक्ररत्न तथा अपने पराक्रम से तीनों खण्ड पृथ्वी जीत ली। उन्होंने अनेक भूमिगोचरी जीते, विद्याधर जीते, व्यन्तर देव जीते तथा इन सबकी सारभूत वस्तुओं को अपने चरणों के सामने रखवा कर ग्रहण किया। तदनन्तर जिनके चरणों को देव-विद्याधर आदि नमस्कार करते हैं, ऐसे उन दोनों भाई (नारायण-बलभद्र) के इन्द्र के समान अपनी नगरी में प्रवेश किया एवं उत्तमोत्तम विभूति से वे बहुत-ही शोभायमान होने लगे ॥५०॥ वे दोनों ही (नारायण तथा बलभद्र) पुण्य-प्रभाव से लक्ष्मी का उपभोग एक साथ करते थे एवं सुखसागर में निमग्न रहते थे; इसलिये बीतता हुआ समय भी उन्हें ज्ञात नहीं होता था। अपराजित (बलभद्र) की रानी विजया

के गर्भ से सुमति नाम की पुत्री हुई थी, जो कि बड़ी ही बुद्धिमती तथा रूप-लावण्य से सुशोभित थी। चन्द्रमा की कला के समान क्रम से बढ़ती हुई वह स्वयं कला तथा लक्ष्मी से भी उत्तम जान पड़ती थी तथा प्रतिदिन वह दान-पुण्य कर जीवन सफल करती थी। एक दिन उसने सब परिग्रहों से रहित दमवर नामक चारण मुनि को यथायोग्य आहार-दान दिया। उस दान के प्रभाव से उसके यहाँ रत्न-वृष्टि आदि पंचाश्चर्य प्रकट हुई। यह ठीक ही है, क्योंकि दान देने से संसार में क्या प्राप्त नहीं हो सकता ? पुण्यवान बलभद्र प्रसन्न हो कर जब अपनी पुत्री को देखने के लिए आया तथा उसे देख कर उसके विवाह की चिन्ता करने लगा। तब वह सोचने लगा कि यह कन्या केवल रूप से ही सुशोभित नहीं है, वरन् यौवन तथा पुण्य से भी सुशोभित है; इसलिये कौन-सा पुण्यवान वर इसके योग्य होना चाहिये ? इस प्रकार सोच कर बलभद्र ने उसी समय दूतों को देश-देशान्तर में भेज कर स्वयम्वर की घोषणा की ॥६०॥ स्वयम्वर के लिए उसने शीघ्र ही एक विशालकाय मण्डप बनवाया तथा आगंतुक प्रतियोगी विद्याधरों को तथा राजाओं को यथायोग्य आसन पर बैठाया। मूल्यवान आभूषणों से विभूषिता वह कन्या रथ पर चढ़ कर स्वयम्वर मण्डप में आई। बलभद्र-नारायण भी बड़ी विभूति के साथ आ कर सभा में एक स्थान पर खड़े हो गये। इसी समय अकस्मात एक सुन्दर देवी विमान में आकाश-मार्ग से आई तथा आकाश में ही ठहर कर हितकारक धार्मिक वचन कहने लगी। वह कहने लगी-'हे कन्ये ! तुझे अपनी तथा मेरी पूर्व की अवस्था याद है या नहीं ? हम दोनों ही स्वर्ग में सुख-लक्ष्मी का अनुभव करनेवाली देवियाँ थीं। सदा सुखी रहने के लिए हम दोनों ने परस्पर उत्तम तथा हितकारी यह नियम बना लिया था कि हम दोनों में से जो पहिले स्वर्ग से च्युत होगी, उसे पुनः मोक्षमार्ग में लगाने के लिए दूसरी देवी समझाएगी। इसलिये अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कर दुःख तथा क्लेश उत्पन्न करनेवाले राग को दूर कर तथा तपश्चरण धारण कर। अब संवेग आदि गुणों को बढ़ानेवाली हम दोनों की पूर्व-भव की कथा मैं कहती हूँ, मन को स्थिर कर अच्छी तरह सुन। पुष्करार्द्ध द्वीप के पूर्व भरतक्षेत्र के नन्दनपुर नगर में पुण्य के प्रभाव से अमितविक्रम नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम अनन्तमती था, उसके धर्म को धारण करनेवाली दो चतुर पुत्रियाँ उत्पन्न हुई थी। एक का नाम धनश्री तथा दूसरी का नाम अनन्तश्री था ॥७०॥ एक दिन वे दोनों पुत्रियाँ पुण्य सम्पादन के लिए धर्म की प्राप्ति करनेवाले सिद्धकूट चैत्यालय में गईं तथा वहाँ पर उन्होंने नन्दन मुनि की

वन्दना की । मुनिराज ने उनके सामने सुख प्रदायक, व्रत-उपवास से उत्पन्न होनेवाले एवं जीवों का हित करनेवाले गृहस्थों के योग्य धर्म का उपदेश दिया । धर्म का स्वरूप सुन कर उन्होंने पुण्य सम्पादन हेतु व्रतों के साथ-साथ भावों की शुद्धिपूर्वक पापों के नाश करनेवाले उपवास धारण करने की प्रतिज्ञा की । त्रिपुरनगर में वज्रांगद नाम का विद्याधर राज्य करता था, उसकी रानी का नाम वज्रमालिनी था । एक दिन वह वज्रांगद अपनी रानी के साथ मनोहर वन में गया था, वहाँ पर उन दोनों कन्याओं को देख कर वह अत्यन्त मदान्ध हो गया था । अपनी रानी को अपने नगर में पहुँचा कर वह शीघ ही वन में लौट आया एवं उन कन्याओं को बलात् ले जाने को उद्यत हुआ । इधर उसके नीच अभिप्राय को ताड़ कर उसकी रानी वज्रमालिनी नगर से फिर वनमें लौट आई । दूर से ही रानी को आते देख कर वह डर गया एवं उन दोनों कन्याओं को वेणु वन में छोड़ दिया एवं रानी को साथ ले कर अपने नगर को चला गया । उस वेणु वन में उन दोनों ने संन्यास धारण किया एवं शक्ति प्रगट कर क्षुधा, तृष्णा आदि परीषहों को जीत कर धर्मध्यान करती हुई वहाँ रहने लगीं । उन्होंने श्री जिनेन्द्रदेव के चरणों में अपना ध्यान लगाया एवं अक्षय सुख प्राप्त करने के लिए जन्म पर्यन्त उपवास धारण कर समाधिपूर्वक अपने प्राण त्यागे । उस व्रत-उपवास के पुण्य से मैं सौधर्म स्वर्ग में इन्द्र की नवमिका नाम की रूपवती, ज्ञानवती एवं ऋद्धियों को धारण करनेवाली देवी हुई ॥८०॥ तूने भी शुभ ध्यान से प्राण त्यागे थे, इसलिए पुण्य-कर्म के उदय से तू भी कुबेर की बड़ी ऋद्धि को धारण करनेवाली रति नाम की देवी हुई थी । वहाँ पर भी हम दोनों ने अपने पूर्व-भव का सब वृत्तान्त जान लिया था एवं इसलिए हम दोनों में पुण्य उत्पन्न करनेवाला प्रगाढ़ स्नेह उत्पन्न हो गया था । किसी दिन हम दोनों बड़ी विभूति के साथ नन्दीश्वर द्वीप में गई थीं एवं वहाँ पर अष्टाह्निका पर्व में बड़े उत्साह के साथ पूजा की थी । हम दोनों पूजा कर धर्म-सेवन करने के लिए मन्दराचल पर्यन्त भद्रशाल आदि वन में गई थीं । वहाँ पर निर्जन्तुक वन में मति, श्रुति, अवधि-इन तीनों ज्ञानो सें सुशोभित धृतषेण नामक चारण मुनि विराजमान थे । पुण्य-कर्म का उदय होने से उनके दर्शन किये ।

सब जीवों को सुख देनेवाले उन मुनिराज को हम दोनों ने नमस्कार किया था तथा हम दोनों को मोक्ष कब प्राप्त होगा -यह प्रश्न उनसे किया था ? इसके उत्तर में उन मुनिराज ने कहा था कि इस भव से चौथे जन्म में तपश्चरण के द्वारा अनन्त सुख प्रदायक मोक्षलक्ष्मी तुम दोनों को अवश्य प्राप्त होगी । मुनिराज के

ये वचन सुन कर हम दोनों ने दीक्षा आदि लेने के लिए निश्चयात्मक प्रतिज्ञा की थी । अब तेरे विवाह का प्रसंग जान कर एवं अपने वचनों का स्मरण कर मैं तुझे समझा कर दीक्षा दिलाने के लिए स्वर्ग से यहाँ आई हूँ । इसलिये दुःख देनेवाले एवं नरक में पहुँचानेवाले विवाह की कामना तू त्याग दे एवं मोक्ष-मार्ग प्रदर्शक दीपक के समान उत्तम दीक्षा को धारण कर ॥९०॥' देवी की उक्ति को सुन कर अपने नाम को सार्थक करती हुई सती सुमति ने धर्म का उपार्जन करने के लिए वैराग्य धारण किया तथा पिता की आज्ञा लेकर सब परिवार एवं विवाह के सुख को त्याग कर संवेग में तल्लीन होती हुई सुव्रता नाम की गणिनी के पास पहुँची । एक साड़ी के अलावा उसने शेष सभी प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर दिया एवं मोक्ष प्राप्त करने के लिए सात-सौ कन्याओं के साथ दीक्षा धारण की । उसने सर्म्यदर्शन की विशुद्धता की एवं कर्मों का नाश करने के लिए समस्त परीषहों को जीत कर घोर एवं कठिन तपश्चरण करना प्रारम्भ किया । अन्त में वह समाधिपूर्वक प्राण त्याग कर सम्यग्दर्शन रूप धर्म से स्त्रीलिंग को छेदकर आनत स्वर्ग में बड़ी ऋद्धि को धारण करनेवाला देव हुई । वहाँ पर धर्म के प्रभाव से वह बीस सागर आयु तक देवियों के समूह से उत्पन्न होनेवाला दिव्य सुख भोगने लगा । अथानन्तर राजा अनन्तवीर्य अनेक प्रकार के सुख भोगता हुआ, तीन खण्ड पृथ्वी का राज्य करता था । परन्तु उसने सम्यग्दर्शन-व्रत-नियम आदि कुछ भी धारण नहीं किया था । उसने बहुत-से आरम्भ एवं परिग्रह द्वारा अनेक प्रकार से पाप का उपार्जन किया । वह सदा पाँचों इन्द्रियों के वश में रहा एवं क्रोध, लोभ आदि कषायों के अधीन रहा । उसने रौद्र-ध्यानपूर्वक प्राण त्याग कर अशुभ-कर्म के उदय से अधोमुख लटकते हुए घण्टा के आकार के नरक में आकर जन्म लिया । नरक की भूमि में जाते ही ऐसा दुःख होता है, मानो हजारों बिच्छुओं ने एक साथ काट लिया हो । नरक अशुभ है, उसका स्पर्श ही बहुत कष्टदायी है एवं वह स्वभाव से ही अत्यन्त दुर्गन्धमय है ॥१००॥ वहाँ पर यह जीव अन्तर्मुहूर्त में ही शरीर प्राप्त कर लेता है एवं पूर्ण अवस्था को धारण कर अधोमुख होकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है । वह नारकी बार-बार ऊपर को उछलता है एवं फिर नीचे गिर पड़ता है तथा जिस प्रकार वायु के वेग से सूख पत्ता पृथ्वी पर इधर-इधर उड़ता फिरता है, उसी प्रकार वह नारकी भी वहाँ भूमि पर इधर-उधर डोलता फिरता है । उस समय उस भयानक स्थान को देख कर तथा असाता के समस्त दुःख के कारण नारकियों को लाल आँखें निकाले हुए देख कर वह मन में

विचार करता है-'मैं कौन हूँ ? मैं यहाँ क्यों आया ? यह भयंकर भूमि कौन-सी है तथा दुःख देने में अत्यन्त चतुर ये भयानक जीव (नारकी) कौन हैं ?' इस प्रकार चिन्तवन करते ही उसे कु-अवधिज्ञान प्राप्त होता है तथा उससे वह अपने को नरक में पड़ा हुआ समझता है । उस समय अनन्तवीर्य के जीव की दशा भी उसी प्रकार समझो । तदनन्तर वह जीव अपने पूर्व कर्मों के लिए असह्य विलाप करता है एवं उन यातनाओं को देख कर दीन के समान अतिशय पश्चाताप करता है । वह सोचता है कि पहिले भव में मेरी मति गई थी; मैं मद से अन्धा हो गया था; इसलिये मैं ने ऐसे कु-कर्म किये थे, जिनके लिए मुझे नरक में आना पड़ा । दुर्लभ मनुष्य-भव को पाकर भी दुष्ट इन्द्रियों के वश होकर मुझ मूर्ख ने जबरदस्ती जो पाप किये थे, अब उनका फल तो भोगना ही पड़ेगा । मैंने स्त्री, पुत्र एवं परिवार के लिए जो पाप कर्म किया था, उस का फल अब अकेले ही सहना पड़ता है । वहाँ पर मेरी लक्ष्मी को भोगनेवाले बहुत-से मनुष्य थे; परन्तु यहाँ अत्यन्त तीव्र दुःखों को सहन करने के लिए मेरे सिवाय अन्य कोई दिखाई नहीं देता ॥११०॥ जिस प्रकार आम के पकने पर उसके लोभ से बहुत-से पक्षी पेड़ पर आकर एकत्र हो जाते हैं, पर फलों के समाप्त हो जाने पर सब उड़ जाते हैं, उसी प्रकार परिवार के लोग भी दुःख के समय सब मुझसे अलग हो गये । अनेक तरह की भोगोपभोग की सम्पदाओं से जिस निकृष्ट शरीर का मैंने पालन-पोषण किया था, वही मेरे नरक का कारण हुआ एवं शत्रु के समान मुझे त्याग कर चला गया । मनुष्य जन्म में मुझ पापी ने न तो देव-पूजन किया था, न पात्र-दान दिया था, न उत्तम व्रत किये थे एवं न सुख प्रदायक कोई व्रत नियम ही लिया था । उस समय मेरा चित्त विषयों में ऐसा आसक्त था कि न तो मैं कोई तपश्चरण कर सका, न ज्ञान सम्पादन कर सका, न सुख का सागर श्रुतज्ञान का पठन-पाठन कर सका एवं न पंच-नमस्कार महामन्त्र का जाप ही कर सका । वहाँपर मैंने जीवों की हिंसा की थी, मिथ्या भाषण किया था, बिना दिया हुआ दूसरे का द्रव्य लिया था, पर-स्त्रियों का सेवन किया था, अनेक प्रकार का परिग्रह धारण किया था एवं सुख की इच्छा रखनेवाले मुझ मूर्ख ने नरक प्रदायिनी इन्द्रियों का यथेच्छ सेवन किया था । जिह्वा-लोलुप होकर रात्रि में भोजन किया था एवं नरक पहुँचाने वाले कन्दमूल आदि अभक्ष्य वस्तुओं का भक्षण किया था । इस प्रकार मनुष्य-जन्म में मैंने अत्यन्त घोर पाप किया था, उसी के उदय से मुझे नरक की यह घोर वेदना प्राप्त हुई है । कितने ही पुण्यवान मनुष्यों ने उत्तम मनुष्य भव को पाकर

तपश्चरण से स्वर्ग प्राप्त किया तथा अनन्त सुख का सागर मोक्ष प्राप्त किया । परन्तु मुझ दुष्ट ने उत्तम धर्म को त्याग कर पाप सम्पादन किया था, इसीलिए मुझे भयानक नरकों के सम्पूर्ण दुःख प्राप्त हुए हैं ॥१२०॥ आज मैं कहाँ जाऊँ ? कहाँ रहूँ ? क्या कहूँ ? किससे जाकर पूछूँ एवं इन दुःखों से बचने के लिए किसकी शरण लूँ ? मैं किसका स्मरण करूँ ? इस अथाह दुःख के महासागर से मैं कैसे पार होऊँगा एवं आयु के पूर्ण हुए बिना इस नरक से मेरा निकलना किस प्रकार सम्भव होगा ? जिस प्रकार तेल के संयोग से अग्नि तीव्रतर होकर भड़क उठती है, उसी प्रकार अपने किए दुष्कर्मों का बार-बार चिन्तवन करने से उसके हृदय की वेदना अधिक उग्रतर हो भड़क उठती । उसी समय उस नये नारकी को देख कर अनेक दुष्ट दुराचारी नारकी आ कर अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्रों से उसे मारने लगे । कितने ही नारकी मुद्गरों से उसके हड्डियों के समस्त ढाँचे को चूर्ण-विचूर्ण करने लगे, कितने ही उसकी आँखें निकालने लगे एवं कितने ही उसकी अंतड़ियों को नोचने लगे । कितने ही नारकी उसके शरीर को आरे से चीर कर दो टुकड़े कर देते एवं कितने ही दुर्बुद्धि नारकी बिना किसी प्रकार की दया के दुःख देने के लिए उसके शरीर एवं मर्मस्थान को काट डालते, उसके हाथ-पैरों को काट डालते, शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालते एवं वे दुष्ट उन टुकड़ों के भी तिल के समान छोटे-छोटे टुकड़े कर डालते । जिस प्रकार लाठी के द्वारा प्रहार करने पर जल की बूदें ऊपर उछल कर पुनः उसी जल-धारा में आकर मिल जाती हैं, उसी प्रकार उसके शरीर के अलग-अलग टुकड़े उसी समय पुनः एकत्र होकर मिल जाते हैं । अशुभ-कर्म के उदय से दुःखरूपी महासागर में डूबे हुए नारकियों की आयु जब तक पूर्ण नहीं होती, तब तक उनकी मृत्यु भी नहीं हो सकती । कितने ही नारकी उसे उठाकर गरम तेल की कढ़ाई में डाल देते एवं उसे उष्णता का अत्यन्त तीव्र दुःख सहना पड़ता ॥१३०॥ वहाँ पर उसका सब शरीर जल जाता, इसलिये कुछ ठण्डक पाने के लिए वह स्वयं वैतरणी नदी के खारे एवं खून से रंगे अपवित्र जल में डूब जाता । परन्तु उस जल के स्पर्श मात्र से ही उसके सारे शरीर में दुर्गन्धमय दाह उत्पन्न होता एवं फिर उसके कारण अत्यन्त तीव्र दुःख होता । वहाँ से सन्तप्त होकर अशुभ-कर्मों द्वार ठगा हुआ वह नीच आराम पाने की इच्छा से स्वयं ही असिपत्रयुक्त वृक्षों के घने वन में जाता । परन्तु वहाँ पर भी वायु के प्रबल झकोरे से उन वृक्षों से तलवार के समान तीक्ष्ण पत्ते गिरते हैं एवं उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं । शरीर के छिन्न-भिन्न एवं टुकड़े-टुकड़े हो

श्री शांतिनाथ पुराण

जाने से जिसके शरीर में असह्य वेदना हो रही है, ऐसा वह नारकी विश्राम पाने की अभिलाषा के दुर्गम पहाड़ पर चढ़ जाता है । परन्तु वहाँ पर भी दुःख देनेवाले सिंह, बाघ आदि क्रूर जानवर अपने तीक्ष्ण नख-दाढ़ों से उस नारकी को छिन्न-भिन्न करना प्रारम्भ कर देते हैं । इस प्रकार वह नारकी अपने पाप-कर्म के उदय से अविराम उत्पन्न होनेवाले असह्य धोर दुःखों को सहता रहता है । वहाँ पर भूख इतनी प्रचण्ड लगती है कि संसार के समस्त धान्य से तथा पुद्गलों से भी शान्त नहीं होती । वह भूख असह्य, तीव्र हृदय-विदारक होती है; परन्तु खाने के लिए उसे तिल मात्र भी भोजन नहीं मिलता; वह सदा उस भूख से उत्पन्न हुए तीव्र दुःख को केवल सहता ही रहता है । वहाँ पर प्यास इतनी लगती है कि अनेक समुद्रों के अगाध जल से भी शान्त न हो, वह तीव्र प्यास उसके सब शरीर को जलाती रहती है एवं सारे रस को सोख लेती है ॥१४०॥ परन्तु उसे शान्त करने के लिए उसे कभी पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती, उसका समस्त तन प्यास से सदा व्याकुल बना रहता है । संसार में दुःख देनेवाले जो असंख्य रोग हैं, वे सब उसके शरीर में स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं । नरक उष्ण है तथा उसमें इतनी गर्मी है कि यदि उसमें एक लाख योजन प्रमाण लोहे का गोला डाल दिया जाए, तो वह भी पिघल कर तरल हो जायगा । इस प्रकार त्रिखण्डी अनन्तवीर्य का जीव रत्नप्रभा नामक नरक में पड़ कर पहिले उपार्जन किये हुए पाप के फल से प्रतिक्षण बिना किसी अन्तर के तीव्र दुःख भोगने लगा-क्षेत्र सम्बन्धी दुःख, तीव्र उष्णता के दुःख, नारकियों के द्वारा दिये हुए शारीरिक, मानसिक एवं वाचनिक ऐसे तीनों प्रकार के दुःख विक्रिया ऋद्धि से उत्पन्न हुए दुःख, अत्यन्त बैर-भाव एवं कु-ज्ञान से उत्पन्न हुए दुःख, कवियों की वाणी से भी अकथ्य अत्यन्त भयानक असुरों के द्वारा दिये गए दुःख; कुटिल हृदय, आर्त, रौद्र एवं अशुभ लेश्या आदि से बढ़े हुए दुःख सिंह-बाघ आदि माँसभक्षी पशुओं के द्वारा दिये गए दुःख तथा शोक से उत्पन्न दुःख-इत्यादि अनेक प्रकार के दुःखों को वह भोगने लगा । उसे वहाँ पर क्षण भर भी सुख नहीं मिलता था, वह केवल छेदन-भेदन आदि से उत्पन्न दुःख ही सदा भोगा करता था । बहुत वर्णन से क्या लाभ ? संसार में जितने भी दुःख हैं, वे सबके-सब स्वभाव से ही एकत्र होकर नारकियों को प्राप्त होते हैं । केवलज्ञानियों को छोड़ कर नरकों के दुःखों का वर्णन अन्य कोई नहीं कर सकता, यही समझ कर अब हम शान्त हो जाते हैं ॥१५०॥

अथानन्तर-अनन्तवीर्य के निधन के कारण उसके वियोग-जनित शोक से 'बलभद्र' अपराजित को गहरा दुःख हुआ। उसकी दशा ऐसी हो गयी, मानो उसे पिशाच ने ही पकड़ लिया हो। परन्तु वह धीर-वीर कुछ देर बाद ही अपनी विवेक रूपी तलवार से कठिन शोक रूपी शत्रु को नष्ट करने में समर्थ हुआ एवं अपने मन में संसार के विचित्र रूप का चिन्तवन इस प्रकार करने लगा। मनुष्यों के महामोह उत्पन्न करनेवाली राज्य-लक्ष्मी मायारूपिणी है एवं बिजली के समान अत्यन्त चन्चला है। स्त्री, भाई, पुत्र आदि परिवार के लोग सब क्षणस्थायी हैं; ये सब अपने कर्म के उदय से अतिथि के समान आकर एकत्र हुए हैं। यह प्राणी अपनी इन्द्रियों के द्वारा ठगा गया है; ये इन्द्रियाँ अनायास धर्मरत्न को चुरा कर मनुष्य को नरक में पहुँचा देती हैं। यह मनरूपी हाथी विषय रूपी वन में फिरा करता है एवं निरंकुश होकर धर्म रूपी कल्पवृक्ष को उखाड़ फेंकता रहता है। यह दुष्ट आशा पिशाचिनी के समान मूर्ख लोगों को जकड़ लेती है एवं विषय रूपी माँस खाकर भी तृप्त नहीं होती। जिस शरीर का अन्न, पान एवं आभूषणों से सदा पालन-पोषण किया जाता है, जिसे एकमात्र अपना ही समझा जाता है; आश्चर्य है कि वह भी जीव के साथ नहीं जाता। फिर भला अन्य पदार्थों की तो बात ही क्या है ? ये सूर्य-चन्द्रमा रूपी दोनों बैल दिन-रात रूपी घण्टी यन्त्र के द्वारा मनुष्यरूपी कुएँ से आयुरूपी जल को सदा निकालते रहते हैं। जब तक शरीर स्वस्थ है, तब तक इन्द्रियाँ का बल बना हुआ है। इसलिये जब तक आयु नष्ट नहीं होती, तब तक मनुष्यों को अपना हित कर लेना चाहिये ॥२६०॥ यदि दुर्भाग्य से आयु नष्ट हो गई, तो फिर केवल हाथ मलना हो शेष रह जाता है और मनुष्यों का बहुमूल्य महारत्न 'मनुष्य-जीवन' अपने ही हाथों नष्ट हो जाता है। इस प्रकार चिन्तवन करने से उनकी आत्मा का भला करनेवाला तथा देह-भोग तथा संसार-भोग की विरक्ति से उत्पन्न होनेवाला वैराग्य उनके हृदय में दूना हो गया। उनकी भोगों की इच्छा जाती रही एवं मोक्ष सिद्ध करने की इच्छा प्रबल हो गई। उन्होंने सज्जनों द्वारा त्याग करने योग्य राज्य अनन्तवीर्य के पुत्र अनन्तसेन को दे दिया। तदनन्तर जिनका मन मोक्ष में लगा हुआ है एवं संवेग आदि गुण जिनके बढ़े हुए हैं, ऐसे वे बलभद्र तपश्चरण धारण करने के लिए शीघ्र ही यशोधर मुनि के पास पहुँचे। उन्होंने संसाररूपी सागर को पार कराने के लिए नाव के समान उन मुनिराज के दोनों चरण-कमलों को नमस्कार किया एवं उनकी आज्ञानुसार दोनों प्रकार का परिग्रह त्याग कर संयम धारण किया। तदनन्तर वे संयमी अपना ज्ञान

बढ़ाने के लिए तथा मन एवं इन्द्रियों को वश में करने के लिए, उन मुनिराज के समक्ष सदा अंगपूर्व एवं प्रकीर्णकों का अभ्यास करते रहते थे। वे मुनिराज कर्मों को नष्ट करने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार, संकुचित हृदयवालों को भय उत्पन्न करानेवाले, अत्यन्त कठिन बारह प्रकार के तपश्चरण विधिपूर्वक करते थे। शरीर से ममत्व दूर करने के लिए तथा अशुभ कर्मरूपी वन को जलाने के लिए, अग्नि के समान कभी पन्द्रह दिन का, कभी महीने भर का या कभी इससे भी अधिक दिन का कायोत्सर्ग किया करते थे। वे मुनि आर्त-ध्यान एवं रौद्र-ध्यान का त्याग कर मनरूपी हाथी को वश में करने लिए सिंह के समान धर्म-ध्यानादि का ही रात-दिन आचरण करते रहते थे। मुनियों के आचरण को विशुद्ध रखने के लिए वे मुनिराज प्रमाद-रहित हृदय से सुख के सागर मूल-गुण एवं उत्तर-गुणों का नियमानुसार पालन करते थे ॥१७०॥ वे चतुर मुनि मोक्ष के निमित्त उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों को धारण करते थे एवं वैराग्य बढ़ाने के लिए अनुप्रेक्षाओं का बार-बार चिन्तवन करते थे। वे मुनि ध्यान एवं अध्ययन के लिए गुफा, पर्वत, श्मशान, वन एवं सूनी बस्ती आदि में सदा अकेले निवास करते थे। श्रेष्ठ मोक्ष-मार्ग से कभी विचलित न हो जायें, इसलिये वे धीर-वीर तपस्वी भूख-प्यास आदि से उत्पन्न होनेवाले दुःखदायी घोर बाईस परीषहों को जीतते थे। वे स्वर्ग-मोक्ष के सुख प्राप्त करने के लिए मधुर वचनों से धर्म की इच्छा रखनेवाले भव्य-जीवों को धर्मोपदेश दिया करते थे। वे मुनिराज ध्यान-अध्ययन आदि की सिद्धि के लिए प्रमादों को त्याग कर रात-दिन निर्जन स्थान में सदा जाग्रत हो रहते थे। वे जितेन्द्रिय मुनिराज कर्मरूपी शत्रुओं का नाश करने के लिए एवं चिर-स्थायी मोक्ष-सुख की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार का काय-क्लेश सहन करते थे उन्होंने अवधिज्ञान के द्वारा अपनी आयु को अल्प जान कर विधिपूर्वक चारों प्रकार की आराधनाओं का आराधन किया। तीस दिन तक सन्यास धारण किया एवं धर्म-ध्यान तथा पूर्ण समाधिपूर्वक अपने प्राणों का त्याग किया। वे अपराजित मुनीश्वर अपने तपश्चरण के प्रभाव से अच्युत नाम के सोलहवें स्वर्ग में सब ऋद्धियों से भरपूर 'अच्युतेंद्र' नाम के इन्द्र हुए बड़ी ऋद्धि को धारण करनेवाले उस इन्द्र ने बड़ी सुन्दर शिलाओं के सम्पुट में रत्नों की दिव्य एवं कोमल शैय्या पर जन्म लिया था ॥१८०॥ अन्तर्मुहूर्त में ही वह यौवन अवस्था को प्राप्त हो गया एवं चैतन्य होकर सब दिशाओं की ओर देखने लगा था। चारों ओर देख कर वह विचार में पड़ गया कि क्या वह इन्द्रजाल है; स्वप्न है या मायामय भ्रमजाल है ? यह

श्री शांतिनाथ पुराण

विचित्र दृश्य क्या है, कुछ समझ में नहीं आता । यह इन्द्र का सभा-भवन है, जो कि बड़ी-बड़ी ऋद्धियों को धारण करनेवाले देवों से भरा है, विपुल शोभा से सुशोभित है, सात प्रकार की सेना से रक्षित है एवं अत्यन्त विशाल है । ये दिव्य कक्ष शोभायमान हैं, सुन्दरी देवियों से भरे हैं, ऊँचे हैं एवं सोने तथा रत्नों की किरणों से व्याप्त हैं । यह नगर महासुन्दर है, जो दिव्य वस्तुओं से भरा हुआ है, मनोहर है, रत्नों के कोट एवं द्वारों से शोभायमान है एवं देव भी इसकी पूजा करते हैं । यहाँ की भूमि बड़ी ही मनोहर है, अनेक प्रकार के रत्नों से बनी हुई है, इसका स्पर्श भी सुख देनेवाला है, देवों से सुशोभित है एवं पुण्य की खानि के समान उत्तम जान पड़ती है । यह मनोहर जिनालय है, जिसमें रत्नों के प्रतिबिम्ब विराजमान हैं तथा जो उत्तम स्तुति गीतों तथा वाद्यों से धर्मरूपी सागर के समान सुन्दर लगता है । बहुविधि आनन्द देनेवाली ये देवियाँ हैं, जो रूप तथा लावण्य की खानि हैं । उनकी आकृति एवं काया सुन्दर है तथा वे मुझे देखकर अपनी प्रवृत्ति बता रही हैं । ये देव हैं, जो बड़ी-बड़ी ऋद्धियों को धारण करनेवाले हैं, अनुपम वस्त्र-आभूषणों से सुशोभित हैं एवं मुझे देख कर मस्तक झुका कर बड़ी विनय से नमस्कार कर रहे हैं । यहाँ सात प्रकार की सेना हैं-जो हाथी, घोड़े आदि से अपनी शोभा बढ़ा रही हैं, जिसके सात भेद हैं, एवं सब कार्यों को सिद्ध करनेवाली है ॥१९०॥ यहाँ मनोहर नृत्य हो रहा है, जिसे नृत्य-सेना कर रही है तथा जो गीत, बाजे तथा रस से भरपूर हैं तथा सब इन्द्रियों को सुख देनेवाले हैं । यहाँ मनोहर गीत हो रहे हैं, जिन्हें गन्धर्व जाति के देव गा रहे हैं, जिनमें से दिव्य स्वर निकल रहा है, जो सुनने योग्य है तथा कानों को सुख देनेवाला है । ये चैत्यवृक्ष शोभायमान हैं, जो बहुत ऊँचे हैं, जिन पर श्री जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाएँ विराजमान हैं तथा जो कल्पवृक्ष के समान जान पड़ते हैं। ये मनोहर क्रीड़ा पर्वत हैं, जो सब दिशाओं को प्रकाशित कर रहे हैं । ये जल से भरी हुई बावड़ियाँ हैं, जिनमें रत्नों की सीढ़ियाँ लगी हुई हैं । ये निर्मल जल से भरे हुए तालाब हैं एवं ये बड़े-बड़े मनोहर वन हैं, जिनमें सब ऋतुओं के फूल-फल रहे हैं । मुझे देख कर ही ये लोग बहुत आनन्द मना रहे हैं । ये लोग पुण्य की मूर्ति, बड़े प्यारे, प्रशंसनीय, विनीत तथा अत्यन्त स्नेह करनेवाले जान पड़ते हैं । यह महान देश सुख की खानि के समान है, तीन लोक के नाथ भी इसकी सेवा करते हैं । यह अनेक महिमाओं से शोभायमान है तथा ऐसा जान पड़ता है, मानो समस्त संसार इसकी वन्दना करता है । इस प्रकार चिन्तवन करते हुए जब तक उस इन्द्र के मन में अपने

पूर्व तथा इस भव की शुभ घटना ज्ञात नहीं होती, तब तक उसे कुछ निश्चय नहीं होता है । उसी समय ज्ञानरूप नेत्रों को धारण करनेवाले उसके मन्त्री उसके मन की बात जानकर आते हैं तथा उसे नमस्कार कर समयानुकूल योग्य वचन कहते हैं । वे कहते हैं-'हे देव ! नमस्कार करते हुए हम लोगों पर निर्मल दृष्टि डाल कर प्रसन्न कीजिए । भूत, भविष्य, वर्तमान की सब बातों को बतानेवाले हमारे वचन सुनिये ॥२००॥ हे स्वामिन् ! आज हम लोग धन्य हैं तथा हम लोगों का जीवन भी आज सफल हुआ, क्योंकि इस स्वर्ग में आपके जन्म लेने से हम लोग पवित्र हो गये हैं । हे देव ! आप प्रसन्न हों, आप की सदा जय हो, आप सदा जीते रहें तथा लक्ष्मी से सदा बढ़ते रहें । इस समय आप इस सम्पूर्ण स्वर्ग-राज्य के स्वामी बने हैं । हे देव ! आपके पुण्योदय से ही इस स्वर्ग में देवों के द्वारा पूज्य, भोग-उपभोगों से भरपूर तथा सुख की खानि यह विभूति आपको प्राप्त हुई है । यह 'अच्युत' नाम का सब से बड़ा स्वर्ग है, जो कि सब के मस्तक पर विराजमान है तथा आनन्द, ऋद्धि एवं कल्याणरूपी समुद्र को बढ़ाने के लिए चन्द्रमा के समान है । जब यहाँ इन्द्र उत्पन्न होता है, तब प्रतीन्द्र आदि दश प्रकार के सभी देव उस इन्द्र का महोत्सव मनाते हैं । यहाँ पर कल्पना करने मात्र से ही भोगों की प्राप्ति हो जाती है, यौवन सदा नवीन बना रहता है, लक्ष्मी सब के उत्तम तथा सदा एक-सी बनी रहती है एवं यहाँ के सुखों का वर्णन वाणी से सम्भव नहीं है । ये स्वर्ग के मनोहर विमान हैं । ये समस्त ऋद्धियों के भण्डार हैं एवं आपके चरणकमलों को नमस्कार करती हुई यह देवों की मण्डली है । ये रत्नों के बने हुए राजभवन हैं, जो दिव्य-देवांगनाओं से भरे हुए हैं, जिनकी कान्ति चन्द्रमा के समान है एवं जो बड़े ही मनोहर हैं । ये जल क्रीड़ा करने हेतु नदियाँ हैं तथा ये क्रीड़ा करने हेतु पर्वत हैं । ये सुन्दर देवियाँ हैं, जो अनेक प्रकार के रूप को धारण करनेवाली हैं, कामदेव के समान रूपवती हैं तथा अनेक प्रकार की लीला-रस प्रकट करने में तत्पर हैं । ये सुन्दरियाँ आप की आज्ञा की ही प्रतीक्षा कर रही हैं । यह दैदीप्यमान छत्र है, यह सिंहासन है, यह चमरों का समूह है एवं ये विजय-पताकायें हैं ॥२१०॥ अनेक सुन्दर देवियों से सेवित, ये अग्र महादेवियाँ हैं, जो कि लावण्यमयी सागर की लहरों के समान हैं तथा आपके लिए समर्पित हैं । यह मदोन्मत्त हाथियों की सेना है, यह पवन के समान द्रुत गतिवाले घोड़ों की सेना है, ये ऊँचे सोने के रथ हैं एवं यह पैदल चलनेवाली (पदाति) सेना है । यह सात प्रकार की सेना सात जगह बँट कर आप से प्रार्थना करती हुई, आप के चरण-कमलों को

नमस्कार कर रही है । जिसे सब नमस्कार कर रहे हैं एवं जो समग्र लक्ष्मी (वैभव) का मन्दिर है एवं उत्तम है, ऐसा यह सम्पूर्ण स्वर्ग का साम्राज्य आप के पुण्योदय से आप के समक्ष प्रस्तुत है, कृपया आप इसे ग्रहण कीजिए ।'

मन्त्रियों के ये वचन सुनते ही उस इन्द्र को पूर्वोत्तर सारी बातों को सूचित करनेवाला अवधिज्ञान प्रगट हो गया था । अपने अवधिज्ञान से उस इन्द्र ने अपने पूर्व भव की सब बातें जान ली थीं एवं वह उस भव में उपार्जन किये हुए धर्म का चिन्तवन करने लगा था वह विचार करने लगा था कि देखो, मैंने पहिले जन्म में अपनी शक्ति-भर बहुत दिनों तक घोर तपश्चरण किया था, जो कि इतर जीवों के द्वारा असम्भव था । मैंने पहिले संवेग, निर्वेग आदि अग्नि से विषयंरूपी वन को जलाया था एवं ब्रह्मचर्य के प्रहार से कामदेवरूपी शत्रु को परास्त किया था । उत्तम, क्षमा, मार्दव आदि कुठारों से मैंने मायारूपी बेल को (जिसमें नरकादिक फल लगते हैं) तथा कषायरूपी वृक्ष भी काट डाले थे । राग, द्वेष आदि महाशत्रुओं को ध्यानरूपी खम्भे से बाँध दिया था तथा जीवित रहने को आकांक्षा रखनेवाले प्राणियों को 'अभय दान' दिया था ॥२२०॥ मैंने अपने पूर्व भव में चारित्र-रूपी शस्त्र द्वारा दुर्गति प्रदायक मोह-रूपी शत्रु को निहत किया था एवं मन ही शुद्धतापूर्वक तपश्चरण का पालन किया था । मैंने मन-वचन-काय की शुद्धि एवं भक्तिपूर्वक सम्यग्दर्शन, सम्यकज्ञान, आदि चारों आराधनाओं का आराधन किया एवं अपने मन में तीनों लोक के नाथ सर्वज्ञदेव के स्वरूप को धारण किया था । मैंने पूर्व जन्म में आर्त-रौद्र आदि अशुभ ध्यान का नाश किया था एवं कर्म-रूपी ईंधन को जलाने के लिए अग्नि के समान धर्मध्यान आदि को धारण किया था । इस प्रकार मैंने पूर्व जन्म में महाधर्म धारण किया था; उसी ने मेरा दुर्गति से उद्धार कर मुझे इस स्वर्ग के साम्राज्य में स्थापित किया है । जीवों की राग-द्वेष रूपी अग्नि की ज्वाला कभी शान्त नहीं होती है; यदि वह शान्त होती है, तो सैकड़ों जन्मों के उपरान्त श्रेष्ठ चारित्र-रूपी जल के सींचने से ही शान्त होती है । परन्तु वह चारित्र तो इस स्वर्गलोक में सुलभ नहीं है, इसलिए अब मैं क्या करूँ ? इस स्वर्गलोक में देवों को केवल सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की ही योग्यता है । इसलिए आत्म-धर्म की सिद्धि के लिए मुझे कल्याणकारी तत्वों का श्रद्धान हो एवं श्री जिनेन्द्र देव के चरण-कमलों में मेरी निश्चल भक्ति अटल हो । अब मुझे अकृत्रिम चैत्यालयों में तथा भगवान के पन्च-कल्याणकों में सब तरह के कल्याण

एवं विभूतियों को सिद्ध करनेवाली श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करनी चाहिए ।' ऐसा चिन्तवन कर दिव्य आभरण एवं वस्त्रादिकों से विभूषित होकर वह अच्युतेन्द्र साथी देवों के साथ श्रीजिन-मन्दिर में गया । जिसका मन भक्ति से ओत-प्रोत हुआ है, ऐसे उस इन्द्र ने सर्वप्रथम श्री जिनप्रतिमा की महापूजा बड़ी भक्ति के साथ की ॥२३०॥ उसने स्वच्छ पवित्र जल से, दिव्य गन्ध के विलेपन से, स्वर्ग में उत्पन्न होनेवाले मोती आदि उत्तम अक्षतों से, चम्पा आदि उत्तम पुष्पों से, अमृत के बने हुए नैवेद्य से, रत्नों के दीपक के महाधूम से तथा कल्पवृक्षों के फल से तथा वाद्य-वादित्र के मनोहर गुंजार के द्वारा, अनेक प्रकार के स्तोत्रों से एवं मनोहर नृत्यों से अपने परिवार के सदस्यों के संग जिनेन्द्र भगवान की भव्य पूजा की । तदनन्तर उस अच्युतेन्द्र ने बड़ी भक्तिपूर्वक स्वर्ग में उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकार के द्रव्यों से चैत्यवृक्षों पर विराजमान भगवान की प्रतिमाओं की पूजा की । इसके उपरान्त उस इन्द्र ने बड़ी भारी विभूति के साथ अपने पुण्य-कर्म से प्राप्त होनेवाले स्वर्ग के साम्राज्य की पट्ट बन्धपूर्वक स्वीकार किया । वह अच्युतेन्द्र धर्म के प्रभाव से मन में रमण के संकल्प करने मात्र से ही देवागंनाओं के साथ उपमा रहित दिव्य सुखों का अनुभव करता था । उसके नेत्रों की टिमकार नहीं लगती थी; इसलिये वह इन्द्र देवियों के समूह में बैठकर बिना टिमकार लगाए (अपलक) कभी नृत्य देखता था एवं कभी उनके गीत सुनता था । कभी वह अपनी देवांगनाओं के साथ जल क्रीड़ा किया करता था । बाईस हजार वर्ष पूर्ण हो जाने पर वह अमृतमय, उत्कृष्ट एवं तृप्तिदायक मानसिक आहार ग्रहण करता था । इसी प्रकार बाईस पक्ष या ग्यारह मास व्यतीत हो जाने पर थोड़ा-सा उच्छ्वास लेता था । वह सब प्रकार के रोगों से रहित था एवं सब देव उसकी पूजा करते थे ॥३४०॥ अपने अवधिज्ञान से वह अधोलोक की पाँचवीं भूमि (पंचम नरक) तक स्थूल-सूक्ष्म, चर-अचर सब मूर्तिमान पदार्थों के विषय में जानता था । उस इन्द्र की पाँचवीं भूमि तक की समस्त कार्यों को सिद्ध करनेवाली तथा शरीर से उत्पन्न होनेवाली मनोहर एवं सुन्दर विक्रिया ऋद्धि प्राप्त थी । उस इन्द्र को अनेक रूप धारण करनेवाले उत्तम एवं श्रेष्ठ अणिमा, महिमा आदि आठ गुण प्राप्त थे । वह धीर-वीर इन्द्र हार, कुण्डल, केयूर, शेखर आदि दिव्य आभूषणों से विभूषित था, दिव्य वस्त्र धारण किए हुए था एवं अनेक ऋद्धियों से सुशोभित था । इस प्रकार वह अच्युतेन्द्र देवों से भरे हुए सभा भवन में सिंहासन पर विराजमान होकर सम्यग्दर्शन का कारणभूत धर्मोपदेश दिया करता था । वह इन्द्र

सम्यग्दर्शन की अभिवृद्धि हेतु विपुल विभूति एवं भक्ति से देवों के साथ पन्च-कल्याणकों में जाकर पूजा किया करता था। ज्ञान एवं निर्वाण-कल्याणक की तिथि पर वह इन्द्र अपने परिवार के संग विपुल विभूति से केवलज्ञानियों की पूजा किया करता था। वह इन्द्र मध्यलोक में मेरु पर्वत, कुण्डल पर्वत, रुचक पर्वत तथा नन्दीश्वर द्वीप में जाकर श्री जिनेन्द्र देव की प्रतिमाओं की महापूजा किया करता था। इस प्रकार सब देव जिसकी पूजा किया करते थे, ऐसा वह अच्युतेन्द्र धर्म में लीन होकर बाईस सागर पर्यन्त सुख-सागर में निमग्न रहा था। सब देव जिसकी सेवा करते हैं, जो देव-देवियों से पूर्णतः वेष्टित (घिरा) है, जिसे किसी तरह की कोई बाधा नहीं है, जो विक्रिया ऋद्धि से उत्पन्न हुआ है तथा सब पापों से रहित है, स्वर्ग के राज्य को प्राप्तकर ऐसा वह अच्युतेन्द्र अपने चारित्र फल के उदय से प्राप्त हुए उत्तम सुखों का उपभोग करता था ॥२५०॥ देखो, दो भ्राताओं ने विभिन्न प्रकार से राज्य का फल भोगा था, उनमें से एक तो अच्युत स्वर्ग का इन्द्र हुआ एवं दूसरा पाप के फल से महादुःख दायक नरक में गया। यह समझकर बुद्धिमानों को अपनी आत्मा का हित करना चाहिए। यह धर्म परम्परागत रूप से भी सुख का प्रदाता है; इसलिये बुद्धिमान लोग धर्म का ही सेवन करते हैं। इस धर्म के ही प्रभाव से देव पद प्राप्त होता है, इसलिये मैं इस धर्म को सदा नमस्कार करता हूँ। इस धर्म से ही मोक्षा का अक्षय सुख प्राप्त होता है, इस धर्म का बीज कारण मन की शुद्धि है; इसलिये मैं अपने हृदय को धर्म में ही लगाता हूँ। हे धर्म ! सदा मेरी रक्षा कर ! जिनके हृदय में नारी-सुख की अभिलाषा है, उनको यह श्रेष्ठ नारी-रत्न से समागम करा देता है। जो राज्य चाहते हैं, उन्हें विशाल राज्य दिलाता है। जो सुख चाहते हैं, उन्हें सुख देता है। जो स्वर्ग की कामना करते हैं, उन्हें स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त करता है एवं जो मोक्ष के अभिलाषी हैं, उन्हें मोक्ष प्राप्त कराता है। संसार में ऐसा कौन-सा पदार्थ है, जो धर्म के सहारे प्राप्त न हो सके ? इस धर्म से तीनों लोकों में उत्पन्न होनेवाले समस्त सुख प्राप्त होते हैं। श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्रदेव ही शान्ति रूप सुख के प्रदाता हैं, इसीलिये विद्वतजन श्री शान्तिनाथ भगवान का ही आश्रय लेते हैं। तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ ने मोक्षपद प्राप्त किया है, इसलिये उन श्री शान्तिनाथ को मैं नमस्कार करता हूँ। श्री शान्तिनाथ के अतिरिक्त अन्य कोई भी मनुष्यों का शरण नहीं है, वस्तुतः मोक्ष भी श्री शान्तिनाथ की ही शरण है। इसलिये मैं अपना हृदय भी शान्तिनाथ के ही चरण-कमलों में अर्पित करता हूँ। हे शान्ति प्रदायक श्री शान्तिनाथ !

आप मुझे सदैव शान्ति प्रदान कीजिये ।

इस प्रकार श्री शान्तिनाथ पुराण में अनन्तवीर्य के दुःखों एवं अच्युतेन्द्र के सुखों का वर्णन करनेवाला यह सातवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥७॥

आठवाँ अधिकार

मैं अपने पाप शान्त करने के लिए शान्तामृत-रूपी रस के सागर एवं तीनों लोकों में शांति देनेवाले श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर को मन-वचन-काय से मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर-राजा स्तिमितसागर का जीव, जो धरणेन्द्र हुआ था, वह अपने अवधिज्ञान से अनन्तवीर्य (अपने पुत्र) को नरक में पड़ा हुआ जानकर उसे समझाने के लिए वहाँ गया । वह स्तिमितसागर का जीव धरणेन्द्र अपने पुत्र अनन्तवीर्य को दुःख-सागर में निमग्न देखकर उसका उद्धार करने के लिए करुणावश निम्नोक्त वचन उसके सामने कहने लगा-'हे नारकी ! तूने पूर्व भव में कोई पुण्य कार्य नहीं किया था, न तो मुनियों को उत्तम दान दिया था एवं न श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा की थी । न गृहस्थों के योग्य व्रत धारण किये, न सम्यग्दर्शन धारण किया तथा न श्री जिनेन्द्रदेव के चरण-कमलों की सेवा की । विषय-रूपी माँस के लोलुप होकर तुझ मूर्ख ने बहुत-सा आरम्भ धारण कर निरन्तर पाप उपार्जन किया था । जिसके फल से ही तुझे यह असह्य, अशुभ तथा प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाला अनेक प्रकार का घोर दुःख भोगना पड़ा है । तुझे इस दुःख से छुड़ाने के लिए इन्द्र या नरेन्द्र कोई भी समर्थ नहीं है । यदि कोई समर्थ है, तो वह पाप-कर्मरूपी ईंधन को जलाने के लिएं अग्नि के समान धर्म ही समर्थ है । यह धर्म ही जीव के साथ जाता है, पग-पग पर उसका हित करता है, स्वर्ग का राज्य दिलाता है एवं वचनातीत सुख देता है । जो जीवों को अधोलोक से निकल कर शाश्वत मोक्ष-सुख में स्थापित कर दे, वही धर्म है । यह धर्म स्वर्गमोक्ष को देनेवाला है ॥१०॥ यह धर्म सन्चित किये हुए पापों को भी नष्ट कर देता है एवं तीनों लोकों में उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकार के कल्याणों को देता है । जिस मोक्ष-लक्ष्मी की सेवा श्री जिनेन्द्रदेव भी करते हैं एवं मुनिराज अपने कठिन तपश्चरण एवं संग्रम के द्वारा सदा जिसकी प्रार्थना करते रहते हैं, ऐसी वह मोक्षरूपी लक्ष्मी धर्मात्मा लोगों को ही प्राप्त होती है । जो मनुष्य दुःखरूपी महासागर में डूबे हुए

हैं, उनको पार कराने के लिए स्वर्ग-मोक्ष देनेवाली धर्मरूपी नाव की मुनिराज ने बतलाई है । जो मूर्ख धर्मरूपी जहाज पर सवार नहीं होते, वे दुःखरूपी मछलियों से भरे हुए इस संसाररूपी समुद्र में सदा डूबते उतारते रहते हैं । यह धर्म ही भाई है, धर्म ही श्रेष्ठ मित्र है, धर्म ही हित करनेवाला स्वामी है, धर्म ही माता-पिता है एवं धर्म ही साथ जानेवाला है, संसार में अन्य कोई ऐसा हित करनेवाला नहीं है । भाईबन्धु इस लोक में हित करें या न भी करें, परन्तु धर्म इहलोक तथा परलोक में सब जगह जीवों का हित करता है । इसलिये यही समझ कर तू जीवों की दया से उत्पन्न होनेवाला सद्धर्म धारण कर एवं समस्त पापों को त्याग दे; क्योंकि यह धर्म ही दुःखरूपी वन को जलाने के लिए अग्नि के समान है । धरणेन्द्र की बात सुनकर, जिसका सब शरीर काँप रहा है एवं जो पापों से डर रहा है ऐसा वह दीन नारकी उसे नमस्कार कर कहने लगा-'हे तात ! जो नरकों के दुःखों से बचानेवाला है, संसाररूपी समुद्र से पार करानेवाला है, उत्तम है एवं श्री जिनेन्द्र देव का कहा हुआ है, ऐसा धर्म कौन-सा है ? मुझ पर कृपा कर आप कहिये ।' इसके उत्तर में वह धरणेन्द्र उस नारकी से कहने लगा-'हे वत्स ! मैं धर्म का स्वरूप कहता हूँ, तू मन लगा कर सुन' ॥२०॥ सम्यग्दर्शन धारण करने से ही परम पवित्र धर्म की प्राप्ति मनुष्यों को होती है । श्री जिनेन्द्र देव के चरण-कमलों में भक्ति करने से, तत्वों का श्रद्धान करने से एवं शास्त्रों का अभ्यास करने से धर्म की प्राप्ति होती है । मुनियों के व्रत पालन करने से 'पूर्ण धर्म' की प्राप्ति होती है, पूर्ण धर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है एवं गृहस्थों के व्रत पालन करने से 'एकदेश धर्म' की प्राप्ति होती है । यह धर्म स्वर्ग का कारण है । इसके सिवाय सत्पात्रों को दान देने से धर्म होता है, श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करने से धर्म होता है, कठिन तपश्चरण करने से धर्म होता है एवं बारह भावनाओं का चिन्तवन करने से मनुष्यों को धर्म की प्राप्ति होती है । इनमें से दुःखरूपी पिशाच से घिरे हुए नारकियों में मुनि या श्रावक के व्रतों का एक अंश भी नहीं होता है । इस नरक में उत्पन्न होनेवाले जीवों के केवल सम्यग्दर्शन की ही योग्यता है एवं यह सम्यग्दर्शन धर्म की जड़ है तथा प्राणियों को नरक से दूर रखनेवाला है । इसलिए तू सम्यग्दर्शन का घात करनेवाली मिथ्यात्व आदि सात अशुभ निन्द्य प्रकृतियों का नाश कर तथा सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर । श्री जिनेन्द्रदेव के अतिरिक्त अन्य कोई देव पूज्य नहीं, दया के बिना अन्य कोई धर्म नहीं, आत्म-तत्व के सिवाय अन्य कोई तत्व नहीं एवं निर्ग्रंथ के अलावा अन्य कोई गुरु नहीं हैं । संसार भर के समस्त तत्वों

को प्रकट करनेवाला जिनागम के सिवाय अन्य कोई आगम नहीं हैं, धर्मात्माओं से प्रेम के अतिरिक्त अन्य कोई स्नेह नहीं है एवं मोक्ष के सामने अन्य कोई सुख नहीं है । रत्नत्रय के समान अन्य कोई रत्न नहीं एवं तीनों लोकों में सुपात्र दान के समान अन्य कोई दान नहीं । श्री जिनेन्द्र देव की पूजा के समान अन्य कोई कल्याण करनेवाली पूजा नहीं । इन सब बातों का निश्चय (श्रद्धान) करना सम्यग्दर्शन का मूल कारण है । ॥३०॥ मुनिराजों ने तत्वों का श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन बतलाया है । इसलिए तू मन को निर्मल कर तत्वों का श्रद्धान कर । जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष-ये सात तत्व जिनागम में कहे गए हैं । अब मैं सम्यग्दर्शन को शुद्ध करने के लिए एंव आत्म-कल्याण करने के हेतु अजर-अमर पद प्रदायक एवं कर्मों का नाश करनेवाले सम्यग्दर्शन के गुणों को कहता हूँ, उसे तू ध्यानपूर्वक सुन । देव, गुरु, तत्व, धर्म एवं शुभ शंका का त्याग कर सुख प्रदाता 'निःशंकित अंग' को धारण कर । तू इहलोक-परलोक सम्बंधी भोगों की आकांक्षाओं का तथा स्वर्ग, मनुष्यों के राज्य की आकांक्षाओं का त्याग कर एवं स्वर्ग-मोक्ष प्रदायक 'निःकांक्षित अंग' का पालन कर । सब संस्कारों का त्याग करने के कारण जिनके सारे शरीर पर मैल लगा हुआ है, मुनि के ऐसे शरीर को देख ग्लानि मत कर, वरन सदा 'निर्विचिकित्सा अंग' का पालन कर । देव, गुरु, धर्म, तत्व, दान तथा श्री जिनेन्द्र देव के पूजन में मूर्खतारूप भावों का त्याग कर 'अमूढ़दृष्टि अंग' का सेवन कर । श्री जिनेन्द्र देव के पवित्र शासन में बालक या अशक्त लोगों को किसी प्रकार का दोष लग जाने पर उसे प्रकट न कर उसको छिपा कर 'उपगूहन अंग' का पालन कर । किसी के व्रत, चारित्र या सम्यग्दर्शन से चलायमान होने पर, डिगने पर, उसको अपने धर्म (सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र) में दृढ़ कर 'स्थितिकरण अंग' का पालन कर । अपने साधर्मियों में, गुरु में, धर्मात्मा मनुष्यों में, शास्त्रों के मर्मज्ञों में, बछड़े से सद्यः प्रसूता गाय के समान प्रेम कर 'वात्सल्य अंग' का पालन कर ॥४०॥ मिथ्या मतों को दूर कर तपश्चरण, दान, पूजा, एवं हृदय की शुद्धि के द्वारा तू जैन धर्म की प्रभावना कर । जिस प्रकार के राज्य सब अंगों को सुशोभित राजा संसार में अपने शत्रुओं का नाश करता है; उसी प्रकार उपरोक्त इन आठों अंगों से सुदृढ़ किया हुआ सम्यग्दर्शन कर्मरूप शत्रुओं को नष्ट कर देता है । इसलिये तू स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त करने के लिए चन्द्रमा के समान निर्मल, उपमा रहित एवं सुख के स्थान ऐसे सम्यग्दर्शन को आठों अंगों के साथ अंगीकार कर । तीन मूढ़ता, आठ

श्री शांतिनाथ पुराण

मद, छः अनायतन एवं आठ शंकादिक (आठों अंगों का पालन न करना) -ये पच्चीस सम्यग्दर्शन के दोष कहलाते हैं। तू देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता एवं शास्त्रमूढ़ता अथवा गुरुमूढ़ता का त्याग कर; क्योंकि ये तीनों मूढ़तायें नरक का कारण हैं। जाति, कुल, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, बल एवं बड़प्पन-ये आठ सम्यग्दर्शन का घात करनेवाले हैं; इसलिये इनका भी तू त्याग कर। मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र एवं इनके आराधन करनेवाले दुर्जन-ये छः अनायतन कहलाते हैं। ये संसार के कारण हैं, इनका तू त्याग कर। पहिले जो निःशंक आदि सम्यग्दर्शन के अंगों का वर्णन किए गये हैं, उनके विपरीत शंकादि सम्यग्दर्शन के दोष कहलाते हैं; उनको भी तू त्याग कर। तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई हित करनेवाला नहीं है; यह सम्यग्दर्शन ही तीनों लोकोंमें मनुष्यों के लिए सब प्रकार के कल्याण करने का एकमात्र साधन है। यह सम्यग्दर्शन मोक्ष-महल की पहिली सीढ़ी है एवं तीर्थंकर आदि की विभूति कामल कारण है ॥५०॥ मैं तो यही मानता हूँ कि इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के पदों को देनेवाले तथा सुखों के कारण सम्यक्दर्शन को जिसने निर्दोष स्वीकार किया है, वही संसार में पुण्यात्मा है। इस प्रकार उस धरणेन्द्र के वचन एवं सम्यक्दर्शन का माहात्म्य सुन कर वह बुद्धिमान नारकी कहने लगा-'हे तात ! मैंने मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक आज शुभ सम्यक्दर्शन स्वीकार किया। मैं अब अरहन्त देव का ही आराधन करूँगा, निर्ग्रंथ गुरु का सेवन करूँगा, अहिंसारूप धर्म को मानूंगा एवं सातों तत्वों का श्रद्धान करूँगा। अब मैं निश्चयरूप से सम्यक्दर्शन रूपी जलयान को ही अपनी शरण मानूंगा; यही मुझे इस नरकरूपी महासागर से शीघ्र ही पार करा देगा।' जिस प्रकार किसी दरिद्र को अमूल्य निधि मिल जाने से आनन्द होता है, उसी प्रकार उस बुद्धिमान नारकी को सम्यक्दर्शन की प्राप्ति से आनन्द हुआ। तदनन्तर वह धरणेन्द्र के चरणों में नमस्कार कर इस प्रकार कहने लगा-'हे स्वामिन् ! आपके प्रसाद से मैं ने सम्यकदर्शन धारण किया। आप पहिले जन्म में भी हित करनेवाले मेरे पिता थे एवं इस जन्म में भी हित करनेवाले पिता हैं।' इस प्रकार सम्भाषण कर उस नारकी ने अपने पिता का सम्मान किया, बारम्बार उनकी प्रशंसा की एवं फिर वह शान्त हो गया। अपने कार्य की सिद्धि होने से जिसे आनन्द प्राप्त हो रहा है, ऐसा वह धरणेन्द्र भी उसे सम्यक्दर्शन स्वीकार करवा कर अपने विमान को लौट गया। अथानन्तर-इसी जम्बूद्वीप में धर्म के स्थानभूत भरतक्षेत्र में विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में गगनवल्लभ नाम का नगर है। उस नगर में पुण्य कर्म के उदय से

श्री शांतिनाथ पुराण

मेघवाहन नाम का विद्याधर राज्य करता था । उसकी धर्मात्मा रानी का नाम मेघमालिनी था ॥६०॥ उन दोनों के मेघनाद नाम का पुत्र हुआ था । यह मेघनाद अनन्तवीर्य का जीव था, जो कि सम्यक्दर्शन के प्रभाव से अपनी नरक की आयु पूरी कर यहाँ आकर उत्पन्न हुआ था । वह रूपवान मेघनाद, दूध, अन्नपान आदि योग्य द्रव्यों के द्वारा 'बाल चन्द्रमा' के समान वृद्धि को प्राप्त हुआ था । कुमार अवस्था को प्राप्त कर उसने जैनागम का अभ्यास किया एवं धर्म-राज्य चलाने के लिए शस्त्रों का भी यथेष्ट अभ्यास किया । यौवनावस्था प्राप्त कर उसने पिता का स्थान (राज्य) ग्रहण किया एवं अपने पुण्य तथा पौरुष के बल से विजयार्द्ध पर्वत की दोनों श्रेणियों पर आधिपत्य स्थापित किया । एक दिन वह मन्दराचल पर्वत के नन्दन वन में जाकर मन्त्र पूजा के द्वारा 'प्रज्ञप्ति' नाम की विद्या को सिद्ध कर रहा था । किसी कारण से वहीं पर उपरोक्त अच्युतेन्द्र आया तथा उसे देखकर स्नेहवश कहने लगा-'हे मित्र ! तू मुझे पहचानता है या नहीं ? मैं अच्युत स्वर्ग का इन्द्र हूँ । मैं पूर्व भव में अपराजित नामक बलभद्र पदवी का धारक था एवं तू अनन्तवीर्य नाम का अर्द्धचक्रवर्ती मेरा अनुज था । उस जन्म में तूने धर्माराधन तो किया नहीं, अपितु बहुत-से आरम्भों के द्वारा अपार पाप अर्जित किया था, जिसके फलस्वरूप तू अपार असह्य दुःखों से भरे हुए पहिले नरक में गया था । पूर्वजन्म के स्नेह के कारण उस जन्म के पिता के जीव (धरणेन्द्र) ने आकर तुझे यथोचित धर्मोपदेश दिया एवं सम्यग्दर्शन ग्रहण करवाया था, जिसके फल से तू विजयार्द्ध पर्वत पर पूज्य तथा श्रेष्ठ कुल में अब विद्याधर सम्राट मेघनाथ हुआ है । आज अनेक विद्याधर तेरे चरणों की वन्दना करते है ॥७०॥ मैं तपश्चरण से अशुभ कर्मों का नाशकर सुख की खानि एवं अतिशय विभूति का एकमात्र स्थान अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुआ हूँ । क्या तू कु-मार्ग में ले जानेवाले इन भोगों का भोग अब भी करता है ? क्या तू बालक के समान नरकों के दुःख भूल गया ? ये भोग घोर नरक के कारण हैं, धर्मरूपी मणियों के चोर हैं, किंपाल फल के समान अन्त में दुःख देनेवाले हैं, खल (दुष्ट) हैं । इनसे कभी तृप्ति प्राप्त नहीं होती । ये विद्युत के समान अत्यन्त चंचल हैं, बड़ी कठिनता से प्राप्त होते हैं । मुनिगण सदैव इनकी निन्दा करते हैं । ये दुःख से उत्पन्न होते हैं एवं अनेक दुःखों को देनेवाले हैं । ये भोग पराधीन हैं, शरीर आदि को दुःख देने के लिए प्रगट होते हैं, चारों गतियों में परिभ्रमण करानेवाले हैं; राग के कारण हैं एवं मूर्खजन ही इनको ग्रहण करते हैं । ये सब प्रकार के दोषों की खानि हैं, समस्त काया को जलानेवाले हैं,

तिर्यंच या म्लेच्छ ही इनका सेवन करते है, ये स्वर्गरूपी भवन में जाने से रोकने के लिए अवरुद्ध कपाट (बन्द किवाड़) हैं। मोक्ष मार्ग के पथिकों के लिए ये दस्यु हैं, अपहरणकर्त्ता हैं। ये विषयरूपी सर्प के समतुल्य हैं तथा रोग-क्लेश आदि दुःखों के समान हैं, इसलिए इन्हें शत्रु समझ कर तू इनका त्याग कर। तीनों लोकों में उत्पन्न हुए भोगों का सेवन करने पर भी तृष्णारूपी अग्नि निरन्तर ही उग्रतर होती रहती है एवं बिना चारित्र रूपी जल के वह कभी शान्त नहीं होती, कभी नहीं बुझता। यह मनुष्य जन्म बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है। इसको प्राप्त कर भी ज़ो अज्ञानी बिना धर्म के केवल भोगों का ही उपभोग करता है, वह बहुमूल्य मणि को त्यागकर नगण्य काँच को ग्रहण करता है। तुमने बहुत दिनों तक विद्याधरों का ऐश्वर्य भोगा, अब इन्हें त्याग कर मोक्ष प्राप्त करने के लिए बहुमूल्य तपश्चरण धारण करो ॥८०॥ यदि तुम इन विषयों से उत्पन्न होनेवाले सुखों को न त्यायोगे, तो फिर नरकों के वचनातीत दुःख पूर्व भव के समान ही भोगोगे। हे विद्याधर ! क्या तू नरक के प्रचण्ड दुःख भूल गया, जो चारित्र को त्याग कर अब इन्द्रियों के सुखों का सेवन कर रहा है ? यह राज्य का भार अनेक प्रकार से बैर (शत्रुता) उत्पन्न करानेवाला है, अनेक प्रकार के अशुभ कर्म-बन्ध करानेवाला है, नरक का निमित्त (कारण) है, धर्म का विनाश करनेवाला है। विद्वान सदैव इसकी निन्दा करते हैं, इसलिए तुम इसका त्याग करो। यह परिवार भी केवल मोह बन्ध करानेवाला है, क्रूर है, धर्म का नाश करवानेवाला है एवं पाप कर्मों की प्रेरणा देनेवाला है; इसलिये चारित्र धारण करने के लिए तुम इसका भी यथा शीघ्र त्याग करो। समस्त प्रकार के दुःखों के सागर मोहरूपी महाशत्रु का नाशकर जिनेश्वर दीक्षा धारण करो। जिनेश्वरी दीक्षा ही सब प्रकार की चिन्ता-संकल्प-विकल्प आदि से रहित है, समस्त कर्मों का नाश करनेवाली है, सब जीवों का हित करनेवाली है, देवगण भी इसकी पूजा करते हैं, मोक्ष की यह जननी है, अनन्त सुख प्रगट करने का भण्डार है, तीर्थंकर की विभूति प्रदायनी है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि सभी इसकी सेवा करते हैं, तीनों लोक इसको नमस्कार करते हैं। अनेक गुणों से यह भरपूर है, कामरूपी वन को जलाने के लिए यह अग्नि के समान है। चतुर एवं धीर-वीर प्राणी ही इसे धारण कर सकते हैं। यह स्वर्गरूपी गृह का सोपान (सीढ़ी) है एवं सर्व प्रकारेण उपमाओं से रहित है। इस प्रकार इन्द्र के उपदेश से काल-लब्धि के प्राप्त हो जाने से वह विद्याधर उसी समय वैराग्य एवं रत्नत्रय को प्राप्त हुआ। वह विद्याधर तत्काल परिग्रह

श्री शांतिनाथ पुराण

रहित, धीर-वीर एवं समस्त जीवों का हित करने में तत्पर सुरामरगुरु नाम के मुनिराज के समीप पहुँचा ॥९०॥ उस पुण्यवान ने मुनिराज को नमस्कार कर उनकी आज्ञानुसार वस्त्रादिक बाह्य परिग्रह एवं मिथ्यात्वादिक आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर दीक्षा धारण की । उसने समस्त जीवों का हित करनेवाले आगम (शास्त्र) का अभ्यास किया एवं फिर मोक्षरूपी गृह में प्रवेश के लिए अनेक प्रकार से तपश्चरण करने लगा । एक दिन वे मुनिराज काया (शरीर) से ममत्व त्याग कर कर्मों का नाश करने के लिए तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए नन्दन नामक पर्वत पर प्रतिमा योग धारण कर विराजमान हुए । पूर्व भव के अश्वग्रीव का अनुज सुकण्ठ संसार में परिभ्रमण कर अज्ञान तप के फलस्वरूप कहीं पर दुष्ट असुर हुआ था । उस समय वह असुर कहीं जा रहा था । मार्ग में उसने सब तरह के परिग्रहों से रहित एवं पर्वत के समान अचल ध्यानारूढ़ मुनिराज को देखा । उनके दर्शन करने मात्र से ही उस दुष्ट पापी को क्रोध उत्पन्न हो आया एवं फलस्वरुप भय उत्पन्न करानेवाला एवं घोर कष्टदायक उपसर्ग मुनिराज के ऊपर करने लगा । चित्त को डिगानेवाले वध, बन्धन, ताड़न, दुर्वचन एवं हाव-भाव आदि अनेक प्रकार के विकारों से वह दुष्ट मुनि पर उपसर्ग करने लगा । परन्तु उन मुनिराज ने घोर उपद्रवों को जीत कर अपने मन को आत्मध्यान में लगाया एवं निर्भय हो कर मेरु पर्वत के समान निश्चल विराजमान रहे । दैवयोग से कदाचित् पर्वतों की श्रेणियाँ चलायमान हो जायें, परन्तु धीर-वीर मुनियों का ध्यान में प्रवृत्त मन किसी भी समय में चलायमान नहीं हो सकता । उस दुष्ट ने मुनिराज को उनके ध्यान से चलायमान करने की प्रतिज्ञा की थी, परन्तु वह उन्हें विचलित भी न कर सका । इसलिये लज्जित एवं विवश हो कर वह अदृश्य हो गया ॥१००॥ संसार में ऐसे मुनिराज धन्य हैं, जो दुर्जनों के द्वारा घोर उपसर्ग करने पर भी अपने ध्यान से किन्चित् भी चलायमान नहीं होते । ऐसे मुनिराज के चरण-कमलों के इन्द्र, चक्रवर्ती आदि समस्त श्रेष्ठ जन नमस्कार करते हैं । इसलिये मैं भी उनके समान पद (अवस्था) प्राप्त करने के लिए शीश नवा कर उनको नमन करता हूँ । उन मुनिराज ने जीवन-पर्यन्त तपश्चरण किया एवं अन्तमें अपनी आयु अल्प जान कर अपनी शक्ति प्रकट कर संन्यास धारण कर लिया । उन मुनिराज ने श्री जिनेन्द्रदेव के चरण-कमलों में अपना चित्त लगाया, शुभ भावनाओं का आराधन किया एवं अपनी काया आदि से परिणामों का त्याग किया । वे मेघनाद मुनि सन्यास की श्रेष्ठ विधि के अनुसार अपने प्राणों का त्याग कर, उत्तम चारित्र के

श्री शांतिनाथ पुराण

फलस्वरूप सुख के स्थानभूत अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुए । उस प्रतीन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से वहाँ के इन्द्र द्वारा किये गयेउपकार का स्मरण किया, इसलिये उसने उनको नमस्कार कर उनकी पूजा की । वह प्रतीन्द्र पूर्व भव के स्नेह के कारण उस इन्द्र के साथ इन्द्रियों को तृप्त करने वाले समस्त मनोहर भोगों का सदैव आनन्द लिया करता था । वह प्रतीन्द्र उस इन्द्र के साथ जिनालयों में जाकर सदैव पूजा किया करता था एवं जिनेन्द्र भगवान के कल्याणकों में परमोत्सव मनाया करता था । समस्त प्रकार के अतिशयों से सुशोभित एवं परस्पर स्नेह रखनेवाले वे दोनों (इन्द्र एवं प्रतीन्द्र) पूर्व जन्म में अर्जित पुण्य के प्रभाव से सुखसागर में निमग्न हो रहे थे । अथानन्तर-इसी जम्बूद्वीप में गुणों के सागर पूर्व-विदेह क्षेत्र में मंगलावती नाम का एक मनोहर देश है ॥११०॥ वह मंगलावती महादेश अनादि निधन है, सीता नदी तथा कुल पर्वत के मध्य में स्थित है एवं वक्षारगिरि तथा वन की वेदी से आवृत्त (घिरा हुआ) है । उसके मध्य में विजयार्द्ध पर्वत स्थित है, उसकी दो गुफाओं में से गंगा व सिन्धु नामक नदियाँ प्रवाहित होती हैं । इन सब से अर्थात गंगा, सिन्धु एवं विजयार्द्ध पर्वत से उस विशाल देश के छः खण्ड हो गये हैं । सीता नदी, विजयार्द्ध पर्वत एवं गंगा सिन्धु नदियों के मध्य भाग में आर्यखण्ड शोभायमान है, उस आर्यखण्ड में सदैव आर्य जन ही निवास करते हैं । वह मंगलावती देश श्री जिनेन्द्रदेव तथा निर्ग्रन्थ मुनियों की वन्दना के उत्सवों से, यात्रा-पूजा-प्रतिष्ठा आदि धर्मध्यान के सैकड़ों उत्सवों से, विवाह आदि अन्य अनेक पारिवारिक उत्सवों से तथा अन्य मांगलिक कार्यों में भी सदैव शोभायमान रहता है । इसलिये उस देश का 'मंगलावती' नाम सार्थक है । वह देश पुण्यवान जन-समुदाय से भरा हुआ है एवं सदैव मांगलिक कार्यों में सुशोभित है । वह देश समस्त प्राणियों को सुख प्रदायक फलों से परिपूर्ण मनोहर वन, ध्यान में विराजमान कायोत्सर्ग धारण किये हुए मुनिराजों एवं मुनिराज के मुखारविन्द से वर्णित सिद्धांत-शास्त्र के शब्द-समूह से मुनियों के श्रेष्ठ चारित्र के समान शोभायमान है । उस देश के ग्राम बड़े मनोहर हैं, पास-पास स्थित हैं, उनमें अनेक चैत्यालय स्थापित हैं, धर्मात्मा तथा सज्जन जन वहाँ निवास करते हैं । उस देश में वर्षा न तो अधिक होती है एवं न ही कम । चोर, चूहे, तोते, टोड़ी आदि का भय भी नहीं है; न उसमें कुदेवों के मन्दिर हैं, न वहाँ पाखण्डी तथा कुधर्मी हैं ॥१२०॥ वह देश तीनों वर्णों की जनता से भरपूर है, सैकड़ों मुनि उसमें विहार करते हैं तथा गाँव, खेट, मटंव आदि सभी उपभाग उस देश में मौजूद हैं । उस देश में

उत्पन्न हुए कितने ही लोग तपश्चरण के प्रभाव से कर्मों का नाश कर मोक्ष जाते हैं तथा कितने ही रत्नत्रय के प्रभाव से स्वर्ग जाते हैं । चारित्ररूपी धर्म को धारण करने से कितने ही प्राणी 'सर्वार्थसिद्धि' में उत्पन्न होते हैं तथा कितने ही पात्र-दान देने से भोगभूमि में जाते हैं । वहाँ पर असंख्यात तीर्थंकर होते हैं, जिनकी पूजा देव करते हैं तथा गणधर, केवलज्ञानी तथा मुनिराज प्रतिदिन विहार करते रहते हैं । वहाँ पर सद्धर्म (जैनधर्म) सदा विराजमान रहता है । अंग पूर्वरूप श्रुतज्ञान सदा वहाँ रहता है । जिनालय, जिन प्रतिमा एवं मोक्षमार्ग सदा बने रहते हैं । अनेक गुणों से अलंकृत उस देश में रत्नों से परिपूर्ण रत्नसन्चयपुर नामक एक नगर है, जो कोट (किले) में जड़े हुए आकाश को भी प्रकाशित कर सकनेवाले करोड़ों रत्नों से, चैत्यालय के शिखरों पर लगे हुए रत्नों की किरणों से, अनेक गुण-रत्नों से, स्त्री-रत्न आदि चौदह रत्नों से, अन्तरंग के अन्धकार का विनाश करनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूपी रत्नों से, कोट के द्वारों पर जड़ित रत्नों से एवं बाजारों से जौहरियों के रत्नों के ढेरों से दिन-रात शोभायमान रहता है । उस नगर में मनुष्यों के पुण्य कर्म के उदय से पुत्र-रत्न, जवाहिरात एवं सम्यग्दर्शन आदि रत्नों का समूह सदा बना रहता है; इसीलिये उस नगर का 'रत्नसन्चयपुर' सर्वथा सार्थक है । वह नगर सर्वप्रकारेण रत्नों से कुलग्रह के समान सदा सुशोभित रहता है ॥१६०॥ स्वर्ग के समतुल्य वह द्वादश (बारह) योजन लम्बा एवं नौ योजन चौड़ा अकृत्रिम नगर सदैव शोभायमान रहता है । उसके परकोट में, जिनसे रत्नों की किरणें उद्भासित हो रही हैं, जिन पर द्वारपाल सन्नद्ध हैं, ऐसे एक सहस्र (हजार) उच्च एवं मनोहर द्वार है । इसी प्रकार स्वर्ण एवं रत्नों से निर्मित पाँच सौ लघु द्वार प्रतिदिन खुले रहते हैं । विपुल जन-समुदाय से परिपूर्ण मनोहर शोभावाले एवं सदैव एक-से रहनेवाले एक सहस्र (हजार) चौराहे हैं । इसी प्रकार गज, अश्व, रथ पदातिक आदि से परिपूर्ण बारह हजार राजमार्ग हैं । उस नगर में कितने ही रत्नमय जिनालय हैं, कितने ही सुवर्णमय हैं, कितने ही शुद्ध स्फटिक के समान हैं एवं कितने ही वैडूर्यमणि के समान हैं । वे चैत्यालय गगनचुम्बी हैं, विविध प्रकार के हैं, नृत्य-गीत के कोलाहल से गुंजायमान रहते हैं, शिखर पर लगी हुई ध्वजाओं से शोभायमान हैं एवं मनुष्य व स्त्रियों से सदा भरे रहते हैं । वे जिनालय पुष्पों के समूह से व्याप्त रहते हैं, बाजे-गाजे के शब्दों से गुंजायमान रहते हैं एवं सैकड़ों प्रतिष्ठित प्रतिमाओं से धर्म-महासागर के समान जान पड़ते हैं । उन चैत्यालयों में श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करने के लिए वस्त्र-आभूषणों से सुशोभित

स्त्री-पुरुष जाते हैं एवं इन्द्र-इन्द्राणी के समान सुन्दर जान पड़ते हैं ॥१४०॥ उन जिनालयों में कितने ही स्त्री-पुरुष तो पूजा की सामग्री लेकर धर्म करने के लिए जाते हैं एवं कितने ही पूजा कर उसमें से बाहर निकलते जाते हैं। दोपहर के समय कितने ही लोग उत्तम पात्रों को दान देते हैं एवं कितने ही द्वार पर खड़े होकर मुनियों की प्रतीक्षा करते हैं। कितने ही पुण्यवानों के गृह में महादान देने से पंचाश्चर्य होते हैं एवं कितने ही धर्मप्राणों के हृदय में उन्हें देख कर दान देने के भाव उत्पन्न होते हैं। शुभ कर्म के उदय से वहाँ के गृहस्थों के भवन गगनचुम्बी हैं एवं धन-धान्य, पुत्र तथा सुन्दर नारियों से परिपूर्ण हैं। वहाँ पर जो प्रजा निवास करती है, वह सब प्रकार से धनी है, धर्मात्मा है, दानशील है, विवेक सहित है, पुण्यात्मा है तथा मनोहारी है। अपूर्व शोभाओं से अलंकृत ऐसे नगर में पुण्य कर्म के उदय से सब जीवों का कल्याण करने वाले क्षेमकर नामक राजा राज्य करते थे। राजा क्षेमंकर धीर-वीर थे, देवगण उनकी सेवा करते थे, समस्त राजागण उनको नमस्कार करते थे। वे चरम शरीरी थे एवं न्याय-मार्ग में प्रवृत्ति करनेवाले थे। वे भावी तीर्थंकर स्वर्गलोक में प्राप्त होनेवाले समस्त आभूषणों से सुशोभित थे, चातुर थे, वज्रवृषभ-नाराच-संहनन के धारी थे एवं काया (शरीर) पर समस्त शुभ लक्षणों तथा व्यन्जनों से सुशोभित थे। संसार की सब उपमाओं से सहित थे, बड़े रूपवान थे, स्वेद (पसीना) आदि दोषों से रहित थे, मति-श्रुति-अवधि-तीनों ज्ञान के धारक थे तथा तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा सदैव पूज्य थे। उनकी महिमा अनन्त थी तथा पन्च-कल्याणकों के वे स्वामी थे। ऐसे वे श्री जिनेन्द्रदेव संसार में धर्म की मूर्ति के समान सुशोभित होते थे। ॥१५०॥ उनकी कनकचित्रा नामक रानी थी, जो अनिन्द्य सुन्दरी थी। वह हाव-भाव, विभ्रम-विलास में निपुण थी तथा बड़ी पुण्यवती एवं गुणवती थी। उपरोक्त अच्युत स्वर्ग का इन्द्र अपनी आयु पूर्णकर पुण्य कर्म के उदय से इन दोनों के वज्रायुध नामक पुत्र हुआ। वह बड़ा बुद्धिमान था, महा रूपवान था एवं दिव्य शरीर का धारक था। पिता ने अत्यन्त प्रसन्नता से अपने पुत्र की आराधन, प्रीति, सुप्रीति, धृति, मोद, प्रियोद्रव आदि लौकिक क्रियायें सम्पादित की थीं। उसके जन्म से माता के समतुल्य अन्य सब राजमहीषियों को भी सन्तोष हुआ था तथा भावी नरेश (स्वामी) के उत्पन्न होने से परिवार के सदस्यों, प्रजा तथा सेवकों को भी सन्तोष हुआ था। अमृत के समान दुग्ध आदि उत्तम पेय पदार्थों से उसका सुन्दर शरीर बाल-चन्द्रमा के समान बढ़ता था। अनुक्रम से कुमार अवस्था को प्राप्त कर वह जैन-सिद्धान्त-शास्त्र,

राजनीति तथा शास्त्र-विद्या आदि समस्त विद्याओं में निपुण हो गया । वह राजकुमार हार, शेखर, केयूर, कुण्डल आदि आभूषणों से, दिव्य शस्त्रों से, यौवन अवस्था से एवं विलक्षण गुणों से शोभायमान था । उसे मति-श्रुति अवधि तीनों ज्ञान प्राप्त था । वह धीर था, चतुर था, त्यागी था एवं विवेकी था । उसने अपनी कान्ति से चन्द्रमा को भी पराजित कर दिया तथा अपनी दीप्ति से सूर्य को परास्त कर दिया था । अनेक नरेश उसकी सेवा करते थे, सब दिशाओं में उसका निर्मल यश फैल गया था तथा वह सदा न्याय-मार्ग में लीन था, उत्तम राजनीति की प्रवृत्ति करनेवाला था । वह अत्यन्त मधुर भाषण करनेवाला था, अपने रूप से कामदेव को भी जीतनेवाला था, श्री जिनेन्द्रदेव के चरण-कमलों का भक्त था एवं जैन धर्म को प्रभावना करनेवाला था ॥१६०॥ वह राज्य के भार को धारण करता था, ज्ञानी था, सूक्ष्मदर्शी था, विद्वानों में श्रेष्ठ था, तत्ववेत्ता था, बुद्धिमानों के द्वारा पूज्य था एवं गुरुजनों की सेवा करने में तत्पर था । वह बुद्धिमान सम्यग्दर्शन से सुशोभित था, श्रावकों के व्रतों का पालन करता था, धर्मध्यान में तत्पर था एवं उसके सर्वांग में समस्त शुभ लक्षण एवं व्यन्जन विराजमान थे । इस प्रकार अनेक प्रकार की सम्पदा से वह राजकुमार वज्रायुध भूमिगोचरी एवं विद्याधर राजाओं के साथ संसार में नागकुमार के समान शोभायमान था । पुण्य कर्मों एवं त्याग आदि गुणों के कारण उसका कुन्द पुष्प के समान निर्मल यश समस्त दिशाओं में विकीर्ण (प्रसारित) हो गया । पिता ने बड़े उत्सव-समारोह एवं पूर्ण विधि के साथ रूप-गुण की राशि लक्ष्मीवती के साथ उसका विवाह कर दिया था । संसार सुख में आसक्त रहनेवाले उन दोनों के सहस्रायुध नाम का पुत्र हुआ था । अपने योग्य भोजन-पान एवं सम्पदाओं से सहस्रायुध अनुक्रम से वृद्धि को प्राप्त हुआ एवं कुमार अवस्था को प्राप्त कर देवकुमारों के समान शोभायमान होता था । उसने जैन-आगम का अभ्यास किया था, वह प्रखर बुद्धिमान था, रूप-लावण्य एवं शोभा से अत्यन्त सुशोभित था । गुणों के साथ-साथ उसे यौवन अवस्था भी प्राप्त हुई थी । वह जिन भक्त था, सदाचारी था, त्यागी था, भोगी था एवं शुभ कर्मों का मानो सागर (समुद्र) था । पिता ने गृहस्थ धर्म धारण करवाने के लिए लक्ष्मी से विभूषिता श्रीषेणा नाम की कन्या के साथ बड़ी विभूति से उसका विवाह कर दिया था ॥१७०॥ भोगों में आसक्त रहनेवाले उन राजदम्पति के शान्तिकनक नामक पुत्र हुआ था, जो चरमशरीरी था, रूपवान था एवं ज्ञानादि गुणों का सागर था । इस प्रकार अपार पुण्य कर्म के उदय से पुत्र-पौत्र आदि

परिवार सहित वे क्षेमंकर कल्पवृक्ष के समान सुशोभित होते थे । अथानन्तर-एक दिन ईशान नामक दूसरे स्वर्ग का पुण्यवान इन्द्र देवों से भरी हुई सभा में सिंहासन पर बैठ कर कहने लगा-'हे देवगणों ! मैं एक वृत्तान्त कहता हूँ, उसे ध्यान से सुनो । यह वृत्तान्त कर्णप्रिय हैं, उत्तम है, पुण्य-प्रदायक है, सद्गुणों का कारण (निमित्त) है एवं धर्म-यश से उत्पन्न होनेवाला है । पूर्व विदेह क्षेत्र के मंगलावती देश के रत्नसंचयपुर नगर में महाराज क्षेमंकर का पुत्र वज्रायुद्ध कुमार है । वह प्रकाण्ड बुद्धिमान है, असंख्य गुणों का सागर है, तत्वों का ज्ञाता है, धर्मात्मा है एवं मति-श्रुति-अवधि-इन तीनों ज्ञानों से सुशोभित है । वह अनेक सुखों की खानि है, निःशंकित आदि गुणों से सुशोभित है, शंका आदि दोषों से रहित है एवं उसने सम्यग्दर्शन की विशुद्धि भी प्राप्त कर ली है । वज्रायुध की इस प्रकार स्तुति सुन कर विचित्रशूल नामक देव के चित्त में शंका उत्पन्न हुई एवं वह कुमार की परीक्षा लेने के लिए पृथ्वी पर आया । वह देव अपना रूपान्तर कर वज्रायुध के समीप पहुँचा एवं उसकी परीक्षा करने के लिए 'एकान्तवाद' का आश्रय लेकर उससे पूछने लगा-'आप जीवादि पदार्थों पर विचार करने में चतुर हैं, इसलिये तत्वों के स्वरूप को सूचित करनेवाले मेरे वचनों पर विचार कीजिये ॥१८०॥ क्या जीव क्षणिक है, नित्य है या नित्य नहीं है ? क्या वह सब कर्मों का कर्त्ता है या नहीं ? क्या वह कर्मों के फलों का भोक्ता है अथवा नहीं, ? जो जीव कर्मों को करता है, उनका फल वहीं भोगता है या अन्य कोई ? यह जीव सर्वव्यापी है या तिनके छिलके के समान सूक्ष्म है ? वह ज्ञानी है अथवा जड़ है ? आप इन सब शंकाओं का निरूपण कीजिये ।' उस देव की जिज्ञासा को सुनकर 'अनेकान्तवाद' का आश्रय लेकर कुमार वज्रायुध मधुर एवं श्रेष्ठ वचनों द्वारा शंका समाधान करने लगा । वह बोला-'हे देव ! तुम अपने मन को निश्चल कर सुनो । मैं जीवदि पदार्थों का लक्षण पक्षपात रहित होकर कहता हूँ । यदि जीव को क्षणिक माना जाये, तो पाप-पुण्य का फल, चिन्ता आदि से उत्पन्न होनेवाला काय, चोरी आदि विचारपूर्वक किये हुए कार्य, ज्ञान-चारित्र आदि का अनुष्ठान एवं कठिन तपश्चरण आदि कुछ भी नहीं बन सकेंगे तथा शिष्यों को अन्य जीवों से ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं हो सकेगी । यदि जीव को सर्वथा नित्य माना जाये, तो कर्मों का बन्ध-मोक्ष आदि कुछ भी नहीं बन सकेगा । इन सब दोषों से भय से बुद्धिमान पुरुषों को परीक्षा कर 'एकान्तवाद' से दूषित अन्य सब मतों के पक्षों (प्रमाणों) का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये । बुद्धिमानों को 'अनेकान्तवादी' जैन धर्म का ही

पक्ष (तर्क) स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि यही सत्य है, तत्वों के यथार्थ स्वरूप को सूचित करनेवाला है तथा नयों से कथन करनेवाला है ॥१९०॥ व्यवहार नय से यह जीव अनित्य है, क्योंकि यह जन्म-मरण-वृद्धावस्था-रोग आदि से रहित है एवं कर्मों से बंधा हुआ है। परमार्थ (निश्चय) नय से यह जीव सदा नित्य है, क्योंकि निश्चय से यह जीव जन्म-मरण-वृद्धावस्था-बन्ध-मोक्ष-संसार आदि सब से रहित है। त्याग करने योग्य उपचारित सद्भूत (व्यवहार) नय की अपेक्षा से यह जीव शरीर-कर्मों का कर्त्ता है तथा घट-पट आदि सांसारिक कार्यों का कर्त्ता है। अशुद्ध निश्चय नय से यह जीव रागादि भावों का कर्त्ता है। परन्तु शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से न तो यह कर्मों का कर्त्ता है, न रागादि भावों का कर्त्ता है। व्यवहार नय से यह जीव सुख-दुःख देनेवाले कर्मों के फल को सदा भोगता है, परन्तु निश्चय नय से किसी का भोक्ता नहीं है। पर्यायार्थिक नय से जो जीव कर्मों को करता है, वह उसके फल को नहीं भोगता; किन्तु दूसरे जन्म में उसकी भावी पर्याय ही उसके फल को भोगती है। परन्तु निश्चय नय से जो जीव कर्मों को करता है, वही उसके सुख-दुःखरूपी फल को भोगता है, अन्य (दूसरा) कोई नहीं भोगता। निश्चय नय से इस जीव के असंख्यात प्रदेश हैं एवं केवलिसमुद्रघात के समय यह जीव जगतव्यापी हो जाता है। परन्तु समुद्रघात के बिना यह जीव व्यवहार नय से लघुकाय या विराटकाय जैसी काया (शरीर) पाता है, उसी के अनुसार हो जाता है। इसका कारण यह है कि दीपक की शिखा के समान इस जीव में भी संकोच एवं विस्तार की शक्ति है। उसी से यह जीव छोटे-बड़े शरीर के बराबर हो जाता है। शुद्ध निश्चय नय से जीव केवलज्ञान एवं केवलदर्शन से अभिन्न है अर्थात तन्मय है, परन्तु व्यवहार नय से यह मतिज्ञानी व श्रुतिज्ञानी ही है ॥२००॥ इस प्रकार जीव के बन्ध-मोक्ष कर्मों का कर्तत्व, भोक्तृत्व आदि सब अनेक नयों से ही बन सकता है। एकान्त नय से तो कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बन्ध, मोक्ष आदि सब धर्म सर्वथा मिथ्या सिद्ध होते हैं।' इस प्रकार तत्वों के स्वरूप से आविष्ट वज्रायुध के अमृत तुल्य वचन सुन कर वह देव मोक्ष पद प्राप्त करने सदृश ही परम सन्तुष्ट हुआ। तदनन्तर उसने अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट किया एवं स्वर्ग में इन्द्र ने जो उनकी स्तुति-प्रशंसा की थी, वह आद्योपान्त कह सुनाया। उस देव ने दिव्य वस्त्रादिक पहिना कर बड़ी भक्ति से उनकी पूजा की, बारम्बार उनकी प्रशंसा की, उनको नमस्कार किया एवं तब स्वर्ग को लौट गया। संसार में वे पुरुष धन्य हैं जिनकी स्तुति इन्द्र भी करता है, देवगण आकर जिनकी परीक्षा लेते

श्री शांतिनाथ पुराण

हैं, जो सम्यग्दर्शनरूपी रत्न से सुशोभित हैं । अथानन्तर-राजा क्षेमंकर पृथ्वी (राज्य) का पालन करते थे; जो प्राप्त था, उसकी रक्षा करते थे एवं जो नहीं (अभाव) था, उसके उत्पन्न (निवारण) करने का प्रयास (उपाय) करते थे । एक दिन काल-लब्धि प्राप्त होने से उन्हें आत्म-ज्ञान प्राप्त हुआ एवं वे इस प्रकार चिन्तवन करने लगे-'आश्चर्य है कि बिना चारित्र के मेरा बहुत-सा जीवन-काल यों ही बीत गया एवं मोहनीय कर्म के उदय से इन्द्रियों के सुखों के आधीन रहनेवाले मुझे यह प्रतीति भी नहीं हुई । इस संसार में इन तीनों ज्ञानों से भला क्या सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि इन ज्ञानों से तो मोक्षरूपी रमणीरूपी का मुखकमल भी दृष्टिगोचर नहीं होता । मैं तीर्थंकर हूँ एवं मेरा ज्ञानरूपी जाग्रत नेत्र है, फिर भी व्यर्थ ही बहुत दिनों तक मोहरूपी सागर में यों डूबा रहा । तब भला अन्य अज्ञानी प्राणियों को तो गणना ही क्या है ? ॥२१०॥ जिनके हाथ में दीपक है एवं फिर भी वे कुएँ में गिर पड़ते है, तो उन प्रमादियों का हाथ में दीपक लेना व्यर्थ है । उसी प्रकार जिनका ज्ञान रूपी दीपक प्रज्वलित है एवं तब भी अपनी आत्मा को मोहरूपी अन्धकूप में डाल रहे हैं, उनका ज्ञानादिक का अभ्यास करना व्यर्थ ही है । इस संसार में अज्ञानी जीव ही राज्य-पुत्र-कुटुम्ब आदि जालों से, विषयरूपी साँकलों से एवं दुःखदायी कर्मों से बंधते हैं परन्तु ज्ञानी जीवों को ये राज्यादिक सुख एवं परिवार आदि का समूह सदा स्वप्निल साम्राज्य के समतुल्य प्रतीत होता है । इसलिये जब तक यमराज का निमन्त्रण नहीं आ जाता, तब तक चतुर प्राणियों को धर्म का सेवन कर लेना चाहिये । क्योंकि पीछे यह जीव भी नहीं कर सकता । इस प्रकार का चिन्तवन करने से उन महाभाग क्षेमंकर का मोक्षरूपी रमणी के संग समागम का कारणभूत संवेग (संसार से भय) द्विगुणित बढ़ गया । उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर भावी तीर्थंकर को नमस्कार किया एवं उनके गुणों का वर्णन करनेवाले वचनों से उनकी स्तुति करना प्रारम्भ किया । वे स्तुति कर कहने लगे-'हे देव ! आप तीनों लोकों के नाथ हैं एवं मोक्ष के स्वामी भी आप हैं । हे जिनेन्द्र ! सन्मार्ग में चलनेवाले भव्य जीव रूपी पथिकोंके लिए आप नायक हैं । हे श्री जिनेन्द्रदेव ! भगवद् भक्ति में निमग्न इन्द्रगण भी आपको नमस्कार करते हैं; आपके श्रेष्ठ गुणों की कामना रखते हुए मुनिराज भी आपका ध्यान करते हैं ॥२२०॥ हे स्वामिन् ! आज आपका धर्मोपदेश सुनकर भव्य जीवों का मोह नष्ट हो जायेगा एवं आज अनेक भव्य प्राणी मोक्ष प्राप्त करेंगे । हे नाथ ! आज आपके संवेग रूपी खड्ग धारण करने पर तीनों लोकों के नायकों को जीतनेवाला

यह मोह, काम आदि अपनी सेना के साथ होते हुए भी भयभीत हो रहा है । आप तीनों ज्ञानों के धारक हैं, इसलिये आप को बोध कौन करा सकता है ? आप संसार के समस्त जीवों को बोध कराने वाले हैं। आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी तीर्थ की प्रवृत्ति नहीं कर सकता । इसलिये हे देव ! आप मोहरूपी महायोद्धा का विनाश कर मोक्ष को सिद्ध करनेवाली एवं अपनी आत्मा का तथा अन्य जीवों का कल्याण करनेवाली श्री जिनेश्वरी दीक्षा शीघ्र ही धारण कीजिये ।' इस प्रकार वैराग्य उत्पन्न करनेवाली स्तुति को कर तथा बारम्बार उनको नमस्कार कर वे लौकान्तिक देव अपना कार्य पूर्ण कर अपने-अपने स्थान को चले गये । भावी तीर्थंकर क्षेमंकर ने अपार विभूति के साथ वज्रायुध कुमार का राज्याभिषेक कर उनको अपना राजा पद दे दिया एवं स्वयं दीक्षा धारण करने के लिए प्रस्तुत हुए । सर्वप्रथम देवों ने उनका अभिषेक किया, फिर वस्त्रों-आभूषणों से विभूषित हो कर वे उत्तम पालकी में बैठ कर महल से वन को गये । वहाँ पहुँच कर उन्होंने सिद्धपद प्राप्त करने के लिये सिद्धों को नमस्कार कर पंचमुष्ठियों से अपने केशों का उत्पाटन (अर्थात केशलोंच) किया । इस प्रकार इन्द्रों से पूजित होकर भी उन्होंने विरक्त भावों से अन्तरंग-बहिरंग उपाधियों (परिग्रहों) का त्याग किया एवं मोक्ष प्राप्त करने के लिए दीक्षा धारण की । तदनन्तर वे द्वादश प्रकार का घोर तपश्चरण करने लगे, अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए कृत-कारित आदि दोषों से रहित शुद्ध आहार ग्रहण करने लगे ॥२३०॥ वे सब प्रमादों को नष्ट कर चित्त को स्थिर करने के लिए समस्त इन्द्रिय को वश में करने के लिए सिंह के समान निरन्तर श्रुतज्ञान का अभ्यास करने लगे । उन्होंने ध्यानादि की सिद्धि के लिए अपने चित्त को मोह रहित, अहंकार-रहित, जितेन्द्रिय, क्रोधरहित एवं निर्मल बना डाला । धीर-वीर क्षेमंकर ने क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर शुक्लध्यानरूपी खड्ग से मोहरूपी शत्रु का संहार किया एवं वे स्वयं निर्विकल्प पद में जाकर विराजमान हुए । उन्होंने अपने ध्यानरूपी तेज से द्वादश गुणस्थान प्राप्त किया एवं घातिया कर्मों का एक साथ विनाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया । उन्हें केवलज्ञान प्राप्त होते ही इन्द्रों के आसन कम्पायमान हुए, अपने अवधि ज्ञान से केवलज्ञान की प्राप्ति का ज्ञान इन्द्रों को हो गया । भगवद् भक्ति में तत्पर वे इन्द्र एवं समस्त देवगण अपने-अपने परिवार सहित अपार वैभव विभूति के संग वहाँ आये एवं जलादि अनेक प्रकार के दिव्य द्रव्यों से तीर्थंकर भगवान की पूजा की । तदनन्तर वे भगवान क्षेमंकर समवशरण एवं चारो प्रकार के संघ के

साथ भव्य जीवों को धर्मोपदेश देने के लिए बहुत-से देशों में विहार करने लगे। अथानन्तर- राजा वज्रायुध अतुल ऐश्वर्यपूर्वक राज्य करने लगे एवं पुण्य कर्म के उदय से अपनी रानियों के संग सांसारिक सुख भोगों का अनुभव करने लगे। वसन्त ऋतु में एक दिन वे धारिणी आदि अपनी रानियों के साथ देवरमण नाम के वन में क्रीड़ा करने के लिए गये थे। वहाँ पर वे सुदर्शन नाम के सरोवर में अपनी रानियों के साथ क्रीड़ा करते हुए बड़े आनन्द एवं सुख से हर्ष विभोर हो रहे थे ॥२४०॥ इतने में एक विद्याधर वहाँ आया। उसने एक विशाल शिला से उस सरोवर को ढँक दिया एवं नागपाश से उसको बाँध दिया; परन्तु वज्रायुध राजा ने अपने हाथ की हथेली से ही उस शिला को दबाया, जिससे उस विशाल शिला के सैकड़ों टुकड़े हो गये। यह देख कर वह दुष्ट विद्याधर तो भाग गया। यह विद्याधर राजा वज्रायुध का पूर्व जन्म का शत्रु था। यह दमितारि विद्याधर का पुत्र विद्युद्दंष्ट का जीव था। इसने इसके पूर्व जन्म में भी उनके साथ बैर किया था। तत्पश्चात् अपने कर्म के आधीन होकर संसार रूपी वन में परिभ्रमण किया तथा किसी समय कुछ पुण्य संचित कर अब विद्याधर हो गया था। राजा वज्रायुध भी अपने पुण्य एवं पौरुष से विघ्न को दूर कर अपनी रानियों के साथ नगर में लौट आये। इस प्रकार पुण्य कर्म के उदय से राजा वज्रायुध का समय अपार सुख से व्यतीत हो रहा था। षट-खण्ड की राज्यलक्ष्मी को प्रदान करनेवाला चक्ररत्न उनकी आयुधशाला में प्रकट हुआ। उनके पुण्य कर्म के उदय से सजीव-अजीव के भेद से दण्ड रत्न आदि चौदह रत्न (सात सजीव, सात निर्जीव) प्रकट हुए थे। तदनन्तर महाराज वज्रायुध अपनी छहों प्रकार की सेना लेकर इन्द्र के समान दिग्विजय करने के लिए निकले। उन्होंने आर्य, म्लेच्छ आदि समस्त देशों में परिभ्रमण किया एवं समस्त राजाओं को तथा मागध आदि व्यन्तर देवों को अपने वश में कर लिया। तदनन्तर वे उनकी सार वस्तुओं तथा कन्या-रत्नों को लेकर अनेक देव एवं विद्याधरों के साथ अपने नगर को लौट आये थे ॥२५०॥ वे प्रतापी सम्राट नौ निधि एवं चौदह रत्नों को प्राप्त कर नारी-रत्न के साथ-साथ चक्रवर्ती के भोगों का उपभोग करते थे। पुण्य-कर्म के उदय से रूप, लावण्य तथा शोभा की निधि (खानि) उनकी छियानवै सहस्र (हजार) रानियाँ थी ! वज्रायुध चक्रवर्ती को आज्ञा पालन करनेवाले बत्तीस हजार मुकुटबद्ध नृपति उनके चरण कमलों को नमस्कार करते थे। उनके चौरासी लक्ष (लाख) गज (हाथी) थे तथा वायु के समान तीव्र गतिवाले अठारह कोटि अश्व थे। वज्रायुध चक्रवर्ती के राज्य

में पदाति सैन्य की, सेवकों की, श्रेष्ठ रत्नों की तथा ऋद्धियों की गणना भला कौन कर सकता था ? वे सम्राट वज्रायुध दश प्रकार के भोगोपभोग की सामग्री के भोग द्वारा मानो अज्ञानी प्राणियों को प्रदर्शित रहे थे कि पुण्य का साक्षात् फल कैसा होता है ? इस प्रकार महाराज वज्रायुध अपने पुण्य-प्रताप (कर्म) के उदय से कुटुम्ब-परिवार के साथ तथा चक्रवर्ती की लक्ष्मी (वैभव) से उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकार के सुख के कारणों के साथ निर्भय होकर प्रति क्षण उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त मनोहर तथा समस्त इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले उत्तम सुखों का अनुभव करते थे। वे चक्रवर्ती मुक्तिरूपी लक्ष्मी को वश में करने के लिए त्रिकाल (तीनों समय) श्री जिन-मन्दिर में जा कर बड़ी भक्ति से जल-चन्दन आदि अष्ट द्रव्यों से सर्व प्रकार के अनिष्टों का निवारण करनेवाली स्वर्ग-मोक्ष का अद्वितीय कारण तथा अक्षय सुख की निधि (खानि) श्री जिनेन्द्रदेव की विविध प्रकार से पूजा करते थे। इसी प्रकार वे अपने महल में भी जिनेन्द्र भगवान की पूजा किया करते थे। वज्रायुध भाव-भक्तिपूर्वक मुनियों को आहार दान देते रहते थे, सिद्धपद प्राप्त करने के लिए मुनि तथा योगियों के चरण कमलों में मस्तक नवा कर नमस्कार करते थे तथा वैराग्य प्राप्त करने के लिए मुनियों के मुखारविन्द से धर्मकथा सुनते थे। इस प्रकार धर्मभय होते हुए भी वे प्रतिदिन मोक्ष प्रदायक धर्म का उत्तरोत्तर सेवन करते थे। पर्व के दिनों में गृह तथा राज्य-सम्बन्धी समस्त पापों का त्याग कर वे धर्म की प्राप्ति तथा मोक्ष का समागम करानेवाला प्रोषधोपवास करते थे ॥२६०॥ वे चक्रवर्ती दान, पूजन तथा सदाचार के द्वारा सर्व दोषों से रहित, पाप रहित, सुख की खानि तथा इन्द्र-तीर्थंकर आदि विभूतिमय पदों के प्रदाता वीतराग जैन धर्म का विविध प्रकारेण सेवन करते थे। वे चक्रवर्ती अपना तथा पर दूसरों का कल्याण करने के लिए तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए सिंहासन पर विराजमान होकर अपने भ्राताओं-बन्धुओं, मित्रों, राजाओं तथा सेवकों को सदैव धर्मोपदेश दिया करते थे। श्री सर्वज्ञदेव का वर्णित यह जैन धर्म सुख का आगार है मोक्ष पद प्रदाता है, स्वर्ग का सोपान (सीढ़ी) है, तीर्थंकर सदृश उत्तम गति का प्रदाता है, सर्व पापों का विनाश करनेवाला है, चतुरों के द्वारा सेवनीय है, गुणों के समूह की निधि है, इन्द्र की विभूति प्रदायक है तथा समस्त प्रकारेण सन्देहों से परे (रहित) है। ऐसा यह धर्म तुम सब को मोक्ष प्रदान करे। श्री शान्तिनाथ भगवान समस्त इन्द्रों-नरेन्द्रों द्वारा पूज्य हैं, मुनिराज श्री शांतिनाथ का ही आश्रय लेते हैं तथा श्री शान्तिनाथ ने ही समस्त कर्मों के समूह को नाश

किया है । ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ । संसार में श्री शान्तिनाथ से ही धर्म की प्रवृत्ति होती है, श्री शान्तिनाथ का सुख ही निर्दोष है । चक्रवर्ती, कामदेव तथा तीर्थंकर की विभूति भी श्री शान्तिनाथ में ही विराजमान है । श्री शान्तिनाथ भगवान हम समस्त प्राणियों का सदैव कल्याण करें ।

श्री शान्तिनाथ पुराण में अनन्तवीर्य को सम्यक्त्व की प्राप्ति और वज्रायुध चक्रवर्ती का भव-वर्णन नामक आठवाँ अधिकार समाप्त ॥८॥

नौ वाँ अधिकार

भगवान श्री शान्तिनाथ जो शान्ति प्रदान करनेवाले हैं सर्वज्ञ हैं, सुख के सागर हैं तथा जिनाधीश हैं, उनका परम पद प्राप्त करने के लिए मैं उनको मस्तक नवाकर सदैव नमस्कार करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर-एक दिन सम्राट वज्रायुध जब राजसभा में सिंहासन पर विराजमान थे तथा उन पर चमर (चँवर) ढुल रहे थे, तो वे इन्द्र के सदृश प्रतीत हो रहे थे । उसी समय एक विद्याधर भय से घबराया हुआ दौड़ा-दौड़ा आया तथा अपनी रक्षा के लिए चक्रवर्ती से शरण देने की प्रार्थना की । उसके पीछे-पीछे सभा भवन को कम्पायमान करती हुई एक विद्याधरी आई । क्रोधरूपी अग्नि से वह विदग्ध हो रही थी तथा कर (हाथ) में मुक्त खड्ग (नंगी तलवार) लिए हुए विद्याधर को मारना चाहती थी । उस विद्याधरी के पीछे-पीछे एक वृद्ध विद्याधर भी चला आया था, जिसके हाथ में गदा थी एवं वह उन दोनों के बैर का कारण जानता था । वह वृद्ध विद्याधर सम्राट का अभिवादन कर कहने लगा-'हे स्वामिन ! आप दुष्टों का निग्रह करने एवं सज्जनों का पालन करने में सर्वदा तत्पर रहते हैं । दुष्टों का निग्रह करना एवं सज्जनों का प्रतिपालन करना क्षत्रियों का धर्म है एवं उस धर्म का आप सदैव पालन किया करते हैं । इसलिए आप जैसे धर्मात्मा को इस विद्याधर का निग्रह अवश्य करना चाहिए, क्योंकि यह विद्याधर अन्याय का पक्षपाती है एवं घोर पापी है, इसलिए यह अवश्य निग्रह (वध) करने योग्य है । यदि आपको इसके अपराध का वृत्तांत सुनने को भी इच्छा हो, तो हे देव ! मैं कहता हूँ कि आप ध्यानपूर्वक सुनिए । यह जम्बूद्वीप धर्म का स्थान है तथा देव, विद्याधर एवं मनुष्यों से परिपूर्ण है । इसमें कच्छ नामक एक मनोहर देश है जिसमें

विजयार्द्ध पर्वत है ॥१०॥ उस पर्वत की उत्तर श्रेणी के शुक्रप्रभ नगर में अपने पूर्व-सन्चित पुण्य के प्रभाव से इन्द्रदत्त नामक विद्याधर राज्य करता था । उसके यशोधरा नाम की शुभ लक्षणों से युक्त रानी थी, उस राजदम्पति का वायुवेग नाम का पुत्र में हूँ । समस्त विद्याधर मुझे सम्मान देते हैं । उसी श्रेणी के किन्नरगीत नाम के नगर में चित्रशूल नाम का विद्याधर राज्य करता था, उसके सुकान्ता नाम की पुत्री थी । सुकान्ता का विवाह विधिपूर्वक मेरे साथ हुआ था । उसके गर्भ से यह शान्तिमती नाम की शीलवती पुत्री उत्पन्न हुई । यह धर्म एवं भोग की सिद्धि के लिए पूजा की सामग्री लेकर मुनिसागर नामक पर्वत पर विद्या-सिद्धि करने के लिए गई थी । जब यह विद्या सिद्ध कर रही थी, उस समय यह दुष्ट कामातुर पापी उसकी विद्या-सिद्धि मे विघ्न डालने के लिए वहाँ उपस्थित हुआ । परन्तु पुण्य कर्म के उदय से सब कार्यों को सिद्ध करनेवाली एवं सुख प्रदायनी सारभूत वह विद्या मेरी पुत्री को उसी समय सिद्ध हो गई । उस विद्या के प्रभाव के भय से यह पापी आपकी शरण में आया है एवं प्रतिशोध हेतु मेरी पुत्री भी उसे दण्डित करने के लिए पीछे-पीछे चली आई है । विद्या-सिद्धि करने की आवश्यक पूजा-सामग्री लेकर जब मैं वहाँ पहुँचा, तो अपनी पुत्री को नहीं देखा । निदान पद-चिन्हों का अनुसरण करते हुए मैं भी इसी मार्ग से शीघ्र ही इनका पीछा करता हुआ यहाँ आ पहुँचा हूँ । हे नाथ ! इस प्रकार मैंने अपना समस्त वृत्तान्त आपको कह सुनाया है । अब आप इस दुष्ट के लिए जो उचित समझें सो न्याय करें ॥२०॥ उसका आवेदन सुनकर वे अवधिज्ञानी सम्राट कहने लगे-'इसने विद्या सिद्ध करने में जो भारी विघ्न उत्पन्न किया था, उसको मैं जानता हूँ । मैं अपने अवधिज्ञान से ज्ञात कर तुम लोगों के पूर्व भव की कथा सुनाता हूँ, सब ध्यानपूर्वक सुनो । एक समय इसी जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में गान्धार देश के विंध्यपुरी नगर में विंध्यसेन नाम का राजा राज्य करता था । उसके सुलक्षणों वाली सुलक्षणा नाम की रानी थी । उन दोनों के नलिनकेतु नाम का पुत्र था । उसी नगर में धनदत्त नाम का एक धनी वैश्य रहता था एवं श्रीदत्ता नाम की उसकी पत्नी थी । उन दोनों के सुदत्त नाम का पुत्र था एवं प्रीतिकरा नाम की उनकी पुत्रवधू थी, जो रूप, लावण्य एवं गुण की साक्षात निधि थी । एक दिन प्रीतिकरा वन में विहार करने के लिए गई थी, वहाँ पर नलिनकेतु की दृष्टि उस पर पड़ गई एवं पाप-कर्म के उदय से वह उस पर कामासक्त हो गया । वह उसके वियोग में अत्यन्त में विकल हो गया एवं उग्र कामाग्नि को वह नहीं सका । इसलिए उस अन्यायी मूढ़ ने न्याय

मार्ग का उल्लंघन कर बलपूर्वक प्रीतिकरा का अपहरण कर लिया । पत्नी के वियोग से सुदत्त का हृदय भी शोक से व्याकुल हो गया एवं वह अपने को पुण्यहीन समझ कर अपनी निन्दा करने लगा । वह मन में विचार करने लगा-'मैंने कदाचित् पूर्व भव में न तो धर्म का पालन किया था, न तप किया था, न चारित्र का पालन किया था, न दान दिया था एवं न भगवान श्री जिनेन्द्रदेव का पूजन ही किया था ॥३०॥ इसीलिए मेरे पाप कर्म के उदय से अथवा पुण्यवान न होने के कारण इसने मेरी रूपवती पत्नी का बलपूर्वक हरण कर लिया है । संसार में सुख प्रदायक इष्ट पदार्थों का जो वियोग होता है तथा स्त्री, पुत्र, धन आदि का जो वियोग होता है तथा दुष्ट, शत्रु, चोर, रोग, क्लेश, दुःख आदि अनिष्ट पदार्थों का जो संयोग होता है अथवा अन्य जो कुछ भी प्राणियों का अनिष्ट होता है, वह सब पाप रूप शत्रु के द्वारा ही संचालित हुआ है एवं अन्य किसी प्रकार नहीं हो सकता । मनुष्यों के जब तक पूर्व (पहिले) भव में उपार्जन किया हुआ दुःख देनेवाला पाप-कर्मों का उदय रहता है, तब तक उन्हें कभी भी उत्तम सुख नहीं मिल सकता । यदि पाप रूपी शत्रु नहीं होता हो, तो फिर मुनिराज गृह त्याग कर वन में जाकर तपश्चरणरूपी खड्ग से किसको निहत करते ? संसार में वे ही सुखी हैं, जिन्होंने अलौकिक सुख प्राप्त करने के लिए चारित्ररूपी शस्त्र के प्रहार से पापरूपी महाशत्रु को निहत कर (मार) डाला है । इसीलिए मैं भी सम्यक् चारित्ररूपी धनुष को लेकर ध्यान रूपी बाण से अनेक दुःखों के सागर पाप रूपी शत्रु को विनष्ट करूँगा । इस प्रकार हृदय में विचार कर वह वैश्य काल लब्धि के प्राप्त होने से स्त्री, भोग, काया (शरीर) एवं संसार से विरक्त हुआ । तदनन्तर वह दीक्षा धारण करने के लिए सुदत्त नामक तीर्थंकर के समीप पहुँचा एवं शोकादि को त्याग कर तपश्चरण करने के लिए सन्नद्ध हुआ ॥४०॥ समस्त जीवों का हित करनेवाले उन तीर्थंकर को नमस्कार कर उसने मुक्ति रूपी नारी को वश में करनेवाला संयम धारण किया । विरक्त होने के कारण वह बहुत दिन तक काया (शरीर) को क्लेश पहुँचानेवाला कायोत्सर्ग आदि अनेक प्रकार का घोर तपश्चरण करने लगा । उन मुनिराज न मोक्ष प्राप्त करने के लिए बिना किसी प्रमाद के मरण पर्यन्त ध्यान का अभ्यास किया एवं धर्म ध्यानादिक किया । अन्त में उन्होंने संन्यास धारण कर मन शुद्ध किया, सब आराधनाओं का आराधन किया, हृदय में श्री जिनेन्द्रदेव को विराजमान किया एवं बड़े शुद्ध परिणाम से प्राणों का त्याग किया । इसलिए उनका जीव उस चारित्र रूप धर्म के पालन

के प्रभाव से ईशान स्वर्ग में बड़ी ऋद्धि को धारण करनेवाला देव हुआ । उसकी एक सागर की आयु थी, वहाँ पर देवांगनाओं के साथ सुख भोगता था एवं अनेक प्रकार की क्रीड़ा करता था । वह देव स्वर्गलोक, मनुष्यलोक एवं तिर्यन्चलोक स्थित अतिशय युक्त जिन प्रतिमाओं की पूजा बड़ी विभूति के साथ किया करता था । अथानन्तर-इसी जम्बूद्वीप के सुकच्छ देश में शिखरों पर विद्याधरों के भवनों से शोभायमान विजयार्द्ध पर्वत श्रेणी है । उसकी उत्तर श्रेणी के काँचनतिलक नगर में पुण्य कर्म उदय से महेन्द्रविक्रम नामक विद्याधर राज्य करता था । उसकी आनन्द प्रदायिनी रानी का नाम अनलवेगा था । वह देव ईशान स्वर्ग से चय कर उन दोनों के यहाँ अजितसेन नाम का पुत्र हुआ ॥५०॥ इधर राजपुत्र नलिनकेतु को भी उल्कापात देख कर आत्मज्ञान उदित हुआ एवं काल-लब्धि प्राप्त होने पर उसे संवेग हुआ । उसने पहिले जो दुश्चारित्र का पालन किया था, उसकी वह निन्दा करने लगा एवं हृदय में परस्त्री सेवन के त्याग का संकल्प कर अपने पाप पर पश्चात्ताप करने लगा । वह विचार करने लगा-'मैं बड़ा पापी हूँ, परस्त्री भोगी हूँ, लम्पट हूँ, अधम हूँ, विषयान्ध हूँ एवं अनगिनत अन्याय करनेवाला हूँ । नारियों की काया में भला उत्तम है ही क्या ? वह चर्म (चमड़ी), अस्थि (हड्डी) एवं आँतड़ियों का संग्रह है; संसार में जितने विकृत पदार्थ हैं, उन सब का आधार है एवं विष्टा आदि दुर्गन्धमय वस्तुओं का आगार है । वह सप्त धातुओं से बनी हुई है, निन्द्य है, दुर्गन्धमय है, घृणा करने योग्य है एवं उसके नव (नौ) छिद्रों से सदैव मल-मूत्र आदि बहा करते हैं । यह केवल बाहर से गोरे चमड़े से ढँकी हुई है एवं ऊपर से वस्त्र-आभूषणों से सुशोभित है । यह किंपाक फल नामक विष फल के समान है, अन्त में यह बहुत ही दुःख देनेवाली है । नारियों की काया कोटि-कोटि कीड़ों से भरी हुई है एवं विष के समान है । संसार में भला ऐसा कौन-सा ज्ञानी पुरुष है, जो इसका सेवन करे ? कोई ज्ञानी होकर भी यदि इसका सेवन करे, तो समझना चाहिए कि उसकी मति (बुद्धि) ही भ्रष्ट हो गई है । यह नारी तो नरक रूपी गृह का द्वार है, टिमटिमाता दीपक है एवं स्वर्ग-मोक्ष रूपी गृह की प्राप्ति के लिए बड़ा भारी बाधा है । यह नारी समस्त पापों की खानि है । चन्चल हृदयवाली यह नारी धर्मरत्नों के भण्डार को चुराने के लिए चोर है, यह पापिनी मनुष्यों को भक्षण करने के लिए 'दृष्टिविष' (जिसको देख ले, वही मर जाए) सर्पिणी के समान है । ये मूढ़ मनुष्य नारियों के समागम से नरक प्रदायक एवं अनेक जीवों को नष्ट करनेवाले पापों का प्रतिदिन व्यर्थ ही उपार्जन किया

करते है ॥६०॥ संसार में कितने पुण्यवान तो ऐसे हैं, जो अपनी पत्नी को भी त्याग कर संयम धारण कर लेते हैं, परन्तु मेरे समान कुछ ऐसे भी अधम हैं, जो परस्त्रियों की कामना करते हैं ।' इस प्रकार अपनी निन्दा कर उसने पूर्वोपार्जित पापों को विनष्ट कर दिया एवं पाप रूपी वन को (भस्मीभूत करने) के लिए अग्नि के समान संवेग को द्विगुणित किया । तदनन्तर चारित्र धारण करने की कामना करता हुआ वह नलिनकेतु अनिन्द्य सुन्दरी प्रीतिकरा एवं विपुल राज्यभोग का त्याग कर सीमंकर मुनिराज के समीप पहुँचा । दुःख रूपी दावानल को शान्त करने (बुझाने) के लिए मेघ वर्षा तुल्य उन मुनिराज के दोनों चरण कमलों को उसने नमस्कार किया एवं बाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों को त्याग कर जिन दीक्षा धारण की । उसका संवेग बहुत प्रचण्ड हो रहा था, इसलिये उसने घोर तपश्चरण किया एवं समस्त तत्वों से परिपूर्ण आगम का यथेष्ट अभ्यास किया । उन मुनिराज ने क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर 'पृथकत्व वितर्क विचार' नामक शुक्लध्यान रूपी वज्र खड्ग से कषाय रूपी दुष्ट शत्रुओं को निहत किया एवं फिर तीनों वेदों को विनष्ट किया । फिर उन्होंने दूसरे शुक्लध्यान रूपी वज्र से शेष घातिया कर्म रूपी पर्वत को चूर-चूर किया तथा इस प्रकार साक्षात केवलज्ञान उनके प्रकट हुआ । इन्द्रादिकों ने तत्काल आकर उनकी स्तुति-पूजा की एवं फिर से सुख के सागर जिनराज अघातिया रूपी शत्रुओं को विनष्ट कर शाश्वत मोक्षपद में विराजमान हुए । प्रीतिकरा ने भी अपने दुराचरण की निन्दा की एवं मोक्ष प्राप्त करने के लिए संवेग धारण कर सुव्रता नामक अर्जिका के समीप पहुँची । उसने गृहस्थी सम्बन्धी समस्त परिग्रहों का त्याग कर संयम धारण किया एवं कर्म-रूपी तिनकों को विदग्ध करनेवाली अग्नि को शुद्ध करने के लिए चन्द्रायण तप किया ॥७०॥ अन्त में उसने संन्यास धारण कर विधिपूर्वक प्राणों का परित्याग किया एवं उसके पुण्यफल से वह अपार सुखों तथा गुणों के समुद्र ईशान स्वर्ग में उत्पन्न हुई । वहाँ के निरन्तर दिव्य भोगों से अपनी आयु पूर्ण कर तथा वहाँ से चय कर शुभ कर्म के उदय से अब वह तेरी पुत्री हुई है । इसलिये पूर्व जन्म के स्नेह के कारण जिसका मन राग से अन्धा हो रहा है, ऐसे अजितसेन ने इस विद्याधरी के मन में बलपूर्वक विकार उत्पन्न करता चाहा था । पूर्व जन्म के संस्कार से इस लोक में भी जीवों के स्नेह, बैर, गुण, दोष, राग, द्वेष आदि समस्त विकारी भाव निरन्तर यथावत चल जाते हैं । यही समझ कर बुद्धिमान प्राणी शत्रु के प्रति भी विषाद भाव नहीं करते । इसलिये अपनी पुत्री के साथ अन्याय करनेवाले से

श्री शांतिनाथ पुराण

बैर-भाव तुम त्याग दो ।' वह शान्तिमती विद्याधरी राजा वज्रायुध से अपने पूर्व भवों के आश्चर्यजनक विचित्र कथानक सुन कर इस संसार से ही विरक्त हो गई । उसने विवाह, गृहस्थी आदि के विचार को त्याग दिया एवं पिता से भी सम्बन्ध (नाता) त्याग कर देवों के द्वारा पूज्य क्षेंमकर तीर्थंकर के समीप पहुँची । उस सती ने श्री जिनेन्द्रदेव की तीन प्रदक्षिणा दी, उन्हें नमस्कार किया एवं धर्मामृत पान की अभिलाषा से सभा में बैठ गई । उसने अपने कर्णों से जन्म, मरण एवं वृद्धावस्था के सन्ताप निवारण करनेवाला, आत्म रस प्रकट करनेवाला एवं मुनियों के लिए बोधगम्य तीर्थंकर के मुख रूपी चन्द्रमा से झरनेवाला धर्मामृत रूपी उत्तम रस का पान किया एवं अजर अमर पद प्राप्त करने के सदृश सन्तोष धारण किया ॥८०॥ तदनन्तर वह श्रेष्ठ गुणवती शान्तिमती सुलक्षणा नामक गणिनी के समीप पहुँची एवं उन्हें नमस्कार कर मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से उनसे चारित्र धारण किया । उस विद्याधरी ने एक साड़ी के अतिरिक्त अन्य समस्त बाह्य परिग्रहों का त्याग कर दिया एवं मिथ्यात्व आदि अन्तरंग परिग्रहों का भी त्याग किया । उसने संवेग गुण की प्रबलता से तीव्र तपश्चरण किया एवं शास्त्रों का अभ्यास कर सुख के सागर सदृश सम्यग्दर्शन की विशुद्धि धारण की । आयु के अन्त में उसने चार प्रकार का संन्यास धारण किया, एकाग्रचित्त से भगवान श्री जिनेन्द्रदेव का स्मरण किया, द्वादश भावनाओं का चिन्तवन किया एवं समाधि पूर्वक प्राणों का परित्याग किया । सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्त्रीलिंग को छेद (विनष्ट) कर धर्म के प्रभाव से ईशान स्वर्ग में महान ऋद्धि को धारण करनेवाला देव हुआ । अवधिज्ञान से अपने पूर्व भव का वृत्तान्त ज्ञात कर वह देव धर्मलाभ के लिए मुनिगण तथा श्री जिनेन्द्र देव की प्रतिमा को पूजा करने के लिए पृथ्वी पर आया । आते ही उस देव ने मुनिराज अजितसेन (जो विद्याधर पर्याय में उसकी विद्या सिद्धि में विघ्न डाल रहा था) एवं वायुवेग (पूर्व भव के पिता) के दर्शन किए । अतिशय वैराग्य के उदय से गृह का त्याग कर संयम धारण करने तथा तपश्चरण-ध्यानादि से उपरोक्त दोनों मुनिराजों को उसी समय केवलज्ञान प्राप्त हुआ था । वे दोनों ही सिंहासनों पर अधर में विराजमान थे, उन पर चँवर ढुल रहे थे, अनेक प्रकार की विभूति प्रगट हो रही थीं, अष्ट प्रातिहार्यों के मध्य में वे सूर्य सम विराजमान थे, असंख्य देवगण सेवा कर रहे थे, चतुर्विध संघों से सुशोभित थे । वे अनन्त गुणों से अलंकृत थे, समस्त जीवों का हित साधन करने के लिए वे तत्पर थे । उनकी अनेक प्रकार से महिमा चतुर्दिक विस्तीर्ण हो रही थी, समस्त

इन्द्रागण मिल कर उनकी पूजा-स्तुति कर रहे थे, अनन्तर सुख उन्हें प्राप्त हो चुका था तथा विपुल मुनिगण उन्हें नमस्कार कर रहे थे ॥९०॥ उन दोनों के दर्शन कर वह देव विचार करने लगा-'आश्चर्य है ! कहाँ तो भय से व्याकुल हुआ वह विषयान्ध-तथा कहाँ देवों के द्वारा पूज्य तीनों लोकों के अधिपति ये सर्वज्ञ देव ! कहाँ तो मेरे वृद्ध पिता-तथा कहाँ सब पदार्थों को एक साथ जानने-देखनेवाली ये श्री केवली भगवान ! यह घटना संसार में महान पुरुषों को भी अत्यन्त आश्चर्य में डालनेवाली है । पूर्वकाल में जो मुनियों ने बतलाया था कि जीवों में अनन्त शक्ति है; वह मिथ्या कैसे हो सकता है ? क्योंकि इस समय मैंने उस शक्ति का साक्षात् दर्शन कर लिया है ।' इस प्रकार चित्त में चिन्तवन कर उसने प्रत्येक केवली की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, मस्तक नवा कर नमस्कार किया तथा उनके अपार गुणों का वर्णन कर उनकी स्तुति की । स्वर्गलोक के दिव्य द्रव्यों से बड़ी भक्तिपूर्वक उनकी पूजा की तथा आश्चर्यजनक फलदायक धर्म से मुदित होकर वह स्वर्गलोक लौट गया । उधर चक्रवर्ती अपने हृदय में जैन धर्म की स्थापना कर पुण्य कर्म के उदय से प्रकट ऋद्धियों से उत्पन्न होनेवाले भोगों को सदैव भोगने लगा । अथानन्तर-चैत्यालयों से सुशोभित श्वेतवर्ण रूपाचल पर्वत की दक्षिण श्रेणी में शिवमन्दिर नामक सुन्दर नगर है । अपने पुण्य कर्म के उदय से वहाँ मेघवाहन नामक राजा राज्य करता था । उसके बिमला नामक रूपवती एवं निर्मल चरित्रा रानी थी । उन दोनों के सती, रूपवती एवं शुभ लक्षणोंवाली कनकमाला नाम की एक पुत्री थी ॥१००॥ उसका विवाह सहस्रायुध के पुत्र कनकशान्ति के साथ विधिपूर्वक हुआ था । शुभोदय से कनकमाला उसे समस्त प्रकार के सांसारिक सुख देती थी । पुण्य कर्म के उदय से स्त्वोकसार नामक नगर में जयसेन नाम का एक राजा राज्य करता था । उसकी रानी का नाम जयसेना था । उनके बसन्तसेना नामक पुत्री थी । रूपवान कनकशान्ति ने विधिपूर्वक बसन्तसेना के संग भी विवाह किया था तथा वह उसकी कनिष्ठ रानी थी । जिस प्रकार काम रति से सन्तुष्ट होता है, उसी प्रकार वह कनकशान्ति उस (बसन्तसेना) के कटाक्षों से, हास्य से, काम-क्रीड़ा से, कोयल के समान मधुर शब्दों से सन्तुष्ट होता था । शुभ कर्म के उदय से एक दिन वह कनकशान्ति अपनी रानियों के संग विहार करने के लिए कौतूहलवश वन में गया । जिस प्रकार कन्दमूल ढूंढनेवाले को भाग्य से अमूल्य निधि मिल जाती है, उसी प्रकार पुण्य कर्म के उदय से कनकशान्ति को उस वन में विमलप्रभ नामक मुनि के दर्शन हो गये । वे मुनिराज ज्ञान के

प्रभाव से मण्डित थे, पाप कर्म रूपी मल से रहित थे तथा समस्त जीवों का हित करनेवाले थे । वह बुद्धिमान राजा उनको नमस्कार कर तथा उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर उनके समीप बैठ गया । उन मुनिराज ने धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया तथा फिर कृपापूर्वक श्रेष्ठ धर्म का निरूपण करना प्रारम्भ किया- 'श्रावकों ! धर्म एकदेश है, परन्तु वह जीवों की दया से परिपूर्ण है तथा अणुव्रत-शिक्षाव्रतों को धारण कर ही उसे सिद्ध किया जा सकता है । वह धर्म स्वर्गलोक का प्रदायक है तथा सम्यग्दर्शन के सहित होने पर अनुक्रम से निर्वाण पद को सिद्ध कराता है ॥११०॥ पाप रहित श्रेष्ठ धर्म अत्यन्त कठिन है, उपमा रहित है एवं मोक्ष प्राप्त होने तक जीव का कल्याण करनेवाला है । उसे गृह आदि परिग्रहों का त्याग करनेवाले एवं परीषहों को जीतनेवाले धीर-वीर मुनिराज ही तपश्चरण, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं विनय के द्वारा पालन कर सकते हैं । जो दीन मनुष्य विषयासक्त हैं एवं नारी आदि से घिरे हुए हैं, वे कभी स्वप्न में भी श्रेष्ठ मुनि धर्म को धारण नहीं कर सकते । इसलिए हे राजन् ! गृहस्थ धर्म को त्याग कर तीर्थंकर तथा गणधरों के द्वारा सेवनीय तथा सुख प्रदायक मुनि धर्म को शीघ्र धारण करो । यदि गृहस्थ कभी सामायिक आदि के द्वारा धर्म करता है, तो कभी गृहस्थी में लगनेवाले बहुत-से आरम्भ आदि से केवल पाप का बन्ध ही करता है तथा कभी चैत्यालय आदि बनवा कर पुण्य-पाप दोनों का ही अर्जन करता है । इस प्रकार श्रावक सदा कर्मों का बन्ध एवं उसकी निर्जरा करता रहता है । इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को गृह का परित्याग कर अत्यन्त निर्मल, सारभूत, समस्त चिन्ताओं से रहित तथा सर्व प्रकार के पाप योगों से परे मुनि धर्म धारण करना चाहिये । मुनि धर्म को धारण करने से यह जीव इस लोक में ही देवों एवं चक्रवर्तियों द्वारा पूज्य हो जाता है । फिर भला परलोक का तो कहना ही क्या है ?' कुमार कनकशान्ति भी उन मुनिराज के वचन सुनकर तथा काया (शरीर) भोग एवं संसार से विरक्त होकर मुनि धर्म की प्रेरणा प्रदायक परम संवेग को प्राप्त हुआ । वह विचार करने लगा-'जिनके हृदय विषयों से आसक्त हैं, ऐसे मनुष्यों का यह अत्यन्त दुर्लभ जीवन धर्म के बिना व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है ॥१२०॥ जो समय व्यतीत हो जाता है, वह सैकड़ों सुवर्ण मुद्राएं देने पर भी कभी वापिस नहीं लौट सकता । इसलिये जब तक जीवन के दिन शेष रहें, तब तक बुद्धिमानों को अपना हित साधन कर लेना चाहिये । जिस प्रकार संचित निधि (कोष) के विनष्ट हो जाने पर दरिद्रों को मात्र हाथ ही मलना पड़ता है, उसी प्रकार दैवयोग से आयु पूर्ण

हो जाने पर मृत्यु के समय सज्जन लोगों को पश्चाताप ही करना पड़ता है । इसलिये चतुर प्राणियों को बाल्यावस्था से ही धर्म का सेवन करना चाहिये, क्योंकि यमराज (मृत्यु) लेने के लिए कब आ जायेगा, यह किसी को भी ज्ञात नहीं है । जो जीव बाल्यावस्था से कठिन तपश्चरण एवं चारित्र पालन नहीं करता, वह आयु वृद्धि पर भी उसका पालन नहीं कर सकता-जैसे वृद्धावस्था में वृषभ (बैल) कुछ नहीं कर सकता ।' इस प्रकार विचार कर राजा ने दोनों रानियों का तथा भोग (राज्यलक्ष्मी) का परित्याग किया एवं स्वयं मोक्ष प्राप्त करने के लिए वैराग्य धारण कर दीक्षा-लक्ष्मी को स्वीकार किया । कनकशान्ति के तपश्चरण धारण कर लेने पर विवेक रूपी निर्मल नेत्रों को धारण करनेवाली उसकी रानियों ने भी शीघ्र ही देह भोग एवं संसार के प्रति वैराग्य धारण किया । वे दोनों ही रानियाँ अपने कुल की अन्य नारियों के साथ विमलमती नाम की गणिनी के समीप पहुँचीं एवं उनको नमस्कार कर सब के साथ जिनदीक्षा धारण की । इधर कनकशान्ति मुनिराज श्रुतज्ञान का निरन्तर अभ्यास करने लगे, ध्यान का अभ्यास करने लगे, दोनों प्रकार का कठिन तथा घोर तपश्चरण करने लगे एवं परीषहों पर विजय पाने लगे ।

वे मुनिराज वन में, पर्वत पर, किसी पर्वत की गुफा आदि शून्य स्थान में एवं भयंकर श्मशान में सिंह के समान सदा निर्भय होकर रहते थे । वे धीर-वीर मुनिराज कर्मों का नाश करने के लिए बिना किसी प्रमाद के वन, ग्राम एवं उपत्यका आदि में एकाकी विहार किया करते थे ॥१३०॥ जिन्होंने अपनी देह से ममत्व एवं अन्य समस्त परिग्रह त्याग दिये हैं एवं जिनको बुद्धि विशुद्ध है, ऐसे वे धीर-वीर मुनिराज एक दिन सिद्धाचल पर्वत पर कायोत्सर्ग धारण कर विराजमान हुए । वहाँ पर उन निस्पृह मुनिराज को बसन्तसेना के भ्राता चित्रशूल ने देखा । पूर्व भव के बैर के कारण एवं पाप कर्म के उदय से उन्हें देखते ही उसके नेत्र क्रोध से लाल हो गये एवं उस मूढ़ ने उन मुनिराज पर उपसर्ग करने का विचार किया । परन्तु उसी समय उन मुनिराज के तपश्चरण के प्रभाव से आए पुण्यवान विद्याधर राजाओं ने उसे ललकारा । उनकी ललकार से उपसर्ग करने में असमर्थ होने के कारण वह पापी वहाँ से पलायन कर गया । दूसरे दिन वे मुनिराज आहार के लिए ईर्यापथ का शोधन करते हुए रत्नपुर नगर में पहुँचे । वहाँ पर श्रेष्ठ धर्म से विभूषित राजा रत्नसेन ने उनकी पड़गाहना की, उन्हें नमस्कार किया तथा अमूल्य निधि प्राप्त होने के तुल्य वह प्रसन्न हुआ । दाता के सातों गुणों से युक्त होकर उस राजा ने नवधा भक्ति से कनकशान्ति मुनिराज

को विधिपूर्वक मन-वचन-काय को शुद्ध कर बड़ी भक्ति से प्रासुक, मधुर, चिकना, रसीला, धर्म वृद्धिदायक तथा कृतादि दोषों से रहित शुद्ध आहार दिया। उसी समय सन्चित पुण्य के प्रभाव से राजा के प्रांगण में देवों ने रत्न-वृष्टि आदि उत्तम पन्चाश्वर्य प्रकट किये। मुनियों को दान देने से जब इहलोक में ही नाना प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, तो फिर भला परलोक में सुख भोग की सामग्री तथा देवों की अतुल सम्पदा क्यों नहीं मिल सकती ?॥१४०॥ जिस प्रकार बुद्धिमान प्राणी सुवर्ण तथा रत्नों के सीमित व्यापार से ही बहुत-सा धन कमा लेते हैं, उसी प्रकार सत्पात्रों को स्वल्प-सा दान देकर भी मनुष्य इहलोक तथा परलोक दोनों में सुखों से परिपूर्ण समुद्र के समान श्रेष्ठ पुण्य का उपार्जन करता है। एक दिन वे मुनिराज घातिया कर्म रूपी शत्रुओं का नाश करने के लिए सुरनिपात नामक वन में प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हुए। उनको वहाँ देख कर पूर्व बैरी चित्रशूल क्रोधरूपी अग्नि से विदग्ध हो गया एवं पाप-कर्म के उदय से उस मूढ़ ने मुनि पर उपसर्ग करना प्रारम्भ किया। देह से लेशमात्र भी ममत्व न रखनेवाले उन मुनिराज पर उस दुष्ट ने अत्यन्त भयोत्पादक घोर एवं असह्य उपसर्ग करना प्रारम्भ किया। उसने प्रचण्ड कष्टदायी ताड़ना की, धर्म उच्छेद एवं विकार उत्पन्न करनेवाले कर्कश वचन कहे तथा विद्या बल के द्वारा उन पर भाँति-भाँति के उपसर्ग किए। परन्तु कनकशान्ति मुनिराज ने संवेग गुण से विभूषित एवं संकल्प-विकल्पों से रहित अपने चित्त को देह से विलग आत्मध्यान से लवलीन कर एवं चित्त को स्थिर कर तीव्र परीषहों को जीता तथा मृत्यु के भय से रहित होकर वे मेरु पर्वत के समान निश्चल विराजमान रहे। उन्होंने उस दुष्ट पर क्रोध न कर उत्तम क्षमा धारण की तथा संवर धारण कर अप्रमत्त गुणस्थान में आरूढ़ हो गए। उन्होंने सर्वप्रथम शुक्लध्यान रूपी खड्ग से शेष बच रहे घातिया कर्मों का विनाश किया ॥१५०॥ तदनन्तर उन मुनिराज के उसी समय समस्त संसार को प्रत्यक्ष प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञान का उदय हुआ। यह उचित ही है क्योंकि उत्तम क्षमा से भला क्या नहीं प्राप्त नहीं होता है ? अर्थात सब कुछ प्राप्त होता है। इसलिए वंदनीय मुनिराज किसी दुष्ट शत्रु पर भी कभी क्रोध नहीं करते हैं, तथा आत्मों की शुद्धता की सिद्धि के लिए सदैव क्षमा धारण करते हैं। जिस प्रकार बिना तृण-संयोग के अग्नि निस्तेज हो जाती है, उसी प्रकार वह दुर्जन विद्याधर चित्रशूल भी क्षमा के सम्मुख निस्तेज हो गया, उनका कुछ भी अनिष्ट न कर सका। सो उचित भी है; क्योंकि जिनके कभी क्रोध उत्पन्न ही नहीं होता, दुष्ट जन

श्री शांतिनाथ पुराण

उनका भला क्या अहित कर सकते हैं ?

मुनिराज कनकशान्ति को केवलज्ञान प्राप्त होने के उपरान्त उनकी पूजा के लिए समस्त देव वहाँ आये । समवेत देवों को देख कर वह पापी विद्याधर भयभीत हो गया, भय से उसका सर्वांग प्रकम्पित हो उठा तथा वह बैर भाव त्याग कर भव्य-जीवों की रक्षा करनेवाले तीनों लोकों के स्वामी अरहन्तदेव की शरण में आया । यह उचित ही है, क्योंकि अधम प्रकृति के प्राणियों की प्रवृत्ति ऐसी ही होती है । तदनन्तर 'जय-जय' नाद से तुमुल कोलाहल करते हुए, वाद्य-वादित्र झंकृत करते हए तथा पूजा की सामग्री लिए हुए इन्द्रादिक अपनी-अपनी देवागंनाओं के साथ आए । उन्होंने अतिशय भक्ति से, स्वर्गलोक के दिव्य द्रव्यों से जिनराज श्री कनकशान्ति की बहुविधि से पूजा-अर्चना की, उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं तथा उन्हें नमस्कार किया । अपने पौत्र (पुत्र के पुत्र) को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है, यह सुनकर वज्रायुध चक्रवर्ती ने 'आनन्द' नामक गम्भीर भेरी बजवाई । वे प्रसन्नचित्त होकर अपने परिवार, भाई-बन्धुओं तथा सेना को लेकर पूजा करने के लिए उन जिनराज के समीप पहुँचे । उन्होंने वहाँ पहुँच कर उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, मस्तक नवा कर उन्हें नमस्कार किया, पूजा की एवं फिर बड़ी भक्ति से उनकी स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥१६०॥ 'हे देव ! हे जिनाधीश ! आप तीनों लोकों के स्वामी हैं, आप की जय हो । आप तीनों लोकों में पूर्ण वृद्धि प्राप्त होने तक निरन्तर वृद्धिशील रहें । हे नाथ ! आप तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ हैं । हे स्वामिन् ! आप बुद्धिमानों के भी गुरु हैं; आप मनुष्यों के लिए बिना कारण हित करनेवाले भ्राता हैं एवं आप ही सब की रक्षा करनेवाले हैं । हे प्रभो ! देवलोक के स्वामी इन्द्रादि भी मस्तक नवा कर आप को नमस्कार करते हैं एवं अपनी आत्मा का हित चाहनेवाले मुनिराज भी आप के दोनों चरण-कमलों की सेवा करते हैं । हे देव ! यह पापी कामदेव प्रचण्ड बलवान है, इस दुष्ट ने तीनों लोकों को भी जीत लिया है; परन्तु आपने ब्रह्मचर्य रूपी प्रबल शस्त्र से बाल्यावस्था में ही इसे परास्त कर दिया है । हे भगवन् ! सज्जनवृन्द आपकी सेवा करते हैं, भव्य जीवों को आप शरण देनेवाले हैं, मुक्ति रूपी रमणी आप पर आसक्त है एवं मुनीश्वर सदैव आप की स्तुति करते हैं । हे देवों के द्वारा पूज्य ! आप ने बाल्यावस्था में ही चारित्र-रूपी खड्ग द्वारा तीनों लोकों के विजेता अत्यन्त भयंकर मोह रूपी दुर्द्धर शत्रु का वध कर डाला । हे जगन्नाथ ! आपका गुणरूपी महासागर अनन्त है, इन्द्र हो या अन्य कोई भी बुद्धिमान हो-वह

श्री शांतिनाथ पुराण

उसका पार (थाह) नहीं पा सकता एवं न ही कोई आप की समग्र स्तुति करने में सक्षम है । हे देव ! आप मेरी रक्षा कीजिये, प्रसन्न होकर धर्मोपदेश दीजिये । मैं संसार-चक्र से भयभीत होकर आपके चरण कमलों की शरण में आया हूँ ।' इस प्रकार स्तुति कर चक्रवर्ती वज्रायुध धर्म श्रवण करने के लिए उनके चरणों में दृष्टि निबद्ध कर उनके समीप बैठ गये । तदनन्तर वे जिनराज कृपापूर्वक अपने पितामह (दादा) का उपकार करने के निमित्त से अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा समस्त जीवों का हित करनेवाले धर्म का स्वरूप बताने लगे ॥१७०॥ वे कहने लगे-'हे चक्रवर्ती ! तुम चित्त को स्थिर कर सुनो । मैं संसार का स्वरूप प्रकट करता हूँ, धर्म का स्वरूप स्पष्ट करता हूँ एवं उनके कारणों को भी बतलाता हूँ । यह संसार अनन्त हे, अभव्य जीव इसकी थाह (पार) कभी नहीं पा सकता । यह अनादि है, दुःखों से भरा हुआ है एवं चतुर्गतिमय है । यद्यपि यह अनादि है, तथापि रत्नत्रय को प्रगट करनेवाली काल-लब्धि को प्राप्त कर तुम सरीखे भव्य जीवों में यह शान्त भी हो जाता है, अर्थात् इसका अन्त भी हो जाता है । यह संसार रूपी महासागर अत्यन्त गम्भीर (गहरा) है, दुःखरूपी असंख्य लहरों से आंदोलित है, जन्म-मरण एवं वृद्धावस्था रूपी मगरमच्छों से परिपूर्ण है तथा अत्यन्त भयानक है । इसमें जो जीव रत्नत्रय रूपी श्रेष्ठ पात्रों से भरी हुई धर्म रूपी नौका का अवलम्बन नहीं पाते हैं, वे ही अनन्त बार डूबते एवं उतराते रहते हैं । इसलिए भवजाल का नाश करने के लिए चतुर पुरुषों को धर्म का सेवन अवश्य करना चाहिये । क्योंकि धर्म ही मुक्ति रूपी कन्या का पिता है । जो लोग मुक्ति रूपी कन्या में आसक्त हैं, उन्हें उसका वरण करने के लिए उसके पिता धर्म को सेवा अवश्य करनी चाहिए । तीनों लोकों में हर्ष उत्पन्न करनेवाली, पन्च कल्याणकों से सुशोभित तथा तीर्थंकर द्वारा पूज्य समवशरणादि रूपी लक्ष्मी मनुष्यों को धर्म के ही प्रभाव से प्राप्त होती है । सम्यदृष्टि जीवों को इन्द्र का राज्यपद (जिसकी सेवा सब देवगण करते हैं एवं जो समस्त भोगों को एकमात्र स्थान माना जाता है) धर्म से ही मिलता । हे चक्रवर्ती ! तुम्हें जो यह चक्रवर्ती पद रूपी राज्य लक्ष्मी प्राप्त हुई है, वह पूर्व जन्म के धर्म के प्रभाव से ही हुई है । तुम्हारी इस राज्यलक्ष्मी को देव, विद्याधर, आदि समस्त जन सेवा करते हैं एवं यह संसार की सब उपमाओं से रहित है । संसार में जो भी वस्तु दुर्लभ है, जो भी सुख है एवं जो भी उत्तम पद है, वह सब धर्म के प्रभाव से ही तीनों लोकों में से स्वयं आकर चतुर पुरुषों के निकट उपस्थित हो जाता है ॥१८०॥ धर्म ही बन्धु है, धर्म ही परम मित्र है,

धर्म ही स्वामी है, धर्म ही पिता है, धर्म ही माता है, धर्म ही हितकारक है एवं धर्म ही पुनर्जन्म के लिए पाथेय (यात्रा में भोजन सामग्री) है। धर्म ही मृत्यु से रक्षा के लिए शरण है, धर्म ही वृद्धावस्था रूपी व्याधि की औषधि है तथा उत्तम धर्म ही नरक रूपी कूप से रक्षा करनेवाला है, मुक्ति रूपी रमणी को वश में करनेवाला है। यह धर्म महाव्रत धारण, घोर दुष्कर तपश्चरण, रत्नत्रय, यम-नियम, योग-महाध्यान आदि के द्वारा निर्मल हृदयवाले धीर-वीर मुनियों के द्वारा ही धारण किया जाता है। स्वर्गों का सुख प्रदायक 'एकदेश धर्म' का सम्यक्ज्ञान, अणुव्रत, दान, पूजन, गुरु सेवा, प्रोषधोपवास, निरन्तर व्रत धारण की भावना एवं तीर्थंकरों की भक्ति आदि के द्वारा सदैव आराधन किया जाता है।' इस प्रकार अरहन्त भगवान का उपदेश सुन कर राजा वज्रायुध आदि काल-लब्धि प्राप्त हो जाने के कारण देह-भोग एवं संसार से विरक्त हुआ। तदनन्तर वह बुद्धिमान अपने चित्त में विचार करने लगा-'संसार में भोगों की लम्पटता भी बड़ी विचित्र है ! आश्चर्य है कि ये हैं तो मेरे पौत्र, आयु में भी मुझसे बहुत कम हैं, किन्तु अपनी धीरता-वीरता एवं तपश्चरण के कारण अल्पावस्था में ही इन्हें केवलज्ञान की अक्षय सम्पदा प्राप्त हो गयी है। इसलिये संसार में इनकी आत्मा धन्य है ! देखो, मुझे तीन ज्ञान प्राप्त हैं, तो भी मैं मूढ़ के समान भ्राता-बन्धु रूपी बन्धन से बँधा हुआ राज्यरूपी कारागार में बन्दी पड़ा हूँ ॥१९०॥ जिन धीरता-वीरता आदि गुणों से धीर-वीर पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिए कर्मरूपी शत्रुओं का विनाश न कर सके, उन उदात्त गुणों से इस संसार में भला अन्य क्या हित सिद्ध हो सकता है ? इस देह में सार ही क्या है, जिसके लिए मूढ़ जन इसकी पुष्टि व पालन-पोषण में नरकायु का बन्ध करानेवाले अनेक प्रकार के पाप सन्चित करते हैं ? यह काया शुक्र एवं शोणित से उत्पन्न हुई है, सप्त धातुओं से परिपूर्ण है, विष्टा आदि से निमग्न है, मलमूत्र का पात्र (बर्तन) है एवं कीटों से भरी हुई है। इसकी अस्थियों का समूह, मज्जापिण्ड, चर्म आदि केवल एक भव में ही सुख देते हैं; परन्तु ये भोग अनन्त जन्मों में दुःख ही देते रहते हैं। इसलिये बुद्धिमान प्राणी को मोक्ष प्राप्त करने के लिए क्रुद्ध सर्प के समान इन भोगों से अवश्य दूर रहना चाहिये एवं प्राणहानि की आशंका होने पर भी इनको ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये धर्म का विनाश करनेवाले हैं। यह संसार सब तरह के दुःखों की खानि है, घोर कष्टदायक है, अत्यन्त विषम है, विनश्वर है, अनन्त है एवं भयानक है। इससे भला कौन बुद्धिमान प्रेम करेगा ? विषयों में आबद्ध (फँसा हुआ) यह जीव

कर्मों के उदय से इस संसार-रूपी वन में घूमता रहता है एवं दुःखरूपी पर्वत पर कभी चढ़ता तो कभी नीचे उतरता रहता है । यदि संसार ही कल्याणकारी होता, तो श्री जिनेन्द्रदेव ने इसका त्याग क्यों किया ? उन्होंने मोक्ष रूपी राजलक्ष्मी के साथ-साथ मुक्तिरूपी रमणी को क्यों ग्रहण किया ?' इस प्रकार चिन्तवन करने से वज्रायुध चक्रवर्ती का वैराग्य द्विगुणित हो गया, जो कि अनेक प्रकार के सुखों का प्रदाता एवं ज्ञान का निमित्त (कारण) है । तदनन्तर वे चक्रवर्ती श्री अरहन्तदेव को नमस्कार कर, उनके वचनामृत का पान कर एवं भोग-तृष्णा आदि से उत्पन्न हुए भव-दाह को विनष्ट कर अपने राजमहल को चले गये ॥२००॥ संसार से विरक्त हुए उन बुद्धिमान (चक्रवर्ती) न सज्जनों के द्वारा त्याग करने योग्य अपना विस्तृत साम्राज्य पुत्र सहस्रायुध को भव्य समारोह पूर्वक सौंप दिया एवं इस प्रकार वे निश्चिन्त हो गए । तदनन्तर वे चक्रवर्ती दीक्षा धारण करने की कामना से षट-खण्ड की राज्यलक्ष्मी, नव निधि, चतुर्दश रत्न एवं छियानवे सहस्र (हजार) रानियों का परित्याग कर अपने पिता क्षेंमकर तीर्थंकर के समीप पहुँचे । वे जिनेन्द्र भगवान तीनों लोकों के स्वामी थे, गुणों के समुद्र थे एवं अनन्त महिमा सहित विराजमान थे । चक्रवर्ती ने उनको हार्दिक भक्ति से मस्तक नवाकर तीन बार नमस्कार किया एवं उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं । तत्पश्चात् मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से उनकी आज्ञानुसार वस्त्रादि बाह्य परिग्रहों तथा मिथ्यात्व आदि अन्तरंग परिग्रहों का त्याग किया एवं मुनि दीक्षा धारण की । उन्होंने अहिंसा आदि पाँच महाव्रत धारण किये, ईर्या समिति आदि पाँच उत्तम समितियाँ धारण कीं, स्पर्श आदि पन्च (पाँचों) इन्द्रियों के विषयों को रोका, सामायिक आदि षट (छः) आवश्यक धारण किये, केश लोंच किया, नग्नावस्था धारण की, स्नान का त्याग किया, सदा पृथ्वी पर शयन का नियम लिया, दन्तधावन करने का त्याग किया एवं मध्याह्न के समय दूसरों के गृह पर सुखद पवित्र प्रासुक भोजन खड़े होकर एक बार लेने का नियम लिया । श्री जिनेन्द्रदेव ने दीक्षा देते समय वज्रायुध चक्रवर्ती को उपरोक्त अट्ठाईस मूलगुण के विषय में उपदेश दिया था । मुनियों को ये अट्ठाईस मूलगुण प्राण नाश होने पर भी कभी नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि ये मूलगुण ही समस्त गुणों के मूलभूत हैं, अर्थात् धर्म रूपी वृक्ष की जड़ समतुल्य हैं ॥२१०॥ मुनिराज बिना किसी व्यतिक्रम के समस्त प्रमादों को त्याग कर मोक्ष प्रदायक इन अट्ठाईस मूलगुणों का सदैव पालन करते रहते हैं । वे वज्रायुध मुनिराज तृष्णा रूपी ताप को शान्त करने के लिए तत्व रूपी शीतल जल से

परिपूर्ण आगम रूपी महासागर में अवगाहन करते थे, उसमें स्नान करते थे अर्थात् उसका गम्भीरता से मनन करते थे । वे मुनि एक पक्ष (पन्द्रह दिन) एक मास, एक वर्ष आदि की मर्यादा से प्रोषधोपवास आदि धारण कर अनेक प्रकार का दुष्कर तप पूर्ण करते थे । वे चित्त को एकाग्र कर निर्जन भवनों मे, पर्वत पर, वृक्षों के कोटरों में एवं गुफा में उत्तम ध्यान धारण कर विराजते थे । वर्षाकाल के चार मास तक वे मुनिराज वृक्ष के तले काष्ठ के स्तम्भ के समान निश्चल खड़गासन (खड़े होकर) में पाप-कर्मों को विनाश करनेवाला योग धारण करते थे । शीतकाल में रात्रि के समय चतुष्पथ (चौराहे) पर कायोत्सर्ग धारण कर हिम (बरफ) से आच्छादित पर्वत के सदृश भय रहित खड़गासन में विराजते थे । ग्रीष्म ऋतु में वे मुनिराज धूप से विदग्ध पर्वत की तप्त शिला पर स्वेद-कणों से विभूषित होकर सूर्य के समान कायोत्सर्ग धारण कर खड़े रहते थे । इस प्रकार वे मुनिराज अनन्त सुख प्राप्त करने के लिए तथा देहादिक पुद्गलों तथा कर्मों को नष्ट करने के लिए अपनी क्षमता (शक्ति) के अनुसार तीनों ऋतुओं से उत्पन्न हुए कायक्लेश को समभाव से सहन करते थे । किसी एक दिन वज्रवृषभ-नाराच-संहनन को धारण करनेवाले वे धीर-वीर मुनिराज पापों का विनाश करने हेतु सिद्धिगिरि पर्वत पर प्रतिमा योग धारण कर अत्यन्त स्थिरता से विराजमान हुए । उन्हें अवलोक कर आकाश मार्ग से गमन करते हुए विद्याधर अपने हृदय में आश्चर्यचकित होकर कल्पना करते थे-'क्या यह कोई पर्वत का शिखर है, या कोई स्तम्भ है, या मस्तक पर काले केशों के भ्रमरों से आवृत्त कोई वृक्ष है, या देह से ममत्व त्यागे हुए कोई मुनिराज हैं ?' ॥२२०॥ वे मुनिराज इतने निश्चल थे कि उन्हें वृक्ष समझ कर अनेक प्रकार के महाभयंकर सर्प भी उनकी काया (देह) एवं मस्तक पर चढ़ जाते थे । उन मुनिराज के दोनों चरणों का सहारा लेकर सर्पों ने बहुत सारे बाँबी (बिल) बना लिए थे । यह उचित भी है ! क्योंकि मुनियों के चरण-कमलों के स्पर्श से निर्भय होकर शत्रु भी बढ़ आते हैं । कितनी ही बेलों ने मानों मार्दव गुण (कोमलता) को प्राप्त करने की कामना से ही उन मुनिराज की देह को आपाद कण्ठ आवृत्त कर अपने को भलीभाँति विस्तीर्ण कर लिया था । मुनिराज उत्कृष्ट आत्मा का ध्यान कर समस्त परीषहों पर विजय प्राप्त कर ऐसे निश्चल विराजमान हो गये थे, मानो बेलों से ढँका हुआ कोई वृक्ष ही हो । अब आगे का वृत्तान्त सुनिये-रत्नकण्ठ एवं रत्नायुध अश्वग्रीव के पुत्र थे । वे अपने पाप कर्मों के उदय से संसार-सागर में परिभ्रमण करते हुए धर्म सेवन के कुछ प्रभाव के व्यन्तर देव हुए

श्री शांतिनाथ पुराण

थे । उनका नाम था अतिबल एवं महाबल । वे अत्यन्त दुष्ट प्रकृति के थे । पूर्व जन्म के बैर के संस्कार से तथा पाप कर्म के उदय से देह से ममत्व त्याग देनेवाले उन मुनिराज पर वे भयंकर उपसर्ग करने लगे । संसार में जो मुनिराज की निन्दा करते हैं, उनकी भव-भव मे निन्दा होती है तथा जो मुनिराज को दुःख (कष्ट) देते हैं, उन्हें नरक में अपार दुःख (कष्ट) भोगना पड़ता है । वज्रायुध मुनिराज पर उससर्ग चल ही रहा था कि इतने में रम्भा एवं तिलोत्तमा नाम की दो देवियाँ वहाँ आ पहुँची । उन्होंने उन दुष्ट देवों को बहुतेरा समझाया कि मुनिराज के तपश्चरण का बल अत्यन्त प्रबल हुआ है, यदि अकस्मात् इन्हें भी क्रोध आ गया तो फिर इस संसार में भला ऐसा कौन है, जो उनके सामने क्षण भर भी ठहर सके ? इस प्रकार समझाने पर भी जब वे मूढ़ नहीं माने, तो उन्होंने (देवियों ने) उन दोनों देवों को धमकाया, उनकी ताड़ना की एवं उन्हें उपसर्ग करने से रोका । इस प्रकार निर्ग्रंथ मुनिराज में भक्ति रखनेवाली उन दोनों देवियों ने मुनिराज वज्रायुध की रक्षा की । पाप कर्मों के उदय से कारण दोनों लोक इहलोक एवं परलोक में दुःख पाने के भय से वे दोनों व्यन्तर देव वहाँ से पलायन कर गये ॥२३०॥ दोनों पुण्यवती देवियों ने नवधा भक्ति पूर्वक मुनिराज को नमस्कार किया, स्वर्गलोक से लाये हुए पुष्प-गन्ध आदि द्रव्य से उनकी पूजा की तथा फिर वे स्वर्ग को प्रस्थान कर गईं । देखो, कहाँ तो वे दुष्ट देव तथा कहाँ ये पुण्यवती देवियाँ ! पुण्य से क्या सम्भव नहीं होता ? संसार में जो कुछ कठिन है, सार है, दुर्लभ है; धर्मात्माओं को वह सब कुछ प्राप्त होता है । अथानन्तर-वज्रायुध के पुत्र सहस्रायुध को राज्य-भोग करते-करते किसी कारणवश वैराग्य उत्पन्न हो गया तथा वह संवेग गुण का चिन्तवन करने लगा । सत्पुरुषों की परम्परावाले, दानी, पवित्र तथा मोक्ष प्राप्त करनेवाले अपने कुलक्रम का चिन्तवन वे अपने चित्त में करने लगे । वे विचार करने लगे-'देखो ! मेरे पितामह तीर्थंकर हैं, उन्होंने दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्त किया है तथा देव-विद्याधर-मनुष्य आदि सब प्राणी उनकी पूजा करते हैं । मेरे पिता भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए चक्रवर्ती की राज्यलक्ष्मी का परित्याग कर संयम धारणपूर्वक प्रतिदिन कठिन तपश्चरण करते हैं । अनन्त सुख की कामना करनेवाले अन्य कितने ही नृपतिगण भी विद्वानों द्वारा पूज्य जिनमुद्रा धारण कर मेरे सामने ही वन को चले गये । परन्तु मोह रूपी पिशाच से पराभूत हुआ, विषयों में अन्धा तथा नष्ट बुद्धि मैं अब तक मीन (मछली) के समान गृह रूपी जाल में फँसा हुआ पड़ा हूँ ॥२४०॥

इस संसार में श्रेष्ठ आत्माओं को जब तक कर्मों के विनाश से उत्पन्न होनेवाला अनन्त सुख प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक उन्हें सांसारिक सुखों से कभी तृप्ति नहीं होती। मनुष्यों को क्षुधा शमन के समय अन्न द्वारा अथवा ज्वर-दाह के समय औषधि द्वारा जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख नहीं है, वरन् दुःख है। इसमें कोई सन्देह नहीं। जिस प्रकार कोई उत्तम जीव बुद्धि के भ्रष्ट हो जाने से अपनी माता को भी भोग्या नारी-स्वरूपा समझ लेता है, उसी प्रकार यह जीव अपनी बुद्धि के भ्रम से बड़ी कठिनता से प्राप्त होनेवाले, दुःख से उत्पन्न होनेवाले तथा आगे भी दुःख देनेवाले कामजन्य सुख को चरम सुख मान लेता है। रति सुख पराधीन है, चन्चल है तथा विषयों से उत्पन्न हुआ है, इसे पशुओं ने भी स्वीकार किया है। फिर भला ज्ञानी जन इसकी अभिलाषा कैसे कर सकते हैं ? कामजन्य जो सुख है, वह अनेक जीवों का विनाश करनेवाला है, राग से परिपूर्ण है तथा नियम (परम्परा) से नरक के दुःखों का निमित्त (कारण) है, विद्वतजनों ने ऐसा ही माना है। जो सुख विषयों से रहित है, अपनी आत्मा से उत्पन्न हुआ है, नारी आदि से रहित है, चिरस्थायी है तथा तपश्चरण से उत्पन्न हुआ है; वह सुख मुनियों द्वारा मान्य गिना जाता है। यदि वह अनन्त सुख कठिन तपश्चरण से भी मिल जाये; तो फिर ऐसा कौन बुद्धिमान है, जो प्रचण्ड दुःखदायी क्षणिक सुखों से आत्मा को निरूपित करेगा ?' इस प्रकार चिन्तवन कर राजा सहस्रायुध ने काम, राज्य आदि समस्त सांसारिक बन्धनों को त्याग कर अपने चित्त में संयम धारण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। तदनन्तर जिनकी समस्त सांसारिक कामनाएँ नष्ट हो गई हैं एवं जिनकी आत्मा संवेग गुण से सुशोभित हो रही है, ऐसे राजा सहस्रायुध ने अपार विभूति के साथ अपना राज्य पुत्र शतबल को सौंप दिया ॥२५०॥ इसके पश्चात् पुण्य कर्म के उदय से राजा सहस्रायुध समस्त दोषों से रहित, धर्म के स्थान एवं कर्मों के आस्रव से रहित पिहिताश्रव मुनिराज के समीप पहुँचे। उन्होंने उन मुनिराज को मस्तक नवाकर नमस्कार किया, बाह्य-अन्तरंग दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग किया एवं दुःखों का नाश करनेवाली तथा मोक्ष प्रदायक उत्तम मुनि-दीक्षा धारण की। सहस्रायुद्ध मुनिराज निशि-दिन काया को क्लेश पहुँचानेवाला असह्य तपश्चरण करने लगे एवं अपने योग के अन्त में वज्रायुध मुनि के समीप पहुँचे। वे दोनों (वज्रायुध एवं सहस्रायुध) मुनिराज भयोत्पादक एवं कठिन तपश्चरण का पालन कर वैभार पर्वत पर पहुँचे। उन्होंने अपने तप ज्ञान से अपनी-अपनी आयु को अल्प समझ कर समस्त देह से ममत्व एवं आहार करना त्याग

श्री शांतिनाथ पुराण

कर मृत्यु पर्यन्त संन्यास धारण किया । उन दोनों मुनियों ने उत्तम क्षमा, सन्तोष आदि अस्त्रों द्वारा कर्मों में स्थिति-बन्ध करनेवाले कषाय-रूपी शत्रुओं का निग्रह किया । उन्होंने आमरण घोर एवं कठिन प्रोषधोपवासों से तथा शीत-उष्ण आदि सब तरह के दुःखदायक घोर परीषहों से अपनी देह को रुधिर-मज्जा से रहित, केवल अस्थि का ढाँचा, चर्म से ढँका हुआ भयानक, कृश एवं बहुत क्षीण बना दिया था । वे दोनों ही मुनि समस्त दोषों से रहित थे एवं मुक्ति रूपी लक्ष्मी की जननी दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उत्तम आराधन करते थे । वे दोनों ही चतुर मुनि अशुभ ध्यानों को त्याग कर कभी तो एकाग्रचित्त से श्री जिनेन्द्रदेव का ध्यान करते थे एवं कभी अपनी आत्मा का ध्यान करते थे ॥२६०॥ उन्होंने काया रहित सिद्धि पद प्राप्त करने के लिए समस्त प्रकार के दुःखों का कारण अपने शरीर का ममत्व सर्वथा त्याग दिया था । उन्होंने वैराग्य से आप्लावित अपना मन श्रेष्ठ धर्मध्यान के द्वारा सर्वथा आत्म-कल्याण में आमरण प्रवृत्त किया था । इस प्रकार पूर्ण प्रयत्न एवं पूर्ण समाधि के साथ रत्नत्रय को धारण कर सूक्ष्म जीवों को अभय प्रदान करनेवाली प्रकृति का बन्ध कर उन्होंने अपने प्राण त्यागे थे एवं धर्म के प्रभाव से ऊर्ध्व ग्रैवेयक में सुख के सागर सौमनस नामक अधो-विमान में वे दोनों ही अहमिन्द्र हुए थे । वे दोनों ही अहमिन्द्र स्वच्छ स्फटिक के समान रत्नों से निर्मित, अनेक ऋद्धियों से परिपूर्ण 'उत्पादगृह' विमान में, दो शिलाओं के मध्य मणियों से जड़े हुए सुवर्ण पर्यंक (पलंग) पर उत्पन्न हुए थे तथा अन्तर्मुहूर्त में ही यौवन अवस्था को प्राप्त हो गये थे । उत्पन्न होते समय वे दिव्य माला तथा वस्त्र धारण किए थे तथा सर्वांग आभूषणों से सुशोभित थे । जन्म (उत्पन्न) होते ही वे उठकर बैठ गये तथा समस्त दिशाओं में अवलोकन करने लगे । उन्होंने देखा कि विभिन्न प्रकार के रत्नों से निमित्त विशालकाय एवं गगनचुम्बी चैत्यालय है, अति उत्तम विशाल महल हैं तथा संसार में समस्त ऋतुओं में सारभूत सुख देनेवाली बड़ी महान ऋद्धियाँ हैं । उन्होंने तेज के महान पुंज के समान अथवा धर्मोदय के समान समस्त अहमिन्द्रों को एक-सा देखा । उसी समय ऋद्धि को धारण करनेवाले उन दोनों को अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ । उस अवधिज्ञान से उन्होंने अपने-अपने पूर्व भव का पूर्ण वृत्तान्त ज्ञात कर लिया, साथ ही तप एवं ज्ञान का उत्तम फल भी समझ लिया । तदनन्तर उन दोनों ने जिनालय में जाकर विविध प्रकारेण भगवान की पूजा की ॥२७०॥ इसके पश्चात् वे दोनों ही अहमिन्द्र धर्म के प्रभाव से प्राप्त हुए प्रविचार रहित, तृप्त करानेवाले तथा आत्मा में

अनुभव होनेवाले अनेक प्रकार के दैविक सुख भोगने लगे । स्वर्गों में देवों को देवागनाओं से जो सुख प्राप्त होता है, उससे भी अधिक सुख उन अहमिन्द्रों को प्राप्त होता है । उन सब अहमिन्द्रों की विभूति एक-सी होती है, सब चतुर होते हैं, सब का समान पद रहता हे, भोगोपभोग आदि की सामग्री सब समान होती है, विमानों की ऋद्धियाँ समान होती हैं, मान-सम्मान सब समान होता है, सब परस्पर प्रेम रखते हैं, सब के हृदय शुद्ध रहते हैं, हीनाधिक पद किसी का नहीं होता तथा सब के हृदय में प्रेम रहता है । 'मैं ही इन्द्र हूँ, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई इन्द्र नहीं है'-इस प्रकार अपने हृदय में मान कर वे सदा सन्तुष्ट व सुखी रहते हैं । सब अहमिन्द्रों की लेश्या शुक्ल रहती है, वे सब उपमा रहित, विषाद रहित तथा मद रहित होते हैं। इस प्रकार वे सब अहमिन्द्र समान ही होते हैं । वे दोनों ही अहमिन्द्र कभी तो अन्य अहमिन्द्रों के साथ रत्नत्रय को प्रगट करनेवाली, धर्म की द्योतक तथा शुभ कर्मों का बन्ध करनेवाली गोष्ठी एवं धर्म चर्चा करते थे, तो कभी अवधिज्ञान से जिनेन्द्र भगवान के कल्याणकों को ज्ञात कर 'तीर्थंकर पद' को प्राप्त करने की अभिलाषा लिए बड़ी भक्ति से अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही मस्तक नवा कर उन्हें नमस्कार करते थे । वे दोनों ही अहमिन्द्र प्रसन्न होकर अपने विमान के जिनालय में सदैव श्री जिनेन्द्र देव का पूजन करते थे । वे दोनों ही अहमिन्द्र काम-रूपी अग्नि के दाह से रहित थे, कहीं आने-जाने की लालसा उन्हें थी ही नहीं तथा आत्मा से उत्पन्न हुए चित्त को प्रसन्न करानेवाले अनेक प्रकार के सुख भोगते थे ॥२८०॥ उन्हें सप्तम वसुधा तक अवधिज्ञान था, वहाँ तक विक्रिया ऋद्धि थी, वहाँ तक उनका प्रताप था एवं गमन करने की शक्ति थी । उनको डेढ़ हस्त प्रमाण देह थी । उनकी मुखमुद्रा सौम्य थी । वे दोनों प्रचण्ड बलवान थे, उनका सम-चतुरस्र-संस्थान था एवं ऐसे प्रतीत होते थे, मानो पुण्य का समूह ही हों । उनकी उन्तीस सागर की आयु थी । उन्हें न कभी रोग, न क्लेश, न अनिष्ट संयोग, न इष्ट वियोग होता था । उन्तीस हजार वर्ष व्यतीत होने पर सब दिशाओं को सुगन्धित करनेवाला उच्छ्वास लेते थे तथा इस प्रकार वे सुख के महासागर में निमग्न रहते थे । इस प्रकार धर्म के प्रभाव से वे दोनों ही अहमिन्द्र, आत्मा से उत्पन्न हुए, राग-रहित समस्त दोषों से रहित, स्वर्ग के सुखों से उत्तम, उपमा रहित, अत्यन्त सारभूत एवं नारी आदि के समागम से रहित सुखों का सदैव अनुभव किया करते थे । वे दोनों अहमिन्द्र निःशंकित आदि गुणों से परिपूर्ण तत्वों का श्रद्धान करते थे, भगवान श्री अरहन्त देव की भक्ति करते थे, चारित्र धर्म की भावना

भाते थे, श्रुतज्ञान का पाठ करते थे, मुक्तिरूपी रमणी में आसक्त रहते थे एवं धर्म के श्रेष्ठ गुणों की चर्चा किया करते थे । वे (चक्रवर्ती का जीव) धारण किये हुए चारित्र के फल से, घोर तपश्चरण से, सम्यग्दर्शन ज्ञान के बल से एवं शुद्ध मन से, जो कुछ पुण्य पूर्व में सन्चय किया था, उसके उदय से पुत्र के साथ अहमिन्द्र होकर उस विमान में अत्यन्त निर्मल एवं सारभूत सुख का अनुभव करते थे । यही समझ कर बुद्धिमानों को चारित्र धारण कर सदैव धर्म का पालन करना चाहिये । बहुत अधिक कहने से भला क्या लाभ है ? सज्जनों को मनुष्य जन्म एवं श्रेष्ठ कुल प्राप्त कर बड़े प्रयत्न से सर्वप्रकारेण कल्याणकारी जैन धर्म का पालन करना चाहिये । संसार में श्रेष्ठ धर्म ही पिता है, धर्म ही भ्राता है, धर्म ही पूर्व जन्म की माता है, धर्म ही धन आदि का सुख प्रदायक है एवं धर्म ही जीव का हित करनेवाला है । आत्मा के गुणों की अभिवृद्धि करनेवाला धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं । श्री जिनेन्द्र देव का वर्णित धर्म ही 'तीर्थंकर' पद प्रदान करने के लिए एकमेव सक्षम है, धर्म ही चक्रवर्ती एवं इन्द्र की विभूति का हेतु है, धर्म ही अनन्त सुख प्रदाता है एवं धर्म ही सब से उत्तम है । इसलिये उत्तम पुरुष सदैव ही धर्म का पालन करते हैं ॥२९०॥ संसार में धर्म ही स्वर्ग रूपी गृह का आँगन है, धर्म ही हित करनेवाला है, धर्म ही मोक्ष सुख प्रदायक है, धर्म ही अनन्त गुणों का समुद्र है । श्री जिनेन्द्र देव भी इसका सेवन करते है । यह धर्म चारित्र को धारण करने से प्रगट होता है एवं समस्त प्रकार के पापों का विनाश करनेवाला है । जो बुद्धिमान निशि-दिन इस धर्म का पालन करते हैं, मुक्ति लक्ष्मी भी उनकी महीषी हो जाती है; फिर भला स्वर्ग की वैभव-लक्ष्मी की तो गणना ही क्या ॥३००॥ श्री शान्तिनाथ भगवान उत्तम-क्षमा आदि शांत गुणों को धारण करनेवालों को शांति प्रदान करनेवाले हैं, शांति के स्थान हैं, शांति को धारण करनेवाले हैं, एकमात्र शांतिरूपी रस में ही निमग्न हैं, अत्यन्त निर्मल हैं, अशुभ कर्मों को शांत करनेवाले हैं, धीर-वीर हैं, अशांति का निवारण करनेवाले हैं, धर्म के मार्ग में विघ्न उत्पन्न करनेवालों को विनष्ट करनेवाले हैं एवं मोक्ष प्राप्त करनेवाले को सर्वरूपेण शांति प्रदान करनेवाले हैं । ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान को मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ।

इस प्रकार श्री शान्तिनाथ पुराण में अहमिन्द्र भव का निरूपण करनेवाला नवमा अधिकार समाप्त हुआ ॥९॥

श्री शांतिनाथ पुराण

दशवाँ अधिकार

मैं अपने अशुभ कर्मों को शांत करने के लिए, विघ्नों का निवारण करनेवाले, समस्त संसार को शांति प्रदान करनेवाले, कर्म रूपी शत्रुओं के समूह को शांत करनेवाले एवं समस्त संसार जिन्हें नमस्कार करता है, ऐसे श्री शांतिनाथ भगवान को नमस्कार करता हूँ ॥१॥ अथानन्तर-जम्बू वृक्ष से सुशोभित ऐसे जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र मे पुष्कलावती नाम का एक देश है । तीन ज्ञान को धारण करनेवाले देव भी मोक्षप्रद प्राप्ति के लिए उस देश में जन्म लेने के लिए लालायित रहते हैं। उस देश में भव्य जीवों को धर्मोपदेश देने के लिए एवं तीर्थयात्रा करने के लिए धीर-वीर दयालु मुनिगण सदैव विहार करते रहते हैं । उस देश में जिनालय के अतिरिक्त न ग्राम थे, न द्वीप थे, न खेट थे, न मंटव थे, न कर्वट थे एवं न पटटन ही थे । वहाँ पर भोगोपभोगों से परिपूर्ण पुण्यशाली असंख्यात शलाका पुरुष उत्पन्न होते हैं; जिन्हें देव, मनुष्य सब नमस्कार करते हैं । हंस आदि उत्तम पक्षियों से शोभायमान एवं निर्मल जल से परिपूर्ण मनोहर सरोवर, बावड़ी, नदी एवं कूप चारों दिशाओं से शोभायमान हैं । वहाँ के खेत प्राणियों को तृप्त करनेवाले फलों से तथा मुनियों के तपश्चरण के समान सर्वदा सफल बने रहते हैं । वहाँ वन के ऊँचे वृक्ष पुष्प-फलों से शोभायमान होकर अत्यन्त मनोज्ञ प्रतीत होते हैं । वृक्षों के नीचे ध्यान धारण किए हुए मुनिराज विराजमान हैं, जो स्वयं कल्पवृक्ष के तुल्य प्रतीत होते हैं । वहाँ पर स्थान-स्थान पर देव, विद्याधर एवं मनुष्यों के द्वारा पूज्य तीर्थंकर एवं गणधरों की उत्तम निर्वाण-भूमियाँ विद्यमान हैं ॥१०॥ वहाँ पर श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा वर्णित आदि एवं अन्त रहित, हिंसा से मुक्त, समस्त प्राणियों का हित करनेवाला एवं सदैव स्थिर रहनेवाला धर्म सदा विद्यमान रहता है । जिस प्रकार देह के मध्य भाग में नाभि रहती है, उसी प्रकार उपरोक्त गुणों से परिपूर्ण उस देश के मध्य भाग में पुण्डिरीकिणी नाम की शुभ नगरी है । वह नगरी सुवर्ण व रत्नों से निर्मित चिरस्थायी कोट से एवं उसके उच्च द्वारों से सदा शोभायमान रहती है । वहाँ के अकृत्रिम जिनालय धर्म के सागर के समान शोभायमान हैं, वे जिनालय सुमेरु पर्वत के शिखर के समान गगनचुम्बी हैं, अनेक प्रकार के रत्नों से शोभायमान हैं, उनमें मणियों के मण्डप बने हुए हैं, उनके चारों ओर कोट बने हुए हैं, उन पर बहुत-सी ध्वजायें फहरा रही हैं, धर्मात्मा नर-नारियों से वे परिपूर्ण हैं, धर्म के उपकरण

श्री शांतिनाथ पुराण

तथा सुवर्ण एवं मणिक आदि से निर्मित श्री जिनेन्द्रदेव की अनेक प्रकार की प्रतिमाओं से सुशोभित हैं, देव भी उनकी सेवा करते हैं, अनेक प्रकार की शोभा से वे शोभायमान हैं एवं गीत, नृत्य वाद्य तथा स्तुति के अविराम शब्दों से सदा गुंजायमान रहते हैं। गगनचुम्बी भवनों के शिखरों पर लगी हुई ध्वजाओं से वह नगरी ऐसी भव्य प्रतीत होती है, मानो मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिए देवों का ही आह्वान कर रही हो। वहाँ पर केवल पुण्यवान मनुष्य ही अपने सन्चित पुण्य का फल भोगने के लिए ही श्रेष्ठ कुलों में उत्पन्न होते हैं, पापी प्राणी वहाँ पर कभी उत्पन्न नहीं होते। कितने ही पुण्यवान जीव अनेक प्रकार के भोगों का आनन्द लेते हुए भी दान, पूजा, तप एवं व्रतों का पालन कर अपार पुण्य उपार्जन करते हैं ॥२०॥ जिस प्रकार धर्म के प्रभाव से मनुष्य द्रव्य से ही द्रव्य कमाते हैं, उसी प्रकार वहाँ के मनुष्य धर्म से ही धर्म ही वृद्धि करते हैं। उस नगरी में जो उत्तम मनुष्य उत्पन्न होते हैं, वे अपने पूर्व भव के पुण्य कर्म के उदय से त्यागी, भोगी, धीर-वीर, अनेक शास्त्रों में निपुण, सुन्दर, मधुरभाषी, व्रती, शीलवान, सम्यग्दृष्टी, बुद्धिमान, विद्वान, अत्यन्त चतुर, विवेकी, सदाचारी, अनेक प्रकार की गुण रूपी लक्ष्मी से सुशोभित, दुराचार एवं पापों से रहित, न्यायमार्ग के पथिक, श्री जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों के भक्त, नीच देवों से विमुख, निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा करने में आसक्त, कुगुरुओं की सेवा रहित, विनयवान, उत्तम भावनावाले एवं धर्मध्यान में तत्पर होते हैं। इसी प्रकार उपरोक्त समस्त गुणों से सुशोभित एवं सुख प्रदायनी रमणी ही वहाँ उत्पन्न होती हैं। उस नगरी में उत्पन्न हुए कितने ही चरम शरीरी चतुर पुरुष संयम रूपी तीक्ष्ण शस्त्र से कर्म रूपी शत्रुओं का समूल विनाश कर मुक्त होते हैं। कितने ही पुरुष चारित्र धारण कर स्वर्ग जाते हैं, कितने ही इन्द्र की विभूति प्राप्त करते हैं, तथा कितने ही ग्रैवेयक के सुख भोगते हैं। कितने उत्तम मुनि पुण्य कर्म के उदय से रत्नत्रय का आराधन कर सर्वार्थसिद्धि आदि पन्चोत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं। उस नगरी के कितने ही भद्र पुरुष अपने शुद्ध भावों से उत्तम पात्रों को दान देकर भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं तथा वहाँ पर अनेक प्रकार के भोग भोगते हैं ॥३०॥ उस नगरी में असंख्यात तीर्थंकर, गणधर, केवलज्ञानी तथा धीर-वीर चरम-शरीरी मुनि उत्पन्न होते रहते हैं, जिनकी चक्रवर्ती तथा विद्याधर पूजा करते हैं, वन्दना करते हैं तथा स्तुति करते हैं। फिर भला उस नगरी का अधिक वर्णन करने से अब क्या लाभ है ? इस प्रकार अनेक गुणों से अलंकृत उस नगरी में समस्त नृपतियों के शिरोमणि घनरथ नामक

श्री शांतिनाथ पुराण

तीर्थंकर राज्य करते थे । उनके उत्पन्न होने के पूर्व ही उनके पिता के राजमहल के प्रांगण में कुबेर ने छः मास तक रत्नों की वर्षा की थी । उनके गर्भावतार के समय इन्द्र ने देव-देवियों के साथ आकर बड़ी भक्ति से उनके माता-पिता की पूजा एवं स्तुति की थी । उनके उत्पन्न होते ही सकल देवों के द्वारा इन्द्रगण उन्हें मेरु पर्वत पर ले गए थे तथा बड़ी भक्ति से क्षीर सागर के जल से उनका अभिषेक किया था ।

उस बाल्यावस्था में ही इन्द्राणी ने स्वर्ग में उत्पन्न हुए वस्त्र, माला, आभूषण आदि उत्तम पदार्थों से स्वयं उन (बाल जिनेन्द्र) को विभूषित किया था । उनकी बाल्यावस्था में ही पुण्य उपार्जन करने के लिए इन्द्र अपनी इन्द्राणी के साथ उनकी सेवा करते थे । उनके रूप को निहार कर इन्द्र के चित्त में भी आश्चर्य उत्पन्न हुआ था एवं अतृप्त होकर उसने उस रूप को देखने के लिए एक सहस्र (हजार) नेत्र बना लिए थे । उनका रूप अत्यन्त दिव्य था, दिव्य गुणों से विभूषित था, उपमा रहित था एवं कलाओं से सुशोभित था, उसका वर्णन भला कौन कर सकता है ? ॥४०॥ उनकी देह में स्वेद (पसीना) नहीं आता था, दुग्ध के सदृश उनका रुधिर था, प्रथम सम-चतुरस्र-संस्थान था, वज्रवृषभ-नाराच-संहनन था अर्थात् वज्रमय अस्थियों से निर्मित वज्रमय देह थी । उस काया में सम्पूर्ण पुण्य रूप परमाणुओं से बना हुआ उत्तम सौरूप्य (सुन्दरता) गुण था, उनके श्वास में इतनी सुगन्धि थी कि समस्त दिशाओं में उसकी सुगन्धि विकीर्ण हो जाती थी, वह आकृति (देह) महादिव्य लक्षणों से एवं व्यन्जनों से सुसज्जित थी, शुक्लध्यान के योग्य अप्रमाण महावीर्य (शक्ति) था तथा उनकी वाणी शुभ, प्रिय तथा सर्व जीवों का हित करनेवाली थी । एकादश दिव्य अतिशय भगवान के जन्म से ही प्रगट हुए थे, फिर भला उनके गुणों का अलग-अलग वर्णन करने से क्या लाभ है ? जब वे धीर-वीर राज्य-सिंहासन पर विराजमान थे; तभी देव, विद्याधर आदि उनकी सेवा करते थे, फिर भला सामान्य राजाओं की तो गणना ही क्या थी? वे जिनेन्द्र भगवान स्वर्ग में आयोजित होनेवाले नृत्य, गीत, आभूषण, वस्त्र आदि उत्तम से उत्तम भोगों के द्वारा प्रतिदिन सुख-रसास्वादन का अनुभव किया करते थे । इस संसार में उन घनरथ तीर्थंकर के समस्त इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले अपार सुख का अनुमान भला कौन कर सकता है ? घनरथ की मनोहरा नामक एक रानी थी, जो गुणवती, सौभाग्यवती, पुण्यवती तथा अनेक शुभ लक्षणों से सुशोभित थी । उन दोनों के यहाँ वज्रायुध का जीव ग्रैवेयक से चय कर पुण्य कर्म के उदय से मेघरथ नाम का पुत्र हुआ था ॥५०॥ उन्हीं घनरथ तीर्थंकर की

एक अन्य रानी मनोरमा के गर्भ से सहस्रायुध का जीव ग्रैवेयक से चय कर पुण्य कर्म के उदय से दृढ़रथ नाम का पुत्र हुआ था। पुत्र जन्म से प्रसन्न होकर उनके पिता ने समग्र स्वजन-बान्धवों के साथ बड़े उत्सव से उन दोनों की आराधनादि समस्त क्रियायें की थीं। उन दोनों ने जन्म के समय अपने परिवार के साथ जिनालय में जाकर अतुल विभूति के साथ भगवान का महाभिषेक किया एवं उनकी वृद्धि के लिए भगवान की पूजा की थी। उन दोनों के जन्मोत्सव में स्वजनों-बान्धवों ने याचक भिक्षुओं को दान द्वारा सन्तुष्ट किया। उन दोनों ही भ्राताओं का अमृत के समतुल्य दुग्ध-मिश्री आदि पदार्थों के द्वारा पालन-पोषण एवं उनके योग्य वस्त्र-आभूषण द्वारा श्रृंगार किया जाता था। इसलिए वे चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे थे। वे दोनों ही भ्राता बाल्यावस्था के कौतुकों द्वारा माता-पिता को आनन्दित करते थे एवं कुमार अवस्था को प्राप्त कर समस्त परिवार के प्रिय हो गए। उन दोनों भ्राताओं ने अल्पकाल में ही राजनीति, शस्त्र-संचालन एवं जैन-सिद्धान्त का रहस्य हृदयगम कर लिया था। वे दोनों ही भ्राता पुण्य कर्म के उदय से अनुक्रम से यौवन, सद्गुण, लक्ष्मी, कला, बुद्धि एवं कान्ति से एक संग विभूषित हो गए थे। उन दोनों के मस्तक रत्नजटित मुकुटों से शोभायमान थे, हृदय (वक्षस्थल) माला एवं दिव्य हार से शोभायमान था एवं कर्ण (कान) कुण्डलों से शोभायमान थे। वे दोनों ही भ्राता केयूर, अंगद, श्रेष्ठ आभूषण एवं सुन्दर दिव्य वस्त्रों से शोभायमान थे एवं नागकुमार देवों के सदृश प्रतीत होते थे ॥६०॥ वे दोनों ही भाई धीर-वीर थे, शुभ लक्षणों से सुशोभित थे, सब कलाओं से परिपूर्ण थे, विद्वान थे, सर्वजन प्रिय तथा मान्य थे, प्रसिद्ध थे एवं निर्मल हृदयवाले थे। उनका यश समग्र संसार में व्याप्त हो रहा थीं। वे राजनीति की प्रवृत्ति करनेवाले थे, प्रतापी थे, चतुर थे एवं उनकी काया दिव्य कान्ति से सुशोभित थी। वे दोनों ही भ्राता न्याय मार्ग में लीन थे, पूज्य थे, दानी थे, गुणी थे, श्री जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों के भक्त थे एवं निर्ग्रन्थ गुरुओं के सेवक थे। वे दोनों ही भाई सुशील थे, धर्मात्मा थे, विद्या एवं विनय में पारगामी थे। अनेक नृपति उनकी सेवा करते थे, इसलिए वे इन्द्र-प्रतीन्द्र के समान सुशोभित होते थे। पूर्व भवों का निरूपण करनेवाला तथा तत्वों को प्रत्यक्ष प्रगट करनेवाला अनुगामी अवधिज्ञान (ग्रैवेयक के समान आया हुआ) केवल मेघरथ के ही था (दृढ़रथ के नहीं था)। वे दोनों ही भ्राता यौवन अवस्था को प्राप्त हो गए थे तथा उन्हें अन्य समग्र ऐश्वर्य भी प्राप्त हो गए थे, इसलिए मदोन्मत्त गजराजों के समान उनको देखा घनरथ तीर्थंकर को उनके

श्री शांतिनाथ पुराण

विवाह करने की चिन्ता हुई । उन्होंने ज्येष्ठ पुत्र मेघरथ का विवाह प्रियमित्रा तथा मनोरमा के साथ कर दिया तथा कनिष्ठ पुत्र दृढ़रथ का विवाह सुमति के साथ कर दिया था । मेघरथ की रूपवती तथा गुणवती रानी प्रियमित्रा के गर्भ से शुभ लक्षणोंवाला नन्दिवर्धन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । दृढ़रथ की सौभाग्यवती रानी सुमति के गर्भ से अनेक गुणों से सुशोभित बरसेन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । इस प्रकार घनरथ तीर्थंकर पुत्र-पौत्र आदि से वेष्टित होकर सब प्रकार की सुख-सामग्रियों का उपभोग करते हुए सिंहासन पर विराजमान होकर इन्द्र की-सी लीला रचते थे ॥७०॥ एक दिन प्रियमित्रा की दासी सुषेणा घनकुण्ड नामक एक कुक्कुट (मुर्गे) को ले कर आई तथा सब को दिखला कर कहने लगी-'जिसका कुक्कुट हमारे कुक्कुट को परजित कर देगा, उसे एक सहस्र (हजार) मुदाएँ मिलेंगी ।' सुषेणा की यह गर्वोक्ति सुन कर छोटी रानी की दासी काँचना घनकुण्ड कुक्कुट से लड़ाने के लिए वज्रतुण्ड नामक कुक्कुट को ले आई । ऐसे निरीह जीवों के परस्पर लड़ने से दोनों को दुःख होता है, दर्शकों को भी हिंसा में आनन्द मानने से रौद्र ध्यान का बंध होता है । रौद्र ध्यान महापाप का कारण है, पाप से नरक मिलता है तथा नरक में दुःख सहना पड़ता है । इसलिए धर्मात्मागण की ऐसा युद्ध देखना भी अयोग्य है । इसी नीति का स्मरण करते हुए घनरथ तीर्थंकर भव्य जीवों को समझाने के लिए तथा अपने पुत्र की महिमा प्रगट करने के लिए अपने पुत्र-पौत्रादिकों के संग बिना इच्छा के उन दोनों कुक्कुटों के युद्ध को देख रहे थे । वे दोनों ही कुक्कुट पूर्व जन्म की शत्रुता के कारण परस्पर क्रोधपूर्वक अचरज (आश्चर्य) उत्पन्न करानेवाला तथा घोर दुःख देनेवाला घोर युद्ध करने लगे । इसी बीच में घनरथ तीर्थंकर ने अपने पुत्र मेघरथ से जिज्ञासा की-'इन दोनों का युद्ध क्यों हो रहा है ? क्या पूर्व जन्म की शत्रुता इसका कारण है ?' पिता का यह प्रश्न सुन कर अवधिज्ञानी मेघरथ सर्व जीवों का हित करनेवाली तथा कर्णों को सुख प्रदान करनेवाली मधुर वाणी में कहने लगे ॥८०॥ 'हे आत्मीयजनों ! अपने चित्त को स्थिर कर सुनो । मैं इन दोनों के पूर्व जन्म की शत्रुता की कथा कहता हूँ । इसी जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र के रत्नपुर नगर में दो भ्राता थे । वे थे तो वैश्य, परन्तु निरक्षर (मूर्ख) थे; अतः गाड़ीवान का काम करते थे, भद्र तथा धन उनका नाम था । एक दिन वे दोनों निर्दयी भ्राता लोभ में पड़ कर एक वृषभ (बैल) के लिए आपस में लड़ने लगे । वे दोनों ही पापी श्रीनदी के तट पर लड़ने लगे तथा एक-दूसरे को प्रबल आघात पहुँचाने लगे । परस्पर प्रहारों की असह्य

पीड़ा से वे बहुत दुःखी हुए तथा लड़ते-लड़ते दोनों ही अन्त में मर गए। वे दोनो भ्राता आर्तध्यान रूपी महापाप से मरे थे, इसलिए वे काँचन नदी के तट पर श्वेतकर्ण तथा ताम्रकर्ण नामक हस्ती हुए। वे दोनों गजराज भी क्रोधी ही थे, साथ ही मदोन्मत्त एवं बलवान थे। संयोग से पूर्व जन्म की शत्रुता उनके संस्कार में जन्म से ही थी। देखो ! जो क्रोध करते हैं, उनकी क्या दुर्गति होती है ! यहाँ पर भी पूर्वभव के कर्मों के उदय से वे दोनों क्रोधित होकर लड़ने लगे तथा अपने शक्तिशाली दन्तों से एक-दूसरे को पीड़ा पहुँचाने लगे। परस्पर प्रहारों के प्रबल आघात से आहत वे दोनों ही दुःख होकर मर गए। वे दोनों गजराज अपने पाप कर्म के उदय से अयोध्या नगर के नन्दिमित्र नामक ग्वाल की भैंसों के यूथ (झुंड) में भैंसे हुए। वहाँ पर भी पूर्व जन्म के बैर के संस्कार से उन दोनों मूढ़ों ने परस्पर सन्ताप देनेवाला भीषण द्वन्द्व-युद्ध किया। बहुत काल तक वे एक-दूसरे को सींगों के प्रबल प्रहारों से आहत करते रहे एवं अन्त में दोनों ही लड़ते-लड़ते मर गए। अगले भव में वे उसी नगर के राजपुत्रों शक्तिसेन एवं वरसेन के यहाँ वज्र सरीखे दृढ़ मस्तकवाले मेढ़े हुए ॥९०॥ यहाँ पर भी पूर्व जन्म के विद्वेष भाव के कारण वे बहुत दिन तक परस्पर लड़ते रहे एवं अन्त में मर कर पाप कर्म के उदय से ये दोनों कुक्कुट हुए हैं। इसलिए हे राजन् ! यह निश्चित है कि पूर्व भव के संस्कार से प्राणियों की शत्रुता या मित्रता-दोनों ही अनेक भवों तक निरन्तर साथ चली जाती है। इसलिए हे राजन् ! बुद्धिमान प्राणियों को प्राणनाश होने पर भी किसी दीन-हीन के साथ दुःख देनेवाला बैर कर्मों नहीं बाँधना चाहिए।' इस प्रकार विद्वान मेघरथ ने उन दोनों कुक्कुटों के पूर्व भव की कथा कह कर समस्त सभासदों को आश्चर्य चकित कर दिया एवं उनकी जिज्ञासा को भी सन्तुष्ट कर दिया। तत्पश्चात् मेघरथ कहने लगे-'इन दोनों कुक्कुटों के संग्राम के समय अनेक विद्याओं में निपुण दो विद्याधर आपके स्नेह से प्रसन्न होकर यहाँ आकर बैठे हुए हैं। वे विद्याधर कौन हैं एवं यहाँ क्यों आए हैं ? यह सब आप सुनना चाहें, तो हे राजन् ! अनुमति दें। मैं उन दोनों की कथा कहता हूँ। इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विजयार्द्ध पर्वतमाला की उत्तर श्रेणी में कनकपुर नगर है। उसमें अपने पुण्य कर्म के उदय से गरुड़वेग नामक विद्याधर राज्य करता था। उसकी अनिन्द्य रूपवती रानी का नाम धृतिषेणा था। उन दोनों के देवतिलक एवं चन्द्रतिलक नामक दो पुत्र हुए, जो प्रतापी, धीर-वीर एवं मोक्षगामी थे। एक दिन वे दोनों भ्राता अपने अशुभ कर्मों का निवारण करने के लिए भगवान श्री

जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाओं की वन्दना के निमित्त सिद्धकूट चैत्यालय में गए थे ॥१००॥ वहाँ पर उन्होंने भगवान की पूजा-स्तुति की, नमस्कार किया एवं धर्म श्रवण करने की अभिलाषा से वहाँ पर विराजमान दो चारण मुनियों के समीप वे पहुँचे। वे दोनों ही मुनि अवधिज्ञानी थे, चतुर थे एवं देव भी उनकी उपासना करते थे। उन दोनों विद्याधरों ने बड़ी भक्ति से उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं; मस्तक नवा कर उन्हें नमस्कार किया एवं समीप जाकर बैठ गए। उनमें से ज्येष्ठ मुनि ने स्वर्ग प्राप्त करानेवाले गृहस्थ-धर्म का तथा मोक्ष के कारण मुनि धर्म का निरूपण किया एवं करुणा परवश उपदेश दिया-'यह धर्म ही सुखों की खानि है। मनुष्यों के परलोक के लिए यही पाथेय (साथ लें जाने योग्य) है एवं यही पापों का नाश करनेवाला है तथा उत्तम है।' मुनि के द्वारा वर्णित एवं भव-संसार से उत्तीर्ण करा देनेवाले जैन धर्म का वृत्तान्त सुन कर दोनों ने मुनि को नमस्कार कर अपने पूर्व जन्मों के भव पूछे। उन्होंने जिज्ञासा की-'हे स्वामी ! हम दोनों ने पूर्व भव में ऐसा कौन-सा तप किया था या व्रत पालन किया था, या भगवान का पूजन किया था, जिससे हम दोनों को विद्याधरों की विभूति प्राप्त हुई है ? हे देव ! हमे आनन्दित करने के लिए यह वृत्तान्त कृपापूर्वक आद्योपांत निरूपित कीजिए।' उन दोनों पर अनुग्रह करने के लिए ही मुनिराज कहने लगे-'हे विद्याधरों ! मैं जो वृत्तान्त कहता हूँ, तुमलोग ध्यानपूर्वक उसे सुनो। धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व मेरु की उत्तर दिशा की ओर ऐरावत क्षेत्र में तिलकपुर नाम का एक नगर है। उसमें अभयघोष नामक धर्मात्मा राजा राज्य करता था एवं उसके निर्मल हृदयवाली सुवर्णतिलका नाम की रानी थी ॥११०॥ उन दोनों के दो पुत्र हुए थे-विजय एवं जयन्त जिनके नाम थे। वे दोनों ही भ्राता धीर-वीर थे, शुभ लक्षणों से अलंकृत थे तथा नीतिवान एवं पराक्रमी थे। उसी देश के विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में मन्दर नाम का एक नगर है, जहाँ शंख नामक विद्याधर राज्य करता था। उसकी रानी का नाम जया था। उन दोनों के पृथ्वीतिलका नाम की पुत्री उत्पन्न हुई थी। वह अत्यंत रूपवती थी, पुण्य कर्म करनेवाली थी एवं अनेक श्रेष्ठ लक्षणों से सुशोभित थी। पुण्य कर्म के उदय से उस सुन्दरी विद्याधरी के साथ विधिपूर्वक अभयघोष ने विवाह किया था। राजा अभयघोष एक वर्ष तक निरंतर उसमें आसक्त रहा, इसलिए पाप कर्म के उदय से सुवर्णतिलका (पहिली रानी) बड़ी दुःखी हुई। बसन्त-ऋतु के समय एक दिन सुवर्णतिलका की दूती चन्चतलिका ने आकर राजा से कहा-'हे देव ! रानी सुवर्णतिलका का उद्यान बहुत ही सुन्दर एवं मनोहर

श्री शांतिनाथ पुराण

है, पुण्य के फल के समान उसमें बहुत-से फल लगे हुए हैं, अतः आप अवलोकन के लिए पधारें। दासी की उक्ति सुनकर रानी सुवर्णतिलका के अनुरोध के कारण जब राजा उस उद्यान में जाने के लिए प्रस्तुत हुए, तो पृथ्वीतिलका ने अपनी विद्या के बल से उसी समय वहीं पर सब ऋतुओं के फल-पुष्पों से भरा हुआ एक सुन्दर उद्यान बना कर प्रदर्शित कर दिया एवं राजा से कहा-'हे देव ! आप इस मनोरम उद्यान को तो देखिए एवं किसी अन्यत्र स्थान पर मत जाइए।' इस प्रकार कह कर उसने राजा अभयघोष के अन्यत्र गमन का विरोध करना चाहा। परन्तु पृथ्वीतिलका के प्रस्ताव को अस्वीकार कर राजा अभयघोष सुवर्णतिलका के उद्यान को देखने चले ही गए। मानभंग होने के कारण विद्याधरी पृथ्वीतिलका को गहन विषाद हुआ ॥१२०॥ वह विचार करने लगी-'इस पराधीन नारी जाति को धिक्कार है। यह नारी-पर्याय ही दुःख का कारण है। इस पर्याय में मोक्ष भी नहीं मिलता। यह पर्याय निन्द्य, अपवित्र एवं अशुभ है। जो भोग बिना सम्मान के भोगे जाते हैं, वे दुःख के सागर समतुल्य हैं तथा इस जीव को चारों गतियों में परिभ्रमण करानेवाले हैं, वे समस्त भोग आज मेरे पूर्ण हों, अर्थात् अब मैं उन्हें भोगना नहीं चाहती।' इस प्रकार चिन्तवन कर वह वैराग्य को प्रवृत्त हुई एवं गृह, भोग तथा पति को त्याग कर सुमति नाम की गणिनी (आर्यिका) के समीप पहुँची। उस सती ने वहाँ जाकर उनको नमस्कार किया, एक साड़ी के अतिरिक्त अन्य समस्त परिग्रहों का त्याग किया एवं सर्व प्रकार से सुख प्रदायक उत्तम दीक्षा धारण की। देखो ! संयम धारण करने के लिए कभी मान करना भी श्रेयस्कर होता है, क्योंकि आसन्न भव्य जीवों के लिए वह मान आत्मा की हित सिद्धि का कारण बन जाता है। अथानन्तर-एक दिन राजा अभयघोष ने मध्याह्न के समय परम प्रसन्नता के साथ दमवर नामक श्रेष्ठ मुनिराज की पड़गाहना की, जिससे उन्हें श्रेष्ठ धर्म का उपार्जन हुआ। जैन धर्म में श्रद्धा की अभिलाषा रखनेवाले उस राजा ने अशुभ कर्मों का विनाश करने के लिए दाता के सप्त गुणों से विभूषित होकर नवधा (नौ प्रकार की विधि) भक्तिपूर्वक उन मुनिराज को प्रासुक, मिष्ट, सरस, उत्तम आहार निरन्तराय (निर्विघ्न) प्रदान किया। तत्काल अर्जित किये हुए पुण्य के प्रभाव से राजा अभयघोष के महल के प्रांगण में रत्नवृष्टि आदि उत्तम पंचाश्चर्य प्रगट हुये ॥१३०॥ पात्र दान के फल से जिस प्रकार इहलोक में भारी विभूति प्राप्त होती है; उसी प्रकार परलोक में स्वर्ग-मोक्ष प्रदायक अनेक प्रकार की लक्ष्मी प्राप्त होती है। दान के प्रभाव से प्राप्त हुए

श्री शांतिनाथ पुराण

पन्चाश्चर्यों को देख कर तथा काल-लब्धि के प्राप्त हो जाने से राजा अभयघोष उसी समय संवेग को प्राप्त हुआ । वह विचार करने लगा-'देखो ! जैन मुनियों को दान देने के फल से ही जब यह मनुष्य क्षणमात्र में ही देवों के द्वारा प्रदत्त बहुमूल्य उत्तम वैभव रूपी लक्ष्मी को प्राप्त करता है तो उन उत्तम मुनियों को तपश्चरण के प्रभाव से स्वर्ग-मोक्ष आदि परलोक में कौन-सी उत्तम लक्ष्मी प्राप्त होगी, यह तो कल्पनातीत है । पाप रूपी समुद्र के मध्य में रहनेवाली इस गृहस्थी से भला क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि इस में रहते हुए मनुष्यों को मोक्ष-रूपी नारी का मुखकमल कभी दिखाई ही नहीं दे सकता । इसका कारण यह है कि गृहस्थ कभी-कभी दान, पूजा आदि के द्वारा स्वल्प मात्रा में पुण्य सम्पादन करता तो अवश्य है, परन्तु कालक्रम में वह हिंसा आदि पाप-कार्यों के द्वारा पाप का सन्चय अधिक कर लेता है । गृहस्थ व्यापार रूपी कार्यों के समुद्र में सदैव निमग्न रहता है एवं बहुत-सी चिन्ताओं से घिरा रहता है, इसलिये वह कभी सुखी नहीं हो सकता । उसे सदैव दुःख ही भोगने पड़ते हैं । गृहस्थ धर्म यदि कल्याण करानेवाला ही होता, तो तीर्थंकर इसे त्यागते ही क्यों एवं मोक्ष प्राप्त करने के लिए राज्य लक्ष्मी को त्याग कर दीक्षा धारण क्यों करते ? इस संसार में केवल मुनियों को ही उत्तम प्रकार का सुख प्राप्त होता है, क्योंकि वह सुख सर्वप्रकारेण चिन्ताओं से रहित है, आत्मा से उत्पन्न हुआ है एवं ध्यान से प्रगट हुआ है । संसार में वे ही मुनिराज धन्य हैं, जो आत्मानन्द रूपी अंजुलि के पात्र द्वारा हृदय रूपी घट से निकाल कर ध्यान रूपी अमृत का सदैव पान करते रहते हैं ॥१४०॥ यह संसार अपार दुःखों से परिपूर्ण है, यदि इसमें कहीं सुख है तो वह केवल मुनियों को ही प्राप्त है, क्योंकि वह सुख केवल आत्मा से ही प्रगट होता है । इस संसार में अन्य किसी प्राणी को वास्तविक सुख प्राप्त नहीं है । यदि मुनियों को इस संसार में विषयों से रहित उत्तम सुख न प्राप्त हों, तो फिर चक्रवर्तीगण अपनी इतनी विपुल विभूति को त्याग कर तपश्चरण क्यों धारण करते ? इसलिये मैं मानता हूँ कि आत्मा से प्रगट हुआ उपमा रहित पूर्ण सुख तो वीतराग मुनियों को ही है, अन्य रागी-द्वेषी जीवों को वह सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता ।' इस प्रकार विचार कर राजा अभयघोष ने शीघ्र ही राज्य का त्याग तुच्छ तृण के समान किया । अपने दोनों पुत्रों को संग ले कर वह अनंगसेन मुनिराज के समीप पहुँचा । वहाँ जाकर राजा ने तीनों लोकों का हित करनेवाले उन मुनिराज को नमस्कार किया एवं उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं । उन्होंने बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग

किया एवं मोक्ष प्राप्त करने के लिए दोनों पुत्रों के साथ एकाग्र चित्त से समस्त कर्म रूपी तृण को विदग्ध करने के लिए अग्नि के समान प्रखर संयम धारण किया । तदनन्तर वे तीनों ही मुनिराज स्वर्ग-मोक्ष रूपी लक्ष्मी के चित्त को मोहित करनेवाले द्वादश प्रकार का घोर तपश्चरण करने लगे । मुनिराज अभयघोष ने सम्यग्दर्शन की विशुद्धि धारण की एवं तीर्थंकर पद का बंध करानेवाली षोडश कारण भावनाओं का चिन्तवन किया । पहली भावना सम्यग्दर्शन की विशुद्धि है, दूसरी भावना मन-वचन-काय से मुनियों की विनय है, तीसरी भावना व्रत एवं शीलों का अतिचार-रहित पालन करने की है, चौथी भावना अपना उपयोग सदा ज्ञानमय बनाये रखने का है, संसार एवं शरीर आदि से ग्लानि प्रगट करनेवाली संवेग रूपी भावना पाँचवीं है, शक्ति के अनुसार चारों प्रकार के दान देने की भावना छटठी है, शक्ति के अनुसार बारह प्रकार के तपश्चरण करने की भावना सातवीं है, आठवीं भावना धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान को प्रकट करनेवाली साधु समाधि की है, दश प्रकार के मुनियों की सेवा-सुश्रुषा द्वारा वैयावृत्य करना नवमी भावना है, स्वर्ग-मोक्ष प्रदायक श्री अरहन्त देव की भक्ति करना दसवीं भावना है, आचार्य की भक्ति करना ग्यारहवीं भावना है, मोक्ष मार्ग दिग्दर्शक उपाध्याय की भक्ति करना बारहवीं भावना है, शास्त्रों में भक्ति रखना तेरहवीं भावना है, षट आवश्यकों का पूर्ण रीति से पालन चौदहवीं भावना है, जैन धर्म के माहात्म्य को प्रगट करनेवाली मार्ग-प्रभावना पन्द्रहवीं भावना है एवं सब गुणों की खानि के समान साधर्मियों से वात्सल्य रखना सोलहवीं भावना है ॥१५०॥ सम्यग्दर्शन के प्रभाव से बुद्धिमान पुरुषों को तीर्थंकर प्रकृतियों का बन्ध करानेवाली ये उपरोक्त वर्णित सोलह कारण भावनायें हैं । तीर्थंकर जो अब तक हो चुके हैं अथवा जो अभी वर्त्तमान में हैं एवं जो आगे भविष्य में होंगे, वे सब इन्हीं भावनाओं का चिन्तवन कर ही हुए थे, हुए हैं एवं इसी प्रकार आगे होंगे । यदि केवल सम्यग्दर्शन की विशुद्धि ही प्राप्त हो जाये, तो बलवती भावना तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कराती है । सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के बिना मनुष्यों को कभी भी तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध नहीं होता । अल्प शक्तिवाला जीव भी सम्यग्दर्शन से सुशोभित होकर इन भावनाओं के प्रभाव से तीर्थंकर हो जाता है एवं सब कर्मों से रहित होकर सिद्ध पद प्राप्त करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं । इसलिये चारों प्रकार के संघ को मोक्ष रूपी रमणी प्राप्त करने के लिए उसकी सखी के समान इन भावनाओं का चिन्तवन प्रतिदिन करना चाहिये । अभयघोष मुनिराज ने एकाग्रचित्त से

श्री शांतिनाथ पुराण

सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के साथ-साथ सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर नामकर्म (प्रकृति) का बन्ध कर किया। उन्होंने अपनी शक्ति को प्रगट कर जीवन पर्यन्त विधिपूर्वक उत्तम संयम का पालन किया ॥१६०॥ आयु के अन्त समय में चारों प्रकार के आहार का त्याग किया, संन्यास धारण किया, चारों पवित्र आराधनाओं का आराधन किया, बिना किसी संकल्प-विकल्प के अपना चित्त पंच-परमेष्ठी के चरण कमलों में लगाया एवं सर्वप्रकारेण प्रयत्न के संग समाधिपूर्वक प्राणों का त्याग कर असंख्यात सुखों के सागर 'अच्युत' नाम के सोलहवें शुभ स्वर्ग में वे तीनों ही तपश्चरण के प्रभाव से महान ऋद्धि के धारी देव हुए। वहाँ पर धर्म के प्रभाव से उन्होंने अपनी देवियों के संग बाईस सागर पर्यंत उपमा रहित स्वर्ग के अपार सुख प्रदायक उत्तम भोगों का आनन्द लिया एवं तदुपरान्त शेष पुण्य कर्म के उदय से आयु के अन्त में वहाँ से च्युत होकर तुम दोनों यहाँ राजपुत्र के रूप में उत्पन्न हुए हो।' इस प्रकार मुनिराज के वचनों को सुन कर दोनों को बहुत सन्तोष हुआ एवं देवों के द्वारा भी पूज्य उन मुनिराज को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर पुनः जिज्ञासा करने लगे-'हे प्रभो ! हमारे पूर्व जन्म के पिता अभयघोष कहाँ उत्पन्न हुए हैं ? कृपा कर यह भी बतला दीजिए।' इसके उत्तर में शान्त परिणामों को धारण करनेवाले वे मुनिराज अनुग्रह कर उन दोनों की समग्र शंकाओं का निवारण करने के लिए मधुर वचन में कहने लगे-'हे विद्याधरों ! मैं तुम्हारे पिता का तीर्थंकर बननेवाला वृत्तान्त कहता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो। मनुष्य समुदायों से परिपूर्ण इस जम्बूद्वीप में धर्म का स्थान अभूतपूर्व विदेहक्षेत्र है, उसकी पुष्कलावती देश में पुण्डरीकिणी नगरी है ॥१७०॥ उसमें पुण्य कर्म के उदय से हेमांगद नाम का राजा राज्य करता था एवं उसकी रूपवती सुन्दरी रानी का नाम मेघमालिनी था। अभयघोष का जीव सोलहवें स्वर्ग में वचनातीत सुखों का अनुभव कर आयु के अन्त में वहाँ से चर कर हेमांगद-मेघमालिनी के यहाँ तीनों लोकों का हित करनेवाले घनरथ नाम के तीर्थंकर की पर्याय में उत्पन्न हुआ है। इस समय वे राजा घनरथ अपनी रानियों एवं पुत्रों के द्वारा दो कुक्कुटों की युद्ध-क्रीड़ा अवलोकन में तल्लीन हैं।' इन वृत्तान्तों को सुन कर दोनों विद्याधरों ने उन मुनिराज को नमस्कार कर प्रस्थान किया। मेघरथ ने पुनः कहा कि पूर्व जन्म के स्नेह के कारण ही ये दोनों विद्याधर आप के दर्शनों की अभिलाषा से यहाँ आये हैं। इस प्रकार मेघरथ से आद्योपान्त पूर्वजन्मों की समग्र कथा को सुन कर दोनों विद्याधरों ने तीर्थंकर भगवान घनरथ को एवं

राजकुमार मेघरथ को नमस्कार किया, पूर्व जन्म के स्नेह के वशीभूत होकर भक्तिपूर्वक दिव्य वस्त्रआभूषणों से बारम्बार उनकी पूजा एवं स्तुति की । तदनन्तर वे दोनों ही विद्याधर शरीर, भोग एवं संसार से विरक्त हुए तथा संयम धारण करने के लिए गोवर्द्धन मुनिराज के समीप पहुँचे । मन-वचन-काय से मुनिराज को नमस्कार कर एवं परिग्रहों का त्याग कर मुक्ति प्राप्त करने के लिए मोक्ष रूपी चिरस्थायी लक्ष्मी की प्रदायक जिनेश्वरी दीक्षा धारण की । उन दोनों ने अनिन्द्य, घोर, असह्य तपश्चरण किया, शुक्लध्यान रूपी शस्त्र से घातिया कर्म रूपी अनादि शत्रुओं का विनाश कर अनन्त गुणों का समुद्र तथा लोकालोक को प्रकट करनेवाला केवलज्ञान प्राप्त किया । इन्द्रों ने समग्र देवताओं सहित उसी समय आकर उनकी पूजा की ॥१८०॥ अन्त में उन्होंने शुक्लध्यान रूपी अग्नि से शेष कर्म-रूपी ईंधन को विदग्ध किया (जलाया) एवं अन्तर्मुहर्त्त (एक समय) में ही अनन्त सुख के स्थानभूत लोक के शिखर (सिद्धशिला) पर जा विराजान हुए । इधर दोनों कुक्कुट भी पाप-कर्म के उदय से प्राप्त अनेक प्रकार के महा दुःखदायी पूर्व भव की शत्रुता का पूर्ण वृत्तान्त सुनकर अपने-अपने चित्त में ही अपनी निन्दा करने लगे । उन दोनों ने भी अनन्त सुखदायक वैराग्य धारण किया, परस्पर की शत्रुता त्यागी एवं जीवन पर्यन्त शुभ अनशन व्रत (उपवास) धारण किया । उन दोनों ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार क्षुधा (भूख) पिपासा (प्यास) आदि परीषहों को सहन किया एवं अपने-अपने हृदय में श्री जिनेन्द्रेव का स्मरण करते हुए धर्म धारणापूर्वक वे रहने लगे । उन्होंने प्रतिदिन के कायक्लेश से देह को दुर्बल कर लिया एवं शुभ ध्यानपूर्वक विधि सहित प्राणों का त्याग किया । धर्म के प्रभाव से वे दोनों ही कुक्कुट मर कर भूतारण्य एवं देवारण्य नामक वनों में क्रमशः ताम्रचूल एवं कनकचूल नामक व्यन्तर (भूत) जाति के देव हुए । दिव्य गुणों से सुशोभित उन दोनों देवों ने अपने-अपने अवधिज्ञान से उसी समय अपने पूर्व भवों की समस्त कथा ज्ञात कर ली एवं परस्पर अपना सम्बन्ध भी जान लिया । वे दोनों ही विचार करने लगे-'कहाँ तो हम माँसभक्षी, निन्द्य, हीन पक्षी थे तथा कहाँ हमें राजकुमार मेघरथ द्वारा जीव दयापालन का सदुपदेश प्राप्त हुआ । इस समय यदि हम वहाँ जाकर उस धर्मात्मा का प्रत्युपकार न करें, तो फिर इस संसार मे हमारे समान कृतघ्न भला अन्य कौन होगा ?' इस प्रकार विचार कर वे दोनों देव वहाँ आए एवं अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेघरथ को प्रणाम किया, दिव्य वस्त्र-माला-आभूषण आदि से उनकी पूजा की ॥१९०॥ उन्होंने उनकी बारम्बार प्रशंसा की

तथा भक्तिपूर्वक कहा-'हे धराधीश ! आप धन्य हैं, श्रेष्ठ ज्ञान तथा गुण से शोभायमान हैं । हे देव ! आप के ही प्रसाद से हम तिर्यन्च योनि को छेद कर अत्यन्त सुखी तथा दिव्य देह के धारक देव हुए हैं । अब हम केवल यही प्रत्युपकार करना चाहते हैं कि आप को मानुषोत्तर पर्वत के भीतर की समग्र रचना (संसार) का दर्शन करवा दें ।' इस प्रकार निवेदन कर वे दोनों देव उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा में भक्तिपूर्वक खड़े रहे । तब कुमार मेघरथ ने उन दोनों की विनय को स्वीकार किया । उनकी सहमति प्राप्त कर दोनों देवों ने अनेक प्रकार की ऋद्धियों से शोभायमान एक विमान बनाया । उन्होंने उस विमान में अन्य श्रेष्ठ व्यक्तियों के संग देवोपम राजकुमार मेघरथ को बैठाया । उन्होंने उस विमान को ज्योतिषी देवों से विभूषित व्योम (आकाश) मार्ग में पहुँचाया, तत्पश्चात् वे दोनों देव राजकुमार मेघरथ को समग्र लोकालोक सविस्तार दिखलाने लगे । उन्होंने कहा-'हे देव ! देखिए, षट (छः) कालों से शोभायमान यह पहला भरतक्षेत्र है तथा यह जघन्य भोगभूमि का सुख देनेवाला हिमवतक्षेत्र है । उसके उपरान्त मध्य भोगभूमि के सुख देनेवाला यह हरिवर्ष क्षेत्र है एवं धर्म, तीर्थंकर, गणधर आदि से संयुक्त (भरा हुआ) यह विदेहक्षेत्र है । जीवों को पात्र दान का फल भोगोपभोग सामग्री को देनेवाला यह पाँचवाँ सम्यकक्षेत्र है एवं यह दश प्रकार के कल्पवृक्षों से सुशोभित हैरण्यवतक्षेत्र है । यह भरत के समान ऐरावतक्षेत्र है-'हे देव ! मेरु सहित सप्त पर्वतों द्वारा विभाजित किये हुए ये सप्त क्षेत्र हैं ॥२००॥ श्री जिनेन्द्र देव के जिनालय से सुशोभित यह हिमवान पर्वत है । यह ऊँचा महाहिमवान पर्वत है एवं यह सुन्दर निषिध पर्वत है । यह दिव्य सुमेरु पर्वत है, जो चतुर्दिक वनों से शोभायमान है, देव भी जिसकी सेवा करते हैं, जो षोडश (सोलह) चैत्यालयों से विभूषित है तथा जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक यहाँ करने से पवित्र है । यह नील पर्वत है, यह रुक्मी है तथा यह शिखरी है-ये छः प्रसिद्ध कुल पर्वत हैं । इनके पूर्व कूट पर भगवान श्री जिनेन्द्र देव के चैत्यालय है । जो अपनी कान्ति से सुशोभित हैं । इधर देखिए, ये समुद्र में मिलन हेतु तीव्र गति से चतुर्दश (चौदह) सुन्दर महानदियाँ हैं, जो द्वार तथा वेदिका से शोभायमान हैं, नित्य हैं, जल से भरी हैं, बहुत चौड़ी हैं, शीतल हैं, दिव्य हैं, इनके दोनों तटों (किनारों) पर वन हैं; ये पद्म, महापद्म आदि सरोवरों से निकली हैं तथा अनेक सहायक नदियाँ आकर इनमें मिलती हैं । गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, महानदी, सुवर्णकूला, रूत्यकूला, रक्ता,

रक्तोदा-ये इन नदियों के नाम हैं । देखिए, ये षोडश (सोलह) सरोवर हैं, जो पद्म पुष्प (कमल) तथा उन पर बने हुए भवनों से शोभायमान हैं । यह महापद्म है, यह पद्म है, यह तिगंच्छ है, यह केशरी है, यह महापुण्डरीक है, यह पुण्डरीक है, यह निषिध है, यह देवकुरु है, यह सूर्य है, यह सुसम है, यह विद्युत्प्रभ है, यह नीलवाक है, यह उत्तर कुरु है, यह चन्द्र है, यह ऐरावत है तथा यह प्रसिद्ध माल्यवान है ॥२१०॥ इनमें से प्रथम उल्लखित षट (छः) सरोवरों पर (सरोवरों में कमलों पर बने हुए भवनों में) श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी-ये छः व्यन्तरी देवियाँ निवास करती (रहती) हैं । ये व्यन्तरी देवियाँ सौधर्म तथा ऐशान इन्द्र की नियोगिनी हैं । शेष (बाकी के) सरोवर में उसी नाम के नागकुमार देव सदैव निवास करते हैं । हे महामित्र ! अब मैं आपको दर्शनीय वक्षार पर्वत दिखलाता हूँ । यह चित्रकूट वक्षार पर्वत है, यह पद्मकूट है, यह नलिन है, यह एकशैल है, यह त्रिकूट है, यह वैश्रवणकूट है, यह अन्जन है, यह आत्मान्जन है, यह शब्दवान् है, यह विकृतवान है, यह आशीविष हैं, यह सुखावह है, यह चन्द्रमाल है, यह सूर्यमाल है, यह नागमाल है, तथा यह देवमाल है-इस प्रकार ये सोलह वक्षार पर्वत हैं । ये वक्षार पर्वत बहुत ऊँचे हैं, क्षेत्रों की सीमा को विभक्त करनेवाले हैं, एक-एक पर्वत पर चार-चार कूट हैं, उनमें से एक-एक कूट पर श्री जिनेन्द्रदेव के मन्दिर हैं । इस प्रकार ये वक्षार पर्वत अत्यन्त मनोहर हैं । ये चार गजदन्त हैं, जो मेरु पर्वत से विदिशाओं की ओर चले गये हैं । मन्धमादन, माल्यवान, विद्युत्प्रभ तथा सौमनस इनके नाम हैं । इनके शिखर पर श्री जिनेन्द्रदेव के अकृत्रिम मन्दिर शोभायमान हैं तथा ये अत्यन्त उत्तम प्रतीत होते हैं । ह्रदा, ह्रदयवन्ती, पकवती, तप्तजला, मत्तजला, मदोन्मत्तजला, क्षीरोदा, सीतोदा, श्रोतवाहिनी, गम्भीरमालिनी, फेनमालिनी, ऊर्मिमालिनी-ये बारह विभगा नदी हैं । ये विदेह के पृथक्-पृथक् क्षेत्रों की सीमाएँ हैं । ये सुन्दर नदियाँ कुण्डों से निकल कर महानदियों में गिरती हैं ॥२२०॥ हे राजन् ! कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा, कच्छकावती, आवर्ता, लांगलावती, पुष्कला, पुष्कलावती, वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सकावती, रम्या, रम्यका, रमणीया, मंगलावती, पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मकावती, शंखनलिनी, कुमुदा, सरिदा, वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकावती, गन्धा, सुगन्धा, गन्धावती, गन्धमालिनी-ये विदेहक्षेत्र के इकत्तीस क्षेत्र हैं । ये चिरस्थायी (सर्वदा बने रहते) हैं, धर्म से विभूषित रहते हैं तथा स्वर्गमोक्ष के निमित्त (कारण) हैं । हे महाभाग ! इधर देखिये, ये धर्मात्मा प्राणियों से भरी हुई, बहुत ही मनोरम तथा

चक्रवर्तियों के निवास करने योग्य इन इकत्तीस देशों की राजधानी हैं-क्षेमा, क्षेमपुरी, अरिष्टा, अरिष्टपुरी, खड्गा, मंजूषा, औषधि, पुण्डरीकिणी, सुसीमा, कुण्डला, अपराजिता, प्रभाकरी, अंगावती, पद्मावती, शुभा, रत्नसंचयपुरी, अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयापुरी, अरजा, अशोका, वीतशोका, विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता, चक्रपुरी, खड्गपुरी, अयोध्या, अवध्या-ये इनके नाम हैं । वक्षार पर्वत, विभंगा, नदी, देश, राजधानी आदि जो उल्लखित किए गये हैं वे सब सीता नदी के उत्तर की ओर मेरु पर्वत से लेकर प्रदक्षिणा-रूप से बताए गये हैं । इनके अतिरिक्त राजकुमार मेघरथ ने भूतारण्य, देवारण्य आदि वन देखे, समुद्र देखे तथा मानुषोत्तर पर्वत के भीतर की अन्य वस्तुएँ भी उन्होंने स्वयं देखीं । इस समस्त दिग्दर्शन से वे परम प्रसन्न हुए ॥२३०॥ उन्होंने उत्तम प्रासुक द्रव्य (सामग्री) लेकर अकृत्रिम चैत्यालयों की पूजा की, भक्तिभाव से बहुविधि स्तुतियों से उनकी विलम्बपूर्वक आराधना की तथा उन्हें नमस्कार किया । इस प्रकार हृदय में भक्ति को धारण करनेवाले उन राजकुमार मेघरथ ने गणधरों की, तीर्थंकरों की तथा मुनियों की पूजा-स्तुति की तथा अनेक प्रकार से पुण्य का उपार्जन किया । इसी प्रकार पैंतालीस लक्ष (लाख) योजन प्रमाण मनुष्य-क्षेत्र का अवलोकन कर तथा तीर्थयात्रा से पुण्य उपार्जन कर राजकुमार मेघरथ अपने नगर को लौट आये । उन दोनों व्यन्तर देवों ने दिव्य आभरण तथा सुन्दर मुक्ता (मोती) भेंट मे अर्पित कर उनकी पूजा की । तत्पश्चात् वे अपने स्थान को लौट गए । जो मनुष्य प्रत्युपकार कर उपकार (कृतज्ञता) रूपी समुद्र से उत्तीर्ण (पार) नहीं होता, वह गन्ध-रहित पुष्प के समान जीवित होता हुआ भी निर्जीव के समान है । जब कुक्कुट के जीव तक इस प्रकार उपकार को मानते हैं, तब फिर मनुष्य अपने स्वार्थ-संसार में क्यों निमग्न रहता है ? यदि वह दूसरों को उपकार नहीं कर सकता, तो वह अवश्य ही दुष्ट है ॥२४०॥ अथानन्तर- किसी दिन काल-लब्धि से प्रेरित हुए वे बुद्धिमान राजा घनरथ अपने चित्त में देहादि के विषय में इस प्रकार विचार करने लगे-'देखो ! यह जीव इस काया को इष्ट मान कर इसमें निवास करता है जब कि ये भी विष्ठा का आगार (घर) है तथा अत्यन्त घृणास्पद है । इस तथ्य को यह जीव नहीं जानता है, यह कितने अतिशय सन्ताप का विषय है । देखो, अत्यन्त घृणा करने योग्य, निन्द्य, शुक्र-शोणित से उत्पन्न हुआ, सप्त धातुओं से निमित्त तथा समस्त अशुद्ध द्रव्यों का स्थान कहाँ तो यह 'काया' तथा तीन लोक के नाथ, सर्वज्ञ सुख की खानि, पवित्र, ज्ञानी, पूज्य, शुद्ध तथा कर्म रूपी शत्रुओं

का विनाश करनेवाली कहाँ यह 'आत्मा' ? ज्ञानी पुरुष के काया तथा आत्मा इन दोनों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? यह सम्बन्ध तो केवल कर्मों का किया हुआ है, क्योंकि ज्ञानी पुरुष तो अपनी उत्कृष्ट आत्मा को अपनी काया से पृथक् समझता है । जिस प्रकार किट्टिकाली को जला कर उससे शुद्ध सुवर्ण अलग कर लिया जाता है, उसी प्रकार कर्म-रूपी काष्ठ से भरे हुए तथा अशुभ कर्मों से उत्पन्न हुए इस काया-रूपी गृह को ध्यान-रूपी अग्नि से विदग्ध कर इस काया से ही पवित्र आत्मा को अलग ग्रहण कर लिया जाता है । फिर यह जीव समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से सर्वज्ञ होकर आत्मा का कल्याण करनेवाले अत्यन्त सुख से भरे हुए नित्य तथा निरामय (रोग आदि दोषों से रहित) मोक्ष में जा कर विराजमान होता है । इसलिये जब तक काया में जीवों की ममता (ममत्व बुद्धि) बनी रहती है, तब तक वह काया भव-भव में प्राप्त होती रहती है । इसलिये चतुर पुरुषों को यह ममत्व बुद्धि अवश्य त्याग देनी चाहिये । इसलिये अपनी आत्मा का हित चाहनेवाले पुरुष दुःखों के निमित्त (कारण) तथा रोग-क्लेश उत्पन्न करनेवाली इस काया से क्या प्रयोजन सिद्ध कर सकते हैं ? जो धीर-वीर पुरुष मनुष्य देह प्राप्त कर भी शारीरिक सुख त्याग देते हैं तथा तपश्चरण से अपनी आत्मा का हित साधन करते हैं, उन्हीं का देह धारण करना सफल समझना चाहिये ॥२५०॥ जिस प्रकार ईंधन से अग्नि धधकती ही है, बुझती नहीं; उसी प्रकार जो मनुष्य भोगों से इस देह का लालन पालन करते हैं, उन्हें कभी सन्तोष नहीं हो सकता । उनकी तृष्णा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाती है । इसलिये अनेक प्रकार के भोगों से तथा भोगोपभोग की सामग्रियों से क्या लाभ प्राप्त हो सकता है ? क्योंकि इन भोगों से सुख प्रदायक सन्तोष कभी प्राप्त नहीं हो सकता है । ये भोग विनश्वर हैं, सर्प के फण के समान दुःखदायी हैं, इनसे कभी तृप्ति नहीं होती । ये काया की विडम्बना करनेवाले हैं तथा दुःख से उत्पन्न होनेवाले हैं । इसलिये ऐसा कौन बुद्धिमान प्राणी है, जो इनका सेवन करेगा ? जो मनुष्य काम (मदन) ज्वर से सन्तप्त होकर उसकी शान्ति के लिए रमणी रूपी औषधि की अभिलाषा करते हैं, वे तैल के प्रयोग से अग्नि की लौ को रोकना चाहते हैं । यह काम ज्वर ब्रह्मचर्य रूपी औषधि से ही नष्ट होता है, इसलिये मनुष्यों को ब्रह्म पद (सिद्ध पद) प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य का ही पालन करना चाहिये । मनुष्यों का जीवन (आयु या आयु कर्म के निषेक) संख्यात्मक है तथा वह अंजुरी (हथेली) में रखे हुए जल के समान प्रतिक्षण न्यून होता रहता है, फिर भला ऐसा बुद्धिमान मनुष्य

कौन है, जो दीक्षा धारण करने में आत्मा का हित करने में तथा धर्मपालन करने में विलम्ब करे-क्योंकि मृत्यु कब आयेगी, यह तो किसी को भी ज्ञात नहीं है । ये भ्राता-बान्धव सब बन्धन के समान हैं, चन्चल सम्पदा विपत्ति के समान है, राज्यसत्ता पाप की खानि है तथा विषय जाल में फँसानेवाली नारियाँ पाप उत्पन्न करनेवाली हैं । ये विषय भोग विष के समान हैं, भोग रोग के समान हैं तथा मनुष्यों का जीवन प्रातःकाल की दूब पर लगी हुई ओस की बून्द के समान शीघ्र ही विनष्ट होनेवाला है । यदि ऐसा नहीं होता, तो तीर्थंकर आदि श्रेष्ठ व्यक्ति गृहत्याग कर तपश्चरण करने के लिए वनगमन क्यों करते ?' ॥२६०॥ घनरथ तीर्थंकर अपने हृदय में इस प्रकार चिन्तवन कर गृह-निवास आदि समस्त सांसारिक पदार्थों से विरक्त हुए एवं जब वह दीक्षा लेने के लिए प्रस्तुत हुए, तब उसी समय लौकान्तिक देव अपने अवधि ज्ञान से तीर्थंकर की दीक्षा का समय आसन्न ज्ञात कर अपनी अभिलषित प्रार्थना करने के लिए यथाशीघ्र स्वर्ग से आए । उन्होंने सर्वप्रथम मस्तक नवा कर तीर्थंकर को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया एवं तत्पश्चात् अपनी बुद्धि के अनुसार अत्यन्त भक्तिभाव से सार्थक स्तुति करने लगे-'हे देव ! आप जगत् के स्वामी हैं। हे नाथ ! आप तीनों लोकों का हित करनेवाले हैं । आप समस्त गुणों के स्थान हैं । जिनका कोई आश्रय नहीं है, आप उनके भ्राता-बन्धु हैं । आप पूज्यों के लिए भी महापूज्य हैं, नमस्कार करने योग्यों द्वारा भी नमस्कार करते योग्य हैं, स्तुति करने योग्यों के लिए भी स्तुति करने योग्य हैं एवं सेवा करने योग्यों के लिए भी सेवा करने योग्य हैं । आप देवों में महादेव हैं, मुनियों में महामुनि हैं, गुरुओं में महागुरु हैं एवं मान्य जीवों में जगत् मान्य हैं । हे नाथ ! आप विज्ञों मे महाविज्ञ हैं, ज्ञानियों में प्रखर ज्ञानी हैं बुद्धिमानों में महाबुद्धिमान हैं एवं व्रतियों में उत्तम व्रती हैं । आप धर्मात्माओं में महाधर्मात्मा हैं, तपस्वियों में महातपस्वी हैं, पवित्रों में महापवित्र हैं एवं धीर-वीर में महा धीर-वीर हैं । आप तीनों लोकों के स्वामियों के स्वामी हैं, चक्रवर्तियों के भी चक्रवर्ती हैं, सहनशीलों में भी सहनशील हैं एवं केवली मुनिराजों में भी परम श्री जिनेन्द्र हैं । विजेताओं में सबसे उत्तम विजेता हैं, विरागियों में परम विरागी हैं, रक्षकों में महारक्षक हैं एवं ईश्वरों में महेश्वर है ॥२७०॥ जिस प्रकार हम भक्ति के वशीभूत होकर ही सूर्य को दीपक दिखाते हैं, समुद्र को जलान्जलि देते हैं एवं वनस्पति को पुष्प चढ़ाते हैं; हमारा आप को बोध कराना भी ठीक उसी प्रकार भक्ति से प्रेरित है । आप तीन ज्ञानरूपी (मति-श्रुति-अवधि) नेत्रों से समस्त हेय-उपादेय

को समझाते हैं, गुण-दोषों को पहचानते हैं एवं धर्म-मोक्ष तथा संसार को जानते हैं । आप अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित हैं, अनन्त गुणों के स्वामी हैं, मुक्तिरूपी रमणी के पति हैं, जगत् के बांधव हैं एवं चराचर के स्वामी हैं; इसलिये मन-वचन-काय से आप को नमस्कार है ।' तदुपरान्त भक्तिपूर्वक उन्होंने उन तीर्थंकर का स्तवन किया, कल्पवृक्ष के पुष्पों से तथा दिव्य गन्धादि से उनकी पूजा की, मस्तक नवा कर उनको नमस्कार किया, अपने नियोग (कर्तव्य) का पालन किया एवं इस प्रकार अपार पुण्य उपार्जन कर वे व्योम मार्ग से अपने स्थान को लौट गये । इन्द्रों के संग-संग चतुर्निकाय के देव भी तीर्थंकर के दीक्षा कल्याणक को ज्ञातकर अपने-अपने चिह्नों से युक्त होकर भक्तिभाव से आये । दीक्षा धारण करने के पूर्व देवों ने विपुल विभूति से घनरथ तीर्थंकर का अभिषेक किया तथा दिव्य आभरणादिकों से उनकी पूजा की । तदनन्तर तीर्थंकर की मेघरथ का राज्याभिषेक किया एवं अपनी विभूति के संग-संग बुद्धिमानों के लिए त्याग करने योग्य राज्य भी पुत्र को सौंप दिया । तदुपरान्त वे तीर्थंकर भगवान अनेक प्रकार की शोभा से अलंकृत दिव्य पालकी में विराजमान होकर समवेत समस्त देवों के संग वन में गए । वहाँ जाकर उन्हें मन-वचन-काय की शुद्धि एवं सिद्ध भगवान की साक्षीपूर्वक वस्त्रादिक बाह्य परिग्रहों का त्याग किया एवं मिथ्यात्व आदि अन्तरंग परिग्रहों का भी त्याग किया ॥२८०॥ उन्होंने केशों का लोंच पन्चमुष्टियों में किया एवं इन्द्रों के द्वारा की गई अर्चना से पूज्य होकर उत्तम संयम धारण किया । वे जितेन्द्रिय बुद्धिमान भगवान मन-वचन-काय की शुद्धि धारण करने लगे एवं क्षमा द्वारा कषाय रूपी विष का नाश करने लगे । शुद्ध हृदय को धारण करनेवाले धीर-वीर तीर्थंकर भगवान ने शुक्ललेश्या, महाध्यान एवं मौनव्रत धारण किया तथा चारों ज्ञानों से युक्त होकर तपश्चरण करना प्रारम्भ किया । उन्होंने कभी तो आत्मा से प्रकट हुआ ध्यान धारण किया, कभी तत्वों का चिन्तवन किया, कभी व्युत्सर्ग धारण किया एवं कभी दृढ़ वज्रासन धारण किया । उन्होंने क्षपकश्रेणी का आश्रय लेकर दूसरे शुक्लध्यान रूपी वज्र से अशुभ घातिया कर्म रूपी पर्वतों को विध्वस्त कर डाला एवं शीघ्र उसी समय समस्त तत्वों को प्रकाशित करनेवाला , तीनों कालों की पर्यायों को जाननेवाला, शाश्वत रहनेवाला एवं मुक्ति-रूपी नारी को वश में करनेवाला केवलज्ञान प्राप्त किया । तदनन्तर उन्हें केवलज्ञान प्राप्त होने के प्रभाव से इन्द्रादिक समस्त देवों के आसन कम्पायमान हुए । अवधिज्ञान से इस घटना को ज्ञात कर वे समवेत वहाँ आए । उन्होंने आते ही तीर्थंकर

भगवान की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, उन्हें नमस्कार किया, उन्हें समवशरण में विराजमान किया एवं प्रसन्न होकर मन-वचन-काय की भक्तिपूर्वक उत्तम सामग्री से उनकी पूजा की । तदनन्तर श्री अरहन्तदेव भव्य जीवों को धर्मोपदेश देने के लिए देवों एवं चतुर्विध संघ के संग विहार करने लगे । अथानन्तर-राजा मेघरथ नवीन राज्य लक्ष्मी प्राप्त कर तथा चित्त में धर्म को धारण कर निरन्तर भोग भोगने लगे ॥२९०॥ राजा मेघरथ सत्पात्रों के लिए भक्तिपूर्वक सदैव स्वर्ग मोक्ष प्रदायक तथा गुणों की खानि चार प्रकार का दान देने लगे । श्री जिन मन्दिर में जा कर वे अनेक प्रकार से समस्त दुःखों का निवारण करनेवाली, समस्त प्रकार के सुख देनेवाली एवं विघ्नों का नाश करनेवाली भगवत्-पूजा करने लगे । इस प्रकार धर्म के प्रभाव से समस्त दुःखों से रहित राजा मेघरथ शत्रु रहित विशाल एवं शक्तिशाली राज्य को प्राप्त कर भ्राता-बान्धवों के संग तथा सुन्दरी रानियों के संग सदैव विविध सुख भोग का अनुभव करने लगे । समस्त गुणों का समुद्र, स्वर्ग की सीढ़ी, सर्व सुखों का निधान एवं मुक्ति-रूपी रमणी प्रदान करनेवाले सम्यग्दर्शन का राजा मेघरथ पालन करने लगे, जो समस्त दोषों से रहित, पूज्य, अष्ट अंग सहित, उपमा रहित एवं जगत में सार रूप है । यद्यपि मेघरथ तीनों ज्ञानों से विभूषित थे तथापि वैराग्य प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन श्रीगुरुदेव के मुख से श्रेष्ठ-धर्म के स्थान, इन्द्र के द्वारा पूज्य, अशुभ कर्मों का नाश करनेवाले, मोक्ष मार्ग का दिग्दर्शन करने के लिए दीपक के समान अज्ञान रूपी घोर अंधकार का नाश करनेवाले तथा श्री जिनेन्द्रदेव के मुखारविन्द से वर्णित सारभूत शास्त्रों को सुनते थे । राजा मेघरथ स्वर्ग-मोक्ष प्रदायक गृहस्थों के द्वारा सेवन करने योग्य सारभूत श्रेष्ठ पुण्य के द्वारा अतिशय सुख देनेवाले, निर्मल शुद्ध स्वर्ग की विभूति देनेवाले तथा पाप कर्मों का प्रत्यक्ष विनाश करनेवाले द्वादश (बारह) प्रकार के व्रतों को अतिचार रहित सम्यग्दर्शन सहित पालन करते थे । महाराज मेघरथ निर्मल मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिए पर्व के दिनों में गृहस्थी के समस्त कार्यों को त्याग कर अशुभ कर्मों का निवारण करनेवाले तथा सुख उत्पन्न करनेवाले प्रोषधोपवास सर्वदा करते थे । इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिए राजा मेघरथ उत्तम सामग्री से देव-शास्त्र-गुरु की भक्तिपूर्वक मनोयोग से पूजा करते थे, समस्त कर्तव्यों का पालन करनेवाले धर्मात्माओं की पूजा करते थे तथा उनकी वन्दना करते थे । राजा मेघरथ मोक्ष सुख प्राप्त करने की अभिलाषा से आग्रहपूर्वक व्रत-दान आदि के द्वारा समस्त सुखों के सागर तथा दोष-भय-शोक आदि समस्त दुःखों का

श्री शांतिनाथ पुराण

निवारण करनेवाले श्री जिनेन्द्र देव द्वारा उपदेशित जैन धर्म का सर्वदा पालन करते थे । बहुत अधिक कहने से क्या लाभ है ? भव्य जीवों को इतने में ही समझ लेना चाहिये कि धर्म उपार्जन करने से राजा मेघरथ को धर्म-अर्थ-काम अर्थात् तीनों पुरुषार्थों की प्रदाता तथा पुण्य उपार्जन करनेवाली तीनों लोक सम्बन्धी देवों एवं मनुष्यों की विभूतियाँ प्राप्त हुई थीं । यह सब समझ कर बुद्धिमानों को स्वर्ग-मोक्ष को वश में करने वाले तथा सर्वप्रकारेण सुख प्रदायक जैन धर्म का पालन सदैव प्रयत्नपूर्वक करते रहना चाहिये ॥३००॥ जो श्री शान्तिनाथ पंचम चक्रवर्ती थे, अत्यन्त मनोज्ञ थे, जिन्हें इन्द्र-नरेन्द्र तक नमस्कार करते थे, जो कामदेव थे एवं रूप के भण्डार थे, लावण्य के समुद्र थे, तीर्थंकर थे, समस्त गुणों से युक्त थे, तीनों लोकों में पूज्य थे, ऐसे तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ भगवान समस्त धर्मसंघ को तथा मुझे भी शान्ति प्रदान करें ।

इस प्रकार श्री शान्तिनाथ पुराण में राजा मेघरथ के भव का वर्णन करनेवाला यह दशवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥१०॥

ग्यारहवाँ अधिकार

मैं शान्तिनाथ भगवान के उत्तम गुणों को प्राप्त करने के लिए संसार की समस्त अशान्ति का निवारण करने वाले तथा शान्तिरूपी गुण के समुद्र उन्हीं श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर को मस्तक नवा नमस्कार करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर-किसी दिन राजा मेघरथ अपनी रानियों के संग क्रीड़ा करने के लिए वृक्षों से परिपूर्ण देवरमण नामक उद्यान में गए । वहाँ उन्होंने उस वन का अवलोकन किया, विविध प्रकार की आमोद क्रीड़ाएँ की तथा अपनी रानियों के साथ चन्द्रकान्त शिला पर विराजमान हो गए । उसी समय विमान में अपनी विद्याधरी के संग बैठा हुआ एक विद्याधर उनके ऊपर से जा रहा था, परन्तु उनके ऊपर से जाने के कारण वह विमान वहीं पर रुक गया तथा किसी विशाल शिला के समान भारी हो गया । विमान को रुका हुआ देख कर वह विद्याधर समस्त दिशाओं में अन्वेषण करने लगा, तो नीचे की ओर राजा मेघरथ से शोभायमान किरणों से व्याप्त एक शिला देखी । यह देखते ही वह उस शिला के नीचे घुस गया तथा क्रोधपूर्वक अपनी विद्या के प्रभाव से अपने हाथों से ही बलपूर्वक उसे उठाने का प्रयत्न करने लगा । यह

देख कर राजा मेघरथ ने उस शिला को अपने पैर के अंगूठे से दबा कर उस विद्याधर को इतना त्रस्त किया कि वह अत्यन्त पीड़ित हुआ। उनके पैर के दबाब से उस शिला का बोझ विद्याधर पर इतना अधिक पड़ा कि वह उसे सह नहीं सका, इसलिए कातर होकर दीन मनुष्य के समान करुणा भरे शब्दों में विलाप करने लगा। उसके क्रंदन की करुण ध्वनि सुनकर उसकी विद्याधरी विमान से भूमि पर उतरी, शोक से उसका मुख शुष्क हो गया था तथा वह महाराज मेघरथ से कहने लगी-'हे नाथ ! मुझ पर दया कीजिए। हे प्रभो ! मेरे पति को मुक्त कर दीजिए, मुझे पति के जीवन की प्राणभिक्षा दीजिए, अन्यथा मैं तो अनाथ हो जाऊँगी' ॥१०॥ विद्याधरी की यह प्रार्थना सुनकर धर्मात्मा राजा मेघरथ ने कृपापूर्वक उसी समय शिला से अपना पैर उठा लिया। यह देख कर उनकी रानी प्रियमित्रा जिज्ञासा प्रकट करने लगी-'हे नाथ ! यह विद्याधर कौन है एवं इसने ऐसा क्यों किया ?' तब राजा मेघरथ कहने लगे-'हे आर्ये ! तू अपना चित्त एकाग्रकर सुन। क्रोध एवं अहंकार से उत्पन्न होनेवाली इस विद्याधर की कथा मैं कहता हूँ। इसी मनोहर विजयार्ध पर्वत पर अलकापुरी नगरी में राजा विद्युद्दंष्ट्र राज्य करता था, उसकी सुन्दरी रानी का नाम अनिलवेगा था। यह उन दोनों का सिंहरथ नाम का पुत्र है। आज यह केवलज्ञान से विभूषित होनेवाले श्री मतिवाहन तीर्थंकर की वन्दना करके लौटा है। आकाश-मार्ग से मेरे ऊपर से होकर जा रहा था, परन्तु किसी कारण से आकाश में ही इसका विमान स्तम्भित हो (रुक) गया।

विमान को स्तम्भित हुआ पाकर वह सब ओर निरीक्षण करने लगा। मुझे देखकर एवं इसका कारण मान कर यह अभिमान एवं क्रोध से इस शिला के नीचे घुस गया एवं इस शिला-सहित मुझे उठाने का प्रयत्न करने लगा। तब मैंने इस दर्पोन्मत्त को अपने अंगुष्ठ से नीचे दबाया, जिससे अब यह त्राहि-त्राहि कर रहा है। इसे मुक्त कराने के लिए इसकी विद्याधरी यहाँ आई है।' इस प्रकार राजा मेघरथ ने उस विद्याधर की कथा सुनायी। यह सुनकर प्रियमित्रा ने पुनः पूछा-'इसके क्रोध का कारण यही है या कुछ अन्य ? कृपया यह भी स्पष्ट करें।' इसके उत्तर में राजा मेघरथ कहने लगे-'इसके तात्कालिक क्रोध का कारण केवल यही है, अन्य कुछ नहीं। मैं इस विद्याधर के पूर्व भव की कथा कहता हूँ, सो ध्यान लगा कर सुनो ॥२०॥ धातकीखण्ड द्वीप में पूर्व मेरु की उत्तर दिशा की ओर मनोज्ञ ऐरावत क्षेत्र है। उसमें एक शंखपुर नगर है, जो जैन धर्म के उत्सवों से शोभायमान है। उसमें पुण्य कर्म के उदय से शुद्ध हृदयवाला

श्री शांतिनाथ पुराण

राजा राजगुप्त राज्य करता था । उसकी सदाचारिणी रानी का नाम शंखिका था । किसी दिन वे दोनों मुनिराज की वन्दना करने के लिए शंख नामक पर्वत पर गए थे । वहाँ पर सर्वगुप्तनाम के मुनि विराजमान थे । उन्होंने उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, नमस्कार किया एवं धर्म श्रवण करने की अभिलाषा से भक्तिपूर्वक उनके चरणों के समीप बैठ गए । मुनिराज ने मोक्ष प्राप्त करने के लिए अनेक सुखों का सागर मुनि-श्रावक का अहिंसा लक्षण रूपी धर्म का निरूपण किया । उन्होंने उन दोनों के हितार्थ अक्षय सुख देनेवाली एवं श्री जिनेन्द्र पद को प्रदान करनेवाली जिन गुण सम्पति नामक उपवास की कथा कही । उस व्रत का नाम सुन कर राजा राजगुप्त ने मुनिराज से पूछा-'हे प्रभो ! यह व्रत किस प्रकार से किया जाता है, आप कृपा कर विधि भी कहिये ।' मुनिराज ने कहा-'हे राजन् ! सुनो, मैं जिनगुण सम्पत्ति नामक इस शुभ व्रत की सविस्तार व्याख्या कहता हूँ । जो श्री जिनेन्द्रदेव की विभूति प्रदायक इस व्रत का मन-वचन-काय की शुद्धता से पालन करता है, वह मनुष्यों एवं देवों के सुख भोग कर अनुक्रम से मोक्ष पद प्राप्त करता है । सर्वप्रथम जिनालय में विराट उत्सव पूर्वक भगवान का अभिषेक करना चाहिये एवं तदुपरान्त भव्य जीवों को विधिपूर्वक उसका विधान सम्पन्न करना चाहिये ॥३०॥ तीर्थंकर पद प्रदायक षोडश (सोलह) कारण भावनाओं को उद्देश्य कर बुद्धिमानों को षोडश (सोलह) उपवास करना चाहिये, तदुपरान्त पंच महाकल्याणकों को उद्देश्य कर भक्तिपूर्वक सब कल्याणों को करनेवाले पाँच प्रोषधोपवास करना चाहिये, फिर अष्ट प्रातिहार्यों का निमित्त लेकर भक्तिपूर्वक प्रातिहार्यादिक की विभूति प्रदायक आठ उपवास करना चाहिये । फिर श्री जिनेन्द्रदेव की विभूति प्रदायक चौंतीस अतिशयों से उद्देश्य कर भावपूर्वक चौंतीस उपवास करना चाहिये । इस प्रकार भव्य जीवों को सुख प्रदाता एवं कर्मों का विनाश करनेवाले सब प्रोषधोपवासों की संख्या त्रेसठ होती है । इस प्रकार व्रतों के पूर्ण होने पर बुद्धिमानों को अपनी शक्ति के अनुसार भगवान का महाअभिषेक कर एवं धर्मोपकरण चढ़ा कर व्रत का उद्यापन करना चाहिये । जिनके पास पर्याप्त धन नहीं है, अथवा किसी अन्य कारण से जिनमें उद्यापन करने की शक्ति नहीं है, उनको भक्तिपूर्वक इस उत्तम व्रत का विधान दूना करना चाहिए एवं दूने प्रोषधोपवास करने चाहिये ।' राजा राजगुप्त ने अपनी रानी के संग एकाग्रचित्त होकर विधिपूर्वक उस व्रत का पालन किया एवं अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार उसका उद्यापन किया । मुनिराज की वन्दना करने के उपरान्त राजा ने उन्हें

श्री शांतिनाथ पुराण

नमस्कार किया, श्रावक के व्रत स्वीकार किए एवं भक्तिपूर्वक व्रतों को धारण कर प्रसन्न वदन अपने राजमहल लौट गया। किसी दिन द्वारापेक्षण करते समय राजा राजगुप्त ने स्वयं आगत गुणों के आकर (संग्रह) धृतिषेण मुनि के दर्शन किए, भक्तिपूर्वक उनकी पड़गाहना की तथा विधिपूर्वक सुख का सागर, तृप्तिदायक मिष्ट, रसीला तथा सारभूत शुद्ध आहार उन्हें प्रदान किया ॥४०॥ तदुपलक्ष में अर्जित पुण्य कर्म के उदय से उसी समय उसके प्रांगण में रत्नवृष्टि आदि पन्चाश्चर्य प्रकट हुए। ठीक ही है। उत्तम दान से भला क्या प्राप्त नहीं होता ? अर्थात् सब कुछ प्राप्त होता है। किसी दिन राजा राजगुप्त को ज्ञात हुआ कि उसकी दुर्लभ आयु अब स्वल्प (थोड़ी) ही शेष रह गई है, तब वह प्रसन्न हो समाधिगुप्त मुनिराज के निकट पहुँचा। मन में वैराग्य धारण करते हुए राजा राजगुप्त ने शीश नवा कर मुनिराज को नमस्कार किया तथा पाप शान्ति हेतु व्रतपूर्वक संन्यास धारण किया। उसने क्षुधा-पिपासा आदि घोर परीषहों को भी सहन किया तथा समाधिपूर्वक धर्मध्यान से प्राणों का परित्याग किया। वह राजा राजगुप्त व्रत-दान तथा संन्यास आदि से अर्जित हुए पुण्य कर्म के उदय से ब्रह्मस्वर्ग में ब्रह्म नाम का इन्द्र हुआ। वहाँ पर वह पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म के उदय से अपनी इन्द्राणी के संग देवलोक की अतुल वैभव लक्ष्मी का उपभोग करने लगा तथा इस प्रकार उसने दश सागर की पूर्ण आयु व्यतीत की। आयु पूर्ण होने पर वहाँ से च्युत हुआ तथा शेष पुण्य कर्म के उदय से विद्याधर कुल में यह सिंहरथ विद्याधर हुआ है। शंखिका का जीव भी संसार में परिभ्रमण कर तपश्चरण के प्रभाव से विमानादिकों से सुशोभित तथा सुख के स्थान देवलोक में जाकर उत्पन्न हुआ। वहाँ से चय कर पुण्य कर्म के उदय से विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी के अवस्वालपुर नगर के राजा इन्द्रकेतु की रानी सुप्रभावती के गर्भ से मदनवेगा नाम की सती तथा सुलक्षणोंवाली पुत्री हुई है" ॥५०॥ इस प्रकार अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुन कर वह विद्याधर परम सन्तुष्ट हुआ। राजा मेघरथ को उसने नमस्कार किया, उत्तम द्रव्यों से उनकी पूजा की तथा गृह-भोग-देह आदि से विरक्त होकर दीक्षा लेने की अभिलाषा से अपनी विद्याधरी (मदनवेगा) के संग अपने नगर को लौट गया। उसने वहाँ पहुँचकर मोक्षाभिलाषी भव्य प्राणियों के लिए त्याग करने योग्य राज्य का कठिन भार अपने सुवर्णतिलक नामक पुत्र को सौंप दिया तथा चारित्र से उत्पन्न हुआ उत्तम सहज भार ग्रहण करने के लिए मुक्ति-रूपी-रमणी के पति एवं जगत् के स्वामी घनरथ तीर्थंकर के समीप पहुँचा। वहाँ पर जाकर सिंहरथ

श्री शांतिनाथ पुराण

विद्याधर ने मस्तक नवाकर उन तीर्थंकर की वन्दना की एवं मोक्ष प्राप्त करने के लिए अनेक राजाओं के संग प्रसन्नतापूर्वक जिनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली । विद्याधरी मदनवेगा ने भी गुणों की स्थानभूत प्रियमित्रा नाम की अर्जिका के समीप जाकर दीक्षा धारण की तथा समस्त प्रकार का तपश्चरण करने लगी । देखो, काल-लब्धि प्राप्त कर कभी-कभी चारित्र आदि को धारण करने में भव्य जीवों का क्रोध भी पाप कर्मों के निवारण का कारण माना जाता है । तदनन्तर अखण्ड महिमा को धारण करनेवाले बुद्धिमान राजा मेघरथ भी अपनी रानियों के साथ निर्विघ्न रीति से अपने राजमहल में पहुँचे । अथानन्तर-एक दिन राजा मेघरथ उत्तम प्रासुक द्रव्य से पाप का विनाश करनेवाली नन्दीश्वर द्वीप पूजा कर उपवास किए हुए विराजमान थे । उस दिन उन्होंने गृहस्थी संबंधी समस्त आरम्भ आदि त्याग दिया था । अपने पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त राज्य के महाप्रताप से धर्म, अर्थ, काम-तीनों पुरुषार्थों की सिद्धि होने से उनके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो गए थे । तत्वों की यथार्थ श्रद्धा से वे सुशोभित थे, शास्त्रों के परगामी थे । व्रत-शील आदि गुणों से वे विभूषित थे, श्रेष्ठ धर्म का पालन करते थे । करुणादान आदि करने में वे तत्पर थे । वे भव्यों के लिए सूर्य के समान थे । उनके ज्ञान रूपी नेत्र सदैव उन्मुक्त रहते थे । पुत्र, भ्राता, पत्नी आदि परिवार के समस्त सदस्य उनकी सेवा करते थे तथा वे सदैव जैन धर्म का उपदेश दिया करते थे । जिस समय वे उपवास धारण कर विराजमान थे तथा परिवार के समस्त सदस्य उनके समीप बैठे हुए थे, उसी समय भय से घबराया तथा थर-थर काँपता हुआ एक कबूतर प्राणरक्षा की आशा से उनके निकट आया ॥६०॥ उसके पीछे ही उसके माँस का लोलुपी, महाक्रूर एवं दुष्ट एक वृद्ध गीध पक्षी आया । वह गीध महाराज मेघरथ के सामने खड़ा होकर दीन स्वर में याचना करने लगा-'हे देव ! मैं अत्यन्त दुर्बल हूँ तथा क्षुधा की तीव्र ज्वाला से मेरी काया विदग्ध हो रही है । यह कबूतर जो आप की शरण आया है, मेरा भक्ष्य है । आप इसे मुझे दे दीजिए, क्योंकि आप दानवीर हैं । यदि आप इसे मुझे न देंगे तो बस मुझे यहीं पर मृत समझिए ।' इस प्रकार दीन वचन कह कर वह क्षुधित गीध उत्तर की प्रत्याशा में खड़ा हो गया । गीध पक्षी की याचना सुनकर राजा मेघरथ का अनुज दृढ़रथ कहने लगा-'हे पूज्य ! इस गीध की उक्ति सुन कर मुझे घोर आश्चर्य हुआ है । यह इस प्रकार किस कारण से कहता है ? पूर्व भव की किसी शत्रुता के कारण या केवल जन्मजात जाति-शत्रुता के कारण ? कृपया आप यह भेद समझाइए ।' राजा मेघरथ कहने

लगे-'हे भ्राता ! ध्यानपूर्वक सुनो । मैं इनके पूर्व जन्म की शत्रुता से उत्पन्न होनेवाली इनकी इति कथा कहता हूँ ॥७०॥ इसी जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत की उत्तर दिशा में ऐरावत क्षेत्र है । उसके मनोहर पद्मिनीखेट नामक नगर में सागरसेन नाम का एक वणिक रहता था । उसकी पत्नी का नाम अमितमती था । उनके दो पुत्र थे-धनमित्र तथा नन्दिषेण उनका नाम था । वे बड़े लोभी थे, धन के लालची थे, बड़े क्रूर थे, सदैव द्रव्य प्राप्ति की अभिलाषा रखते थे तथा इसलिए सर्वदा आर्तध्यान से पीड़ित रहते थे । एक दिन वे दोनों ही दुष्ट पुत्र धन क लिए परस्पर लड़ने लगे, दोनों ने एक-दूसरे पर प्रहार किए । दोनों ही सांघातिक रूप से आहत हो गए तथा तीव्र पीड़ा से व्याकुल हो कर मर गए । वे दोनों ही आर्तध्यान से मरे थे, दोनों ने आपस में शत्रुता बाँध रक्खी थी; इसलिए मर कर वे दोनों ही दुःखों से त्रस्त ये पक्षी हुए हैं ।' उस गींध के पीछे एक देव को आते हुए देखकर अनुज दृढ़रथ ने प्रश्न किया-'हे अग्रज ! यह देव कौन है एवं यहाँ क्यों आया है ?' उत्तर में राजा मेघरथ कहने लगे-'हे अनुज ! दत्तचित्त होकर सुनो । मैं इसके पूर्व भव की कथा कहता हूँ एवं इसके आने का कारण भी बताता हूँ । कालानन्तर में तुमने विजयार्द्ध पर्वत पर दमितारि के साथ युद्ध करते समय क्रोधपूर्वक राजपुत्र हेमरथ का वध किया था । वह मरकर संसार में परिभ्रमण कर शुभ कर्म के उदय से श्रीजिन चैत्यालयों से सुशोभित कैलाश पर्वत की घाटी में पर्णकान्ता नदी के तट पर निवास करते हुए सोम नामक एक तापस की पत्नी श्रीदत्ता के गर्भ से चन्द्र नाम का पुत्र हुआ था ॥८०॥ कु-शास्त्रों का ज्ञाता तथा कुमार्गगामी वह मूर्ख भोगादिकों की अभिलाषा करता हुआ प्रतिदिन पंचाग्नि तप की साधना करता था । अज्ञानपूर्वक तपस्या कर देहादि का कष्ट सहने के कारण आयु पूर्ण कर वह ज्योतिर्लोक में नीच ज्योतिषी देव हुआ । एक दिन वह देव विनोदपूर्वक चैत्यालयों से सुशोभित तथा महामनोहर ऐशान स्वर्ग के अवलोकनार्थ गया था । वहाँ पर ईशान इन्द्र की सभा में उनके अनुगत देवों ने मेरी प्रशंसा की तथा कहा कि इस समय पृथ्वी पर दान देनेवाला एक मेघरथ ही है । इस समय उसके (मेघरथ) समान अन्य कोई दाता नहीं है, वह (मेघरथ) दान-पुण्य करनेवाला है तथा व्रती है । यह प्रशंसा सुन कर हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न होने के कारण मेरी (मेघरथ की) परीक्षा लेने के लिए वह यहाँ आया है । इसलिये हे अनुज ! अब तू मन लगा कर दानादिक का लक्षण सुन । मैं पात्र दान देने योग्य द्रव्य एवं उसकी विधि आदि कहता हूँ । अनुग्रह या उपकार करने के लिए अपना धन या अन्य कोई पदार्थ

दूसरे को देना दान है । उपकार भी-अपना उपकार एवं दूसरे का उपकार है-दो प्रकार का होता है । दान देने से विशेष पुण्य बंध होता है (जो कि भोगभूमि एवं स्वर्ग का कारण है) तथा इससे जो यश फैलता है, वह अपना उपकार कहलाता है । जिस दान से याचक पात्र के प्राणों की रक्षा होती है । फलस्वरूप वह पात्र धर्मध्यान, व्युत्सर्ग, षट् आवश्यक, तप एवं व्रत का पालन करता है, जिससे उसका चित्त स्थिर रहता है, उसकी क्षुधा का नाश होता है, उसे आरोग्य सुख पहुँचता है एवं वह शास्त्रों का पठन-पाठन करने में समर्थ होता है-यह सब परोपकार कहलाता है ॥९०॥ श्री जिनेन्द्रदेव ने-श्रद्धा, भक्ति, निर्लोभ, शक्ति, ज्ञान, दया, क्षमा-ये सप्त गुण दाता के लिए वर्णित किए हैं । इन गुणों से सुशोभित सम्यग्दृष्टि, व्रती, जिनभक्त एवं सदाचारी दाता संसार में उत्तम गिना जाता है । अब दान में देने योग्य पदार्थ की व्याख्या करते हैं-सद्गृहस्थों को उत्तम पात्रों को आहार-दान देना चाहिये । वह आहार कृतकारित आदि दोषों से रहित होना चाहिये । मनोहर, निर्दोष, प्रासुक, शुभ, पीड़ा न उत्पन्न करनेवाला होना चाहिये । दाता एवं पात्र दोनों के गुणों को बढ़ानेवाला, अनुक्रम से मोक्ष का साधन, पात्र के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि को समुन्नत करने, उद्गमादि दोषों से रहित, प्रासुक, मधुर, तृप्तिदायक तथा अत्यन्त निर्दोष होना चाहिये एवं यह आहार दान विधिपूर्वक दिया जाना चाहिए । इसी प्रकार पात्रों के देह (शरीर) में कोई व्याधि हो, तो उसे ज्ञात कर बुद्धिमानों को हिंसा आदि पाप-कर्मों से रहितप्रस्तुत की गई रोग-क्लेश आदि का उपशम करनेवाली औषधि उन पात्रों को दान में देनी चाहिए । इसी प्रकार ज्ञानी मुनियों के लिए बुद्धिमानों को ज्ञान दान व शास्त्र दान देना चाहिए । वे शास्त्र सर्वज्ञ प्रणीत, पदार्थों के सत्यार्थ स्वरूप का वर्णन करनेवाले, दीपक के सदृश समस्त तत्वों को प्रकाशित करनेवाले, अज्ञान का निवारण करनेवाले, ज्ञान के कारण, धर्म का उपदेश देनेवाले, पूर्वापर विरुद्धता आदि दोषों से रहित एवं गुणों को प्रकट करने के साधन के समान होने चाहिए । चतुर पुरुषों के समस्त जीवों में दया दान करना चाहिए, क्योंकि यह दया दान ही धर्म की जड़ है, गुणों का स्थान है एवं समग्र जीवों का हित करनेवाला है । हे अनुज ! इस संसार में निर्ग्रंथ मुनिराज ही सर्व प्रकारेण परिग्रहों से रहित हैं, रत्नत्रय से विभूषित हैं, समग्र जीवों का हित करनेवाले हैं धीर-वीर हैं लोभ आदि सर्व विकारों से रहित हैं, ज्ञानध्यान में लीन हैं, चतुर हैं, संसार रूपी समुद्र के पारगामी हैं, भव्य दाताओं को संसार के उत्तीर्ण (पार) करानेवाले हैं, समस्त परीषहों पर विजय

प्राप्त करनेवाले हैं, द्वादश (बारह) प्रकार का तपश्चरण करनेवाले हैं, देह के संस्कार से रहित हैं, काम एवं इन्द्रिय रूपी मदोन्मत्त गजराजों से पराजित करने के लिए सिंह के समान हैं, सप्त ऋद्धियों से विभूषित हैं, इन्द्र-नरेन्द्र आदि सब के द्वारा पूज्य हैं, द्वादशांग श्रुतज्ञान रूपी महासागर के मध्य में क्रीड़ा करनेवाले हैं, त्रिकाल (तीनों समय) योगों में आसक्त रहनेवाले हैं, मोक्ष की कामना रखनेवाले हैं, वन में निवास करनेवाले हैं, संसार से भयभीत हैं, सुवर्ण एवं तृण दोनों से भेद रहित हैं, अनेक गुणों से विभूषित हैं, समस्त दोषों से रहित हैं-ऐसे मुनिराजों को ही उत्तम सत्पात्र समझना चाहिए ॥१००॥ जो मुनि अत्यन्त दुष्कर संसार रूपी महासागर से स्वयं उत्तीर्ण (पार) होने में स्वयं समर्थ हों एवं दाताओं को भी उत्तीर्ण कराने में समर्थ हों, उन्हीं को उत्तम पात्र समझना चाहिए। पात्र दान का फल भोगभूमि में प्राप्त होता है, जहाँ कि मिथ्यादृष्टि भी अनेक प्रकार के सुख प्राप्त करते हैं। वहाँ पर उन्हें दश प्रकार के कल्पवृक्षों से उत्पन्न कामनानुसार सुख प्राप्त होते हैं, फिर उन्हें देवियों के समूह से उत्पन्न होनेवाले देवगति के सुख प्राप्त होते हैं। सम्यदृष्टि जीव सुपात्रों को दान देने से अनेक प्रकार की ऋद्धियों से सुशोभित सुख के सागर सोलहवें स्वर्ग में जा कर उत्पन्न होते हैं। पात्र दान की अनुमोदना करने से मनुष्य तथा पशु भी अनेक सुखों से परिपूर्ण भोगभूमि में जा कर उत्पन्न होते हैं ॥११०॥ हे भद्र ! पात्रों को दान देना गृहस्थों के लिए महापुण्य का कारण है, इस लोक-परलोक दोनों स्थानों में अनेक प्रकार की विभूति प्रदायक है एवं यश का हेतु है। इसलिए गृहस्थों को स्वर्ग-मोक्ष के सुख प्राप्त करने के लिए मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक सुपात्रों को चारों प्रकार का दान देते रहना चाहिए। माँस या सुवर्ण आदि का दान कभी नहीं देना चाहिए, क्योंकि वह दान कु-दान है, पापों का सागर है, वह दाता एवं याचक दोनों के लिए नरक का कारण है। लोभ के कारण जो दुष्ट विषयी माँस आदि कु-दान लेने की कामना करता है, वह कभी उत्तम पात्र नहीं हो सकता। जो मूढ़ माँस आदि कु-दानों को देता है, वह कभी दाता नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह उस पाप से अपने को एवं अन्य को भी नरकायु का बंध कराता है। जो मूढ़ कु-दान देते हैं अथवा लेते हैं। पाप कर्म के उदय से वे दोनों ही नरक के वासी बनते हैं। इसलिए बुद्धिमानों को प्राणनाश की आशंका होने पर भी नरक का मार्ग एवं पापों का कारण कु-दान कभी नहीं देना चाहिए। यह गीध सत्पात्र नहीं है, क्योंकि यह दूसरे के माँस का लोलुप है, दुष्ट है, विषयांध है एवं अनेक जीवों की हिंसा

करनेवाला है । यह कबूतर भी दान में देने योग्य नहीं है, क्योंकि यह भद्र है, केवल अन्न के दाने चुगता है, भय से इसका सारी काया काँप रही है । यह कबूतर क्षुद्र जीव है एवं अपनी शरण में आया है । जो मनुष्य शरण में आए हुए भयभीत पशु को मित्र या शत्रु को दान में दे देते हैं; संसार में वे सब वे नीच हैं, उनके समान अन्य कोई नीच नहीं है ॥१३०॥ भय से आतंकित यह कबूतर अपना शरणागत है, इसलिए इसे गीध को कभी नहीं देना चाहिए । अत्यन्त रौद्र परिणामों को धारण करनेवाले इस गीध का जीना या मरना जो कुछ उसके कर्म के उदय के अनुसार होगा, वही होगा । क्योंकि इस संसार में पुण्य-पाप को धारण करनेवाले जीव सदैव कर्मों के उदय से मरते हैं अथवा अपने कर्मों के उदय से ही उत्पन्न होते हैं । रौद्र परिणामों को धारण करनेवाले कितने ही जीव पाप कर्म के उदय से परस्पर एक-दूसरे का भक्षण करते हैं अथवा जातिगत शत्रुता अथवा अन्य शत्रुता के कारण परस्पर संग्राम करते हैं । इसलिए धर्मात्मा जीवों को धर्म की प्राप्ति एवं दया पालन करने के लिए भयग्रस्त जीवों की प्रतिदिन रक्षा करनी चाहिए । श्री जिनेन्द्रदेव ने जीवों पर दया करना ही धर्म बतलाया है, इसलिए इस कबूतर की हमें रक्षा करनी चाहिए ।' इस प्रकार राजा मेघरथ का निर्णय सुन कर उस देव को निश्चय हो गया कि उनके विषय में जो कुछ सुना था, वह अक्षरशः सत्य है । उसने जाकर भक्तिपूर्वक उनके चरणों में नमस्कार किया तथा उनके गुणों की स्तुति की । वह कहने लगा-'हे देव ! आप महान् पुरुषों के द्वारा भी पूज्य हैं, दान आदि की विधि के ज्ञाता आप ही हैं । आप देवों के द्वारा स्तुति करने योग्य हैं एवं तीनों ज्ञान रूपी नेत्रों से सर्वदर्शी हैं । हे देव ! हे नराधीश ! स्वर्ग में भी आपकी कीर्ति देवों के कर्ण-कुण्डलों के सदृश सुशोभित है, इसलिए आपको धन्य है ।' इस प्रकार उस ज्योतिषी देव ने महाराज मेघरथ की स्तुति की । स्वर्ग में उनके विषय में जो चर्चा हुई थी, वह समस्त वृत्तान्त कह सुनाया । दिव्य वस्त्र, भूषण, माला आदि से उनकी पूजा की, नम्र एवं शुभ वचनों से बारम्बार उनकी प्रशंसा की, फिर वह उनको नमस्कार कर प्रसन्नता के साथ अपने स्थान को लौट गया । गीध एवं कबूतर दोनों ने अपने पूर्व भव की शत्रुता की कथा सुनकर तत्काल ही अपनी परस्पर शत्रुता त्याग दी । उन दोनों ने अनेक प्रकार से अपनी आत्मा की निन्दा की, संसार से विरक्ता धारण की एवं समस्त प्रकार के आहार को त्याग कर सर्वदा के लिए अनशन (उपवास) व्रत धारण किया । उन्होंने अपनी धीरता-वीरता को प्रगट कर संन्यास धारण किया एवं श्री जिनेन्द्रदेव को

हृदय में विराजमान कर विधिपूर्वक अपने प्राण त्यागे । संन्यास धारण करने के कारण प्राप्त पुण्य कर्म के उदय से वे दोनों ही पक्षियों के जीव देवारण्य नामक वन में उत्तम विभूति को धारण करनेवाले सुरूप एवं अतिरूप नाम के देव हुए ॥१३०॥ वे दोनों ही अपने अवधिज्ञान से पूर्व भव का सम्पूर्ण वृत्तांत ज्ञात कर राजा मेघरथ के समीप आए एवं उनको नमस्कार कर उनकी स्तुति करने लगे-'हे विद्वानों में श्रेष्ठ ! आप धर्म की प्राप्ति कराने में बड़े ही चतुर हैं एवं मेघ के समान परोपकार करने के कारण है । हे देव ! आप श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा वर्णित आगम के ज्ञाता हैं, तत्वों के मर्मज्ञ हैं, सम्यग्दर्शन आदि रत्नों से विभूषित हैं एवं शील के सागर हैं । हे देव ! आप के प्रसाद से ही हम दोनों तिर्यन्च योनि से मुक्ति प्राप्त कर शुभ कर्मोदय एवं दिव्य गुणों को धारण करनेवाले देव हुए हैं । इसलिए अनेक गुणों को धारण करनेवाले आप ही हमारे इस जन्म के गुरु हैं, आप ही हमारे लिए नमस्कार करने योग्य हैं एवं आप ही विद्वानों द्वारा पूज्य हैं' ॥१४०॥ इस प्रकार सार्थक वाक्यों से उनकी स्तुति कर बहुमूल्य दिव्य माला-वस्त्र-आभूषणों से उनकी अभ्यर्थना की, भक्तिपूर्व उनकी वन्दना की, बारम्बार उनकी प्रशंसा की एवं फिर मस्तक नवा कर उनको नमस्कार कर वे दोनों देव अपने स्थान को प्रस्थान कर गए ।

अथानन्तर-एक दिन सब परिग्रहों से रहित चारण मुनि दमवर आहार लेने के निमित्त महाराज मेघरथ के महल पर पधारे । महाराज मेघरथ ने दुर्लभ निधि के समान उन्हें आया देखकर अतीव प्रसन्नता 'तिष्ठ-तिष्ठ' कह कर उनको योग्य आसन पर स्थापित किया । तदनन्तर दाता के सप्त गुणों से विभूषित राजा मेघरथ ने भक्तिपूर्वक प्रतिग्रह आदि पुण्य उपार्जन करनेवाली नव प्रकार की विधि से काया का पोषण करनेवाला शुद्ध, प्रासुक, मधुर उत्तम, निर्दोष तथा तृप्तिदायक आहार उन मुनिराज को दिया । उसी समय उस आहार से दान अर्जित पुण्य कर्म के उदय से अनेक गुणों के स्थानभूत राजा मेघरथ के महल के प्रांगण में रत्नवृष्टि, आदि पन्चाश्चर्यों की वर्षा हुई । पात्रों को दान देने से जिस प्रकार इस लोक में अनेक प्रकार के रत्नों की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार परलोक में भी बुद्धिमानों को भोगभूमि, स्वर्ग, मोक्ष की महाविभूति प्राप्ति होती है । ऐसा समझ कर गृहस्थों को लक्ष्मी का स्थानभूत एवं इहलोक-परलोक दोनों में सुख का सागर तुल्य आहार दान मुनिराज को सदैव देते रहना चाहिए । इस प्रकार श्री जिनेन्द्रदेव की भक्ति में तत्पर रहनेवाले महाराज मेघरथ दान-पूजा आदि सत्कर्म कर तथा पर्व के दिवस प्रोषधोपवास

कर अनेक प्रकार से धर्म का उपार्जन करते थे ॥१५०॥ किसी दिन नन्दीश्वर पर्वत पर उन्होंने प्रोषधोपवास किया एवं विपुल विभूति से श्री जिन-बिम्बों की महापूजा की । अनन्तर रात्रि में वे धीर-वीर स्वयं मोक्ष प्राप्त करने के लिए वन में एकाग्रचित्त से श्री जिनेन्द्रदेव के गुणों का स्मरण करते हुए प्रतिमायोग धारण कर मेरु पर्वत के समान स्थिर विराजमान हुए । ठीक इसी समय देवों के द्वारा पूज्य ऐशान स्वर्ग का इन्द्र देवों की सभा में विराजमान था । उसने अपने ज्ञान से धीर-वीर महाराज मेघरथ को इस प्रकार ध्यानमग्न विराजमान जानकर आश्चर्य के संग कहा-'आप धन्य हैं, आप ही गुणों के सागर हैं, ज्ञानी हैं, पुण्यवान हैं, विद्वान हैं एवं धैर्यशाली हैं । आज आप को इस स्थिति में देखकर आश्चर्य होता है ।' इस प्रकार प्रसन्न होकर मन ही मन इन्द्र मेघरथ की स्तुति करने लगे । अपने मन में आश्चर्य चकित देवों ने इन्द्र को इस प्रकार की स्तुति करते देख जिज्ञासा की-'हे नाथ ! आप ने इस समय किन सज्जन की यह दिव्य स्तुति की है ?' तब इन्द्र ने कहा-'हे देवों ! सुनो, जो स्तुति करने योग्य हैं एवं जिनकी सार्थक स्तुति मैंने की है, उनकी उत्तम कथा सुनाता हूँ । राजा मेघरथ महान् धीर-वीर हैं, शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं, नृपतियों के शिरोमणि हैं, तीनों ज्ञानों को धारण करनेवाले हैं, उनका आसन भव्य है एवं वे अनेक गुणों की खान हैं । आज उन्होंने प्रतिमायोग धारण किया है, इसलिए उन्होंने काया से ममत्व त्याग दिया है । वे महात्यागी हो गए हैं एवं शील रूपी आभरण से सुशोभित हो रहे हैं, इस समय मैंने उन्हीं की स्तुति की है।' इन्द्र की इस व्याख्या को सुन कर अतिरूपा एवं सुरूपा नाम की दो देवियाँ मेघरथ की परीक्षा करने के लिए पृथ्वी पर आईं । उस समय महाराज मेघरथ शरीर से ममत्व त्यागे हुए, क्रोधादि कषाय-रहित, समता व्रत को धारण किए हुए क्षमावान, महा धीर-वीर एवं समस्त विकारों से रहित होकर विराजमान थे । उस समय वे समुद्र के समान गम्भीर थे, पर्वत के समान निश्चल थे, एकान्त में विराजमान थे, शान्त परिणामों को धारण किए हुए थे, ध्यान में तल्लीन थे, अत्यन्त निस्पृह थे, सब चिन्ताओं से रहित थे, निर्भय थे, ज्ञानी थे, बुद्धिमान थे, कायोत्सर्ग धारण किए हुए थे एवं व्रत-शील आदि से सुशोभित थे ॥१६०॥ इस प्रकार गुणों के आकार (कोष), उपसर्ग के कारण वस्त्रों से आच्छादित, मुनिराज के समान महाराज मेघरथ को उन देवियों ने देखा । उन देवियों ने अति धीरता-वीरता धारण करनेवाले महाराज मेघरथ पर असह्य तथा भीषण उपसर्ग करना प्रारम्भ किया । जिससे उनके ध्यान में विघ्न उत्पन्न हो, ऐसे मनोहर भाव, विलास, विभ्रम,

गीत, नृत्य, कामोत्तेजक राग रूप चेष्टायें, दृढ़ आलिंगन, वीणा आदि वादित्रों के मधुर शब्द, काम रूपी अग्नि को प्रज्ज्वलित के लिए ईंधन के समान अनेक प्रकार के कर्ण मधुर वचनालाप, भव्य उत्पन्न करनेवाले क्रूर वाक्य तथा शान्त प्राणियों मे भय उत्पन्न करनेवाले, ध्यान का नाश करनेवाले अनेक प्रकार के घोर उपद्रवों के द्वारा उन देवियों ने उन पर भीषण उपसर्ग किया । तब महाराज मेघरथ ने संवेग से विभूषित राग रहित अपना निश्चल चित्त श्री जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों में लगाया । देवियों के द्वारा किए गए रौद्र परीषहों पर विजय प्राप्त कर सिंह के सदृश पराक्रमी महाराज मेघरथ मेरु पर्वत के समान निश्चल विराजमान रहे ॥१७०॥ जिस प्रकार विद्युत (बिजली) की लहर सुमेरु पर्वत को नहीं हिला सकती, उसी प्रकार वे दोनों देवियाँ महाराज मेघरथ के चित्त रूपी पर्वत को चलायमान करने में समर्थ नहीं हो सकीं तथा उनका समग्र परिश्रम व्यर्थ सिद्ध हो गया । तब दोनों देवियों ने परस्पर मे विचार किया-'ईशान इन्द्र का वर्णित प्रत्येक वाक्य अक्षरशः सत्य है ।' यह स्वीकार कर उन्होंने मेघरथ को प्रणाम किया, उनकी पूजा की तथा प्रसन्नता के साथ अपने स्थान को लौट गईं । रात्रि के व्यतीत होने पर महाराज मेघरथ ने निर्विघ्न रीति से कायोत्सर्ग का त्याग किया तथा फिर वे धर्मध्यान का सेवन करते हुए निरन्तर भोग भोगने लगे । कालान्तर में देवों एवं देवियों की सभा में सिंहासन पर विराजमान ईशान स्वर्ग का इन्द्र कहने लगा-'इस संसार में राजा मेघरथ की प्रिय रानी प्रियमित्र का रूप सबसे उत्तम है, बाह्य हाव-भाव आदि उत्तम गुणों से पूर्ण है तथा अद्वितीय है, उपमा रहित है, सब रूपों से बढ़ कर है, वह मानो पुण्य रूप परमाणुओं से निर्मित है । संसार में उसका -सा रूप अन्य किसी का नहीं है ।' इस प्रकार प्रियमित्रा के रूप की प्रशंसा कर ईशान इन्द्र मौन हो गया । इन्द्र की यह उक्ति सुनकर रतिषेणा तथा रतिवेगा नाम की देवांगनाएँ उसका रूप अवलोकनार्थ भूतल पर आईं । जिस समय वे पृथ्वी पर आईं, उस समय प्रियमित्रा के स्नान करने का समय था । उस भद्रा (प्रियमित्रा) को देह पर केवल सुगन्धित तैल मर्दित था एवं अन्य किसी प्रकार के श्रृंगार से हीन था । इस निराभरण अवस्था में उसका दर्शन कर दोनों देवियों को इन्द्र के वचनों पर विश्वास हो गया । उस रानी के संग वार्तालाप करने के लिए देवियों ने वैश्य कन्या का रूप धारण किया । तब उन्होंने रानी प्रियमित्रा की सुखी से कहा-'तुम जाकर रानी प्रियमित्रा से निवेदन करो कि आपके दर्शन के लिए दो वैश्य कन्यायें आई हैं ।' सुखी ने रानी प्रियमित्रा को सूचित किया । प्रियमित्रा

श्री शांतिनाथ पुराण

ने कहा-'मैं स्नान एवं श्रृंगार से निवृत्त होकर आती हूँ, तब तक उन्हें प्रतीक्षा कक्ष में बैठाओ' ॥१८०॥ इसके उपरान्त रानी ने रागी जनों को अनुरन्जित करनेवाला अपना श्रृंगार किया तथा उन दोनों को बुलवा कर अपना लावण्य प्रदर्शित किया । तब उन्हें अवलोक कर उन देवियों ने टिप्पणी की-'आपके देह की कान्ति जो स्नान पूर्व थी, वह अब वैसी नहीं रही । उसमें कुछ न्यूनता की गई है, इसमें कोई सन्देह नहीं ।' देवियों के ऐसे वचनों को सुन रानी प्रियमित्रा ने इस सम्बन्ध मे सत्यासत्य का निश्चय करने के लिए महाराज मेघरथ की ओर प्रश्नात्मक दृष्टि से देखा । महाराज मेघरथ ने कहा-'हे कान्ते ! कर्मों के उदय से तेरे मुखकमल की कान्ति पहिले की-सी नहीं है, पूर्व की अपेक्षा से अवश्य कुछ न्यूनता आई है ।' यह सुनकर देवियों ने अपना वास्तविक स्वरूप प्रगट किया, अपने आने का रहस्य बतलाया एवं अपने चित्त में विचार करने लगीं-'इस क्षणभंगुर रूप को धिक्कार है ! इस संसार में कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है । रूप, लावण्य, सौभाग्य, काया एवं साम्राज्य सब काल के मुख में पड़ कर विकृत हो ही जाता है ।' इस प्रकार चित्त में विचार कर एवं विरक्त होकर उन देवियों ने दिव्य वस्त्र, आभूषण एवं माला से रानी प्रियमित्रा को सम्मानित किया एवं तदुपरान्त अपनी कान्ति से दिशाओं को व्याप्त करती हुई स्वर्ग को लौट गईं । महारानी प्रियमित्रा देवियों की उक्ति से बहुत खेद-खिन्न हुई एवं उस सती के हृदय में बहुत शोक हुआ । रानी को शोकातुर देख महाराज मेघरथ ने अत्यन्त प्रेमपूर्वक कहा-'हे प्रिये ! क्या तू नहीं जानती कि यह चर-अचर संसार नित्यानित्यात्मक है ? इसमें कोई पदार्थ नित्य नहीं है ॥१९०॥ इसलिए तुझे शोक नहीं करना चाहिए ।' इस प्रकार महाराज ने उसे आश्वासन दिया एवं राज्य-भोग-रमणी आदि समग्र बंधनों से वे अत्यन्त विरक्त हो गए । दूसरे दिन महाराज मेघरथ अपने समस्त परिवार के संग अपने पिता तीर्थंकर घनरथ की वन्दना करने के लिए मनोहर नामक उद्यान में गए । वहाँ पर सुर-असुर आदि से घिरे हुए पूज्य घनरथ तीर्थंकर सिंहासन पर विराजमान थे । महाराज मेघरथ ने सारे परिवार के साथ उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, उनको नमस्कार किया, बड़ी भक्ति से उनकी पूजा की एवं उत्तम स्तोत्रों से उनकी स्तुति की । फिर महाराज मेघरथ ने सब जीवों के हित की कामना करते हुए उनसे श्रावकों की क्रियाएँ पूछीं । सो उचित ही है, क्योंकि सज्जनों की चेष्टाएँ प्रायः कल्पवृक्षों के समान परोपकार के लिए ही होती हैं । तीर्थंकर घनरथ के भव्य पुरुषों को धर्म की प्राप्ति करवाने के लिए अपनी सर्वभाषामयी ध्वनि से

श्री शांतिनाथ पुराण

उपदेश दिया एवं कहा-'हे पुत्र ! सुनों मैं श्रावकों के आचरण को सूचित करनेवाले उपासकाध्ययन नामक सप्तम अंग को पूर्ण रूप से कहता हूँ । सर्वप्रथम श्रावकों को शंकादि दोषों से रहित तत्वों का यथार्थ श्रद्धान करनेवाले सम्यग्दर्शन को धारण करना चाहिए, क्योंकि यही सम्यग्दर्शन समस्त श्रेष्ठ व्रतों का मूल कारण है । पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत आदि बारह व्रत कहलाते हैं । इसके अतिरिक्त श्रावकों को धर्मध्यान धारण करने के लिए आर्तध्यान को त्याग कर तीनों समय व्रत रूप उत्तम सामायिक करना चाहिए ॥२००॥ चतुर पुरुषों को अपने कर्म नष्ट करने के लिए गृहस्थी के व्यापार त्याग कर पर्व के दिनों में नियमपूर्वक सदैव प्रोषधोपवास करना चाहिए । बुद्धिमानों को सचित्त, छाल, पत्ते, कन्दमूल, फल एवं बीज नहीं खाना चाहिए तथा अग्नि पर बिना पका हुए अप्रासुक जल का त्याग कर देना चाहिए । सूक्ष्म जीवों की दया पालन करने के लिए अन्न, पान, स्वाद्य तथा खाद्य-इन चारों प्रकार का आहार रात्रि में कभी नहीं करना चाहिए । श्री जिनेन्द्रदेव ने जघन्य श्रावकों के धर्मसेवन करने के लिए छः प्रतिमायें निरूपण की हैं । ये प्रतिमायें सुगम हैं तथा स्वर्ग में सीढ़ी के समान हैं । जो पुरुष समस्त नारियों को अपनी माता, भगिनी तथा पुत्री के समान देखता है, उसके निर्मल ब्रह्मचर्य प्रगट होता है । असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि समस्त प्रकार का आरम्भ पाप का कारण है । इसलिए मन-वचन-काय से उसका त्याग कर देना चाहिए । द्रव्य, धान्य, सुवर्ण आदि से उत्पन्न होनेवाला परिग्रह अनेक प्रकार के अशुभों की खानि है; इसलिए आवश्यक वस्त्रों के अतिरिक्त शेष समस्त परिधानों (वस्त्रों) का त्याग कर देना चाहिए । गृहस्थों की ये तीन प्रतिमायें मध्यम कहलाती हैं । प्रतिमायें हृदय में वैराग्य धारण करनेवालों को मोक्ष का सुख देनेवाली हैं । आहार, गृहस्थी, व्यापार तथा विवाहादि कार्यों में चतुर (प्रवीण) पुरुषों को कभी सम्मति नहीं देनी चाहिए, क्योंकि इनमें सम्मति देना पाप का कारण है । पापों को शान्त करने के लिए तथा धर्म की सिद्धि के लिए धन्य (दूसरे) के गृह पर कृतकारित आदि दोषों से रहित, स्वाद रहित, पाप रहित, भिक्षा में प्राप्त शुद्ध भोजन करना चाहिए ॥२१०॥ श्री जिनेन्द्रदेव ने इन दोनों ही प्रतिमाओं को उत्कृष्ट बताया है । श्रावकों के लिए ये दोनों प्रतिमाएँ स्वर्ग-मोक्ष का निमित्त कारण हैं । जो बुद्धिमान उपरोक्त एकादश (ग्यारह) प्रतिमाओं का पालन करता हैं, वह सोलहवें स्वर्ग को प्राप्त होता है तथा अनुक्रम से मोक्ष में जाकर विराजमान होता है ।' इस कथन के उपरांत श्रीजिनेन्द्रदेव ने अपने पुत्र के सामने इहलोक

एवं परलोक दोनों में सुख देनेवाली गृहस्थों की कथाएँ कहीं । गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया तथा कर्त्रन्वय क्रिया-ये तीन प्रकार की क्रियाएँ होती हैं । अब इनकी संख्या बतलाते हैं । गर्भाधान से ले कर निर्वाण पर्यन्त जो क्रियाएँ सम्यग्दर्शन पूर्वक की जाती हैं; उन्हें गर्भान्वय क्रियाएँ कहते हैं, उनकी संख्या तिरेपन है । अवतार से लेकर मोक्ष प्राप्त होने तक मुक्ति-सिद्ध करनेवाली जो क्रियाएँ हैं, उन्हें दीक्षान्वय क्रियाएँ कहते हैं; उनकी संख्या अड़तालीस है । श्री जिनेन्द्रदेव ने पूर्ण कल्याण प्राप्त करने के लिए सद्गृहित्व से लेकर सिद्ध-पर्यन्त सात कर्त्रन्वय क्रियाएँ बतलाई हैं । श्री घनरथ जिनेन्द्रदेव ने इन सब क्रियाओं का स्वरूप, विधि एवं फल संक्षेप में कहा तथा सद्धर्म का विस्तृत वर्णन किया । महाराज मेघरथ ने घनरथ तीर्थंकर के मुखकमल से क्रियाओं का स्वरूप एवं स्वर्ग-मोक्ष प्रदायक गृहस्थों के धर्म का स्वरूप सुना । फिर उन्होंने भक्तिपूर्वक उनको नमस्कार किया एवं मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने हृदय को अत्यन्त शान्त कर संसार-देह-भोग का स्वरूप बारम्बार चिन्तवन करने लगे ॥२२०॥ वे विचार करने लगे-'संसार एक समुद्र के समान है । यह अत्यन्त दुःसह है, भीषण है, विषम है, दुःख रूपी मगरमच्छों से भरा हुआ है, जन्म-मरण एवं जरा (बुढ़ापा) ही इसके आवर्त (भँवर) है; चारों गतियाँ ही इसकी चन्चल लहरें हैं, नरक ही इसका बड़वानल-कुम्भ है; यह अत्यन्त निःस्सार है, अपार है; समस्त पापों का समूह ही इसका जल है, जीवों का भव-परिभ्रमण ही इसका फल है । यह अनादि है, अनन्त है, धीर है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-स्वरूप है, सब तरह के दुःखों का निधान है, अत्यन्त निन्द्य है एवं भव्य जीवों के लिए अत्यन्त भयंकर है । इसमें अशुभ कर्म रूपी साँकल से जकड़े हुए जीव धर्म रूपी जलपोत का सहारा न पाकर सर्वदा भवसागर में डूबते एवं उतराते रहते है । धर्म के बिना अनादि काल से वे जीव कर्मों के द्वारा ठगे गए हैं; इसीलिए दुःख रूपी जन्तुओं से भरे हुए संसार रूपी वन में सर्वदा भ्रमण करते हैं इस संसार में मुनियों के अतिरिक्त अन्य कोई भी मनुष्य सुखी नहीं है । किसी को कोढ़ आदि रोगों से उत्पन्न होनेवाली तीव्र पीड़ा है, किसी को दरिद्रता का दुःख है, किसी को भय से दुःख हो रहा है, किसी को मानभंग होने का दुःख है एवं किसी को पुत्र-पत्नी आदि के वियोग से उत्पन्न होनेवाला शोक का दुःख है । किसी के पुत्र दुराचारी एवं दुर्व्यसनी हैं तथा किसी की पत्नी दुष्टा, दुराचारिणी एवं भयानक है । किन्हीं के भ्राता दुष्ट शत्रुओं के समान हैं, किसी का पिता दुष्ट है एवं किसी की माता व्यभिचारिणी है ॥२३०॥ किसी

श्री शांतिनाथ पुराण

के गोत्र में कलंक लगानेवाली व्याभिचारिणी पुत्रियाँ है तथा किसी के सेवक ही शत्रु हो रहे हैं तथा घात के लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं । किसी के नरक के दुःखों से भी बढ़ कर मानसिक पीड़ा है तथा किसी के क्रोध-लोभ आदि की बाधा सर्वदा बनी रहती है । देखो, भरत चक्रवर्ती चरमशरीरी था, तथापि उसे अनुज के द्वारा मान भंग होने का महा दुःख प्राप्त हुआ था । जब चक्रवर्ती की यह दशा है, तब फिर कर्मों के अधीन अशुभ कर्मों से घिरे हुए जन्म-जरा आदि दोष सहित तुच्छ पुण्यवाले अन्य प्राणी भला कैसे सुखी हो सकते हैं ? जिस प्रकार केले के थम्भ में कुछ सार नहीं है तथा न इन्द्रजाल में ही कुछ सार है, उसी प्रकार तीनों लोकों में कुछ भी सार नहीं है । इस संसार में गृह, राज्य, काया, पत्नी, लक्ष्मी, पुत्र, सेवक आदि कुछ भी नित्य नहीं है । जो गृह अग्नि आदि के संयोग से क्षण भर में नष्ट हो जाता है, जलद (बादल) के समान क्षणभंगुर उस गृह में भला कौन बुद्धिमान विश्राम करेगा ? राज्य भी दूब के पत्ते पर रक्खी हुई प्रातःकालीन ओस की बूँद के समान चन्चल है, पापों से परिपूर्ण है एवं शत्रुरूपी भय दुःखों का कारण है । पत्नी भी मोह रूपी जल से सींची हुई अशुभ बेल के समान है एवं नरकादि फलों की प्रदायक है । प्राणियों के लिए सहोदर भी बन्धन के समान एवं पाप के निमित्त (कारण) हैं तथा धन-धान्य आदि का क्षय करनेवाले पुत्र भी संसार में फँसाने के लिए जाल के समान हैं ॥२४०॥ जो बान्धव-स्वजन अपने मृतक कुटुम्बी का श्मशान में दाह कर चले जाते है । एवं फिर कभी मुड़कर भी देखते नहीं, वे भला अपने कैसे हो सकते हैं ? चक्रवर्ती आदि की राज्यलक्ष्मी विद्युत की रेखा के समान चंचल है, मनोहारिणी है एवं मनुष्यों के लिए नरक रूपी गृह के द्वार समान है । इस प्रकार संसार की विचित्रता एवं पदार्थों की अनित्यता को समझ कर बुद्धिमान प्राणी संसार को त्याग कर तपश्चरण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं । इस काया के नव द्वारों से दुर्गन्धपूर्ण अशुभ मल स्वतः बहता रहता है, यह देह विष्टा का आगार है एवं सब ओर से असंख्य कीड़ों से भरी हुई है । यह देह नरक के समान है, शुक्र शोणित से भरी हुई है, सप्त धातुओं से निर्मित है, निन्द्य है, घृणा के योग्य है एवं दुःख का स्थान है । यह काया समस्त अशुभ व्याधि रूपी सर्पों की बाँबी (बिल) है, अशुभ कर्मों का निमित्त (कारण) है, सब प्रकार के दुःखों का निधान है एवं क्षुधा-पिपासा आदि से सदा दुःखी हो रहती है । यह देह काम-रूपी अग्नि के सदैव जलती रहती है, समस्त पापों का निमित्त है एवं कर्म से उत्पन्न हुई है, फिर भला इस संसार में

श्री शांतिनाथ पुराण

प्राणियों को इससे सुख कैसे मिल सकता है ? यह काया अत्यन्त अशुद्ध है, अशुद्ध द्रव्यों से भरी हुई है । इसमें केवल मल-मूत्र ही नहीं भरा है, अपितु यह अशुद्ध पदार्थों का आगार ही है । यह देह अन्न, पान, ताम्बूल आदि पौष्टिक पदार्थों को भी अपने संसर्ग से अपवित्र एवं घृणा के योग्य बना देती है । यह मनुष्यों की काया इन्द्रधनुष के समान अनित्य है, पाप की खानि है एवं जल, अग्नि, शस्त्र या मृत्यु के संयोग से क्षण भर में नष्ट हो जाती है ॥२५०॥ इस देह-रूपी गृह में भूख, प्यास, काम, व्याधि, क्रोध रूपी अग्नियाँ सर्वदा प्रज्वलित रहती हैं, फिर भला चतुर पुरुष इससे किस प्रकार स्नेह कर सकता है ? यह मनुष्यों की काया वस्त्र-आभरण आदि से सुशोभित हुई बाह्य (ऊपर) से ही मनोहर दिखती है, यदि इस का अन्तस (भीतर) में निरीक्षण किया जाए तो मदिरा (शराब) के घट के समान अत्यन्त वीभत्स एवं अशुभ प्रतीत होगी । जिस प्रकार चाण्डाल के निवास-गृह में कुछ भी सारभूत परिलक्षित नहीं होता; उसी प्रकार अस्थि, चर्म एवं विष्टा आदि से भरी हुई इस काया में भी कभी सार परिलक्षित नहीं हो सकता । यदि इसको एक दिन भी अन्नादिक भोजन न मिले तो फिर यह अग्नि में पड़े हुए सूखे पत्ते के समान शीघ्र ही क्षीण हो जाती है । अन्न-पान आदि पदार्थों से प्रति दिन इस काया का पालन-पोषण किया जाता है, तथापि यह काया जीव के साथ नहीं जाती, शठ (दुष्ट) के समान उसे त्याग कर यहाँ ही रह जाती है । जो मूढ़ रागी प्रति दिन इस काया को पोषण करते हैं, उनको यह काया शत्रु के समान केवल व्याधियों का पुंज ही देती है । परलोक में यह काया उनको नरक योनि अथवा तिर्यन्च योनि देती है जो कि समस्त अशुद्धता की खानि है एवं काम इन्द्रियों की लालसा रूपी शत्रुओं से भरी हुई है । परन्तु जो लोग तपश्चरण, व्रत एवं कायक्लेश आदि परीषहों से इसको तपाते हैं, कृश करते हैं, उनको स्वर्ग-मोक्ष के सुख प्राप्त होते हैं । इससे अधिक आश्चर्य भला अन्य क्या होगा? इसलिए जब तक क्षुधित यमराज इस काया का बलात् भक्षण करनें नहीं आता, तब तक प्रवीण (चतुर) पुरुषों को इस काया से तप-यम-धर्म आदि पुण्य कर्म कर लेने चाहिए । जब तक व्याधि रूपी अग्नि इस काया-रूपी कुटिया को विदग्ध नहीं कर देती, तब तक जीवों को अपना हित साधन कर लेना चाहिए, क्योंकि फिर इस काया से कुछ भी सार्थक प्रयोजन करना साध्य (सम्भव) नहीं हो सकेगा ॥२६०॥ जब तक वृद्धावस्था रूपी राक्षसी इस काया का भक्षण नहीं कर लेती, तब तक जीवों को दीक्षा धारण कर स्वर्ग एवं मोक्ष सिद्ध (प्राप्त) कर

श्री शांतिनाथ पुराण

लेना चाहिए । जब तक इन्द्रियाँ अपने कार्य में समर्थ हैं, तब तक बुद्धिमानों को तपश्चरण के बल से मुक्ति रूपी रमणी को अपने वश में कर लेना चाहिए । जब तक आयु पूरी न हो जाए, तब तक कठोर तपश्चरण कर लेना चाहिए, क्योंकि भवन में अग्निकांड होने पर तत्काल कूप खनन व्यर्थ ही सिद्ध होगा । जिन्होंने दैहिक सुखों से विरक्त होकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए तपश्चरण-चारित्र-व्युत्सर्ग आदि के द्वारा काया को कृश किया, उन्हीं का जन्म धारण करना सफल समझना चाहिए । यही समझ कर अत्यन्त निस्सार एवं क्षणभंगुर इस काया को प्राप्त कर जहाँ तक हो सके सारभूत तपश्चरण करना चाहिए, तभी तो यह काया सफलीभूत हो सकती है । बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए तथा तप-ध्यान आदि पुण्य कार्य सिद्ध करने के लिए सेवक के समान स्वल्प अन्न-पान आदि प्रदान कर इसकी आकांक्षा पूर्ण करनी चाहिए । इन भोगों से कभी भी तृप्ति नहीं होती, ये काया को कृश करनेवाले हैं, दुष्ट हैं । प्रारंभ में ये मनोहर प्रतीत होते हैं, परन्तु हैं पाप के समुद्र एवं भयानक फल देनेवाले । ये भोग पराधीन हैं, क्षण-क्षण में नष्ट होनेवाले हैं, नरक रूपी आवास में ले जाने के मार्ग को प्रशस्त करनेवाले हैं । केवल पशुओं ने ही इनको स्वीकार किया है । मोक्षगामी मुनियों ने सदा इनकी निन्दा की है । ये भोग धर्म रूपी नृपति के प्रचण्ड शत्रु हैं, मोक्ष रूपी आवास में प्रवेश के बाधक द्वार हैं, सब प्रकार के दुःखों को उत्पन्न करनेवाले हैं, प्रचण्ड हैं एवं स्वर्ग रूपी आवास (गृह) को अवरुद्ध करने के लिए अर्गला (बेड़ी साँकल) के समान हैं । व्याधि, क्लेश, दाह, भय, चिन्ता आदि के ये सागर हैं, क्रूर हैं केवल मूढ़ प्राणी ही इनका सम्मान करते हैं एवं धीर प्रकृति सज्जन इनका त्याग कर देते हैं ॥२७०॥ ये भोग बड़ी कठिनता से प्राप्त होते हैं, दुःखों से उत्पन्न होते हैं एवं मानभंग आदि दुःख के निमित्त (कारण) हैं, इसलिए इस संसार में ऐसा कौन-सा बुद्धिमान है, जो धर्म को त्याग कर इन भोगों का सेवन करे ? जिस प्रकार तैल के सिंचन से अग्नि उग्रतर एवं प्रचण्ड हो जाती है, उसी प्रकार विकट ज्वाला उत्पन्न करनेवाली कामाग्नि नारियों के सम्पर्क से अत्यधिक तीव्र हो जाती है । जिस प्रकार अग्नि जल से ही शान्त होती है, उसी प्रकार अनेक अनर्थों को उत्पन्न करनेवाली मनुष्यों की कामरूपी अग्नि ब्रह्मचर्य रूपी जल से ही शान्त हो सकती है । मनुष्यों के हृदय में जब तक काम रूपी अग्नि प्रज्वलित रहती है; तब तक उनके हृदय में चारित्र, तप एवं ध्यानरूपी वृक्ष की जड़ किस प्रकार पैठ (जम) सकती है ? मनुष्यों के लिए विषयों से उत्पन्न सुख विष

से भी बढ़ कर भयानक है; क्योंकि विष तो एक ही जन्म में मनुष्यों का प्राण हरण करता है, दूसरे जन्म में नहीं; परन्तु विषयों से उत्पन्न हुआ महानिंद्य सुख रूपी विष मनुष्यों को जन्म-जन्मांतर में नरक -तिर्यन्च गतियों के अपार दुःख देता है । पाप की ओर ले जानेवाले ये सब भोग सर्प से भी अधिक भयानक हैं; क्योंकि सर्प तो इसी भव में प्राणों का हरण करता है, परलोक में नहीं; परन्तु अनंत दुःख एवं क्लेश देनेवाले ये भोग नरकादि दुर्गतियों में अनंत भवों तक प्राणियों के प्राणों का हरण किया करते हैं । जब तक सांसारिक सुखों में मनुष्यों की लालसा बनी हुई है, तब तक उनको मोक्ष सुख भला किस प्रकार मिल सकता है ? समस्त दुःखों के कारण ये भोग व्याधियों से भी अधिक क्लेशदायक हैं क्योंकि व्याधि तो मनुष्यों को कुछ काल तक ही कष्ट देती है; परन्तु ये दुष्ट एवं नीच भोग प्राणियों को चारों गतियों में निरन्तर दुःख, शोक, भय, क्लेश, अपयश एवं पाप ही दिया करते हैं ॥१८०॥ जिनका हृदय भोगों में आसक्त है, अशुभ कर्मों से छले (ठगे) हुए ये जीव अकेले ही सब प्रकार के दुःख देनेवाले अनादि संसार रूपी मार्ग में सदा परिभ्रमण किया करते हैं । जो तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि पूर्वकाल में मोक्ष जा चुके हैं, वे केवल तपश्चरण के द्वारा ही गए हैं । जो सत्पुरुष इस संसार से अब मोक्ष जायेंगे, वे भोगों को त्याग कर चारित्र का पालन करने से ही जायेंगे । यही समझ कर मोक्ष की अभिलाषा करनेवाले पुरुषों को कर्मों का नाश करने के लिए एवं मोक्ष प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम इन समस्त भोगों का त्याग व्याधि, सर्प एवं शत्रु के समान करना चाहिए । बिना दीक्षा धारण किए तीर्थंकरों को भी चिरस्थायी सुख (मोक्ष) कभी प्राप्त नहीं होता है । यही समझ कर मोक्ष की अभिलाषा करनेवाले पुरुषों को यथा शीघ्र निर्ग्रंथ जिन-दीक्षा धारण कर लेनी चाहिए ।'

इस प्रकार अनेकानेक युक्तियों से चिन्तवन कर महाराज मेघरथ को वैराग्य प्राप्त हुआ एवं दीक्षा लेने की अभिलाषा रखते हुए उन्होंने अपने पूज्य पिता (तीर्थंकर) को नमस्कार किया । मोक्ष प्राप्त करने के लिए वे घनरथ अपने हृदय में अनित्य, अशरण आदि द्वादश (बारह) अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करने लगे एवं अनेक सामन्त राजाओं के संग अपने नगर में लौट आए । स्वयं संयम धारण करने के अभिलाषी मेघरथ अपने अनुज दृढ़रथ से कहने लगे-'हे भ्राता ! आज तू समस्त विभूति के साथ इस राज्य को स्वीकार कर ।' इसके प्रत्युत्तर में मोक्ष की कामना करनेवाला वह दृढ़रथ कहने लगा-'हे अनुज ! मेरा निवेदन

सुनिए! यदि राज्य उत्तम है, तो फिर आप ही इसे क्यों त्यागते हैं ? ॥२९०॥ पापों को उत्पन्न करनेवाली राज्य-सम्पदा में जो दोष आपने देखा है, वही दोष बुद्धि बल से मैंने भी विशेष रीति से देख लिया है । जिस प्रकार श्रेष्ठ पुरुष इस संसार में उच्छिष्ट (वमन किए हुए) आहार की कामना नहीं रखते हैं; उसी प्रकार आपके द्वारा त्यागे हुए इस राज्य-ऐश्वर्य को मैं कभी भी नहीं भोग सकता । दीक्षा धारण करने के लिए तो इस राज्य को ग्रहण करके भी कालांतर में तो त्यागना पड़ेगा; इसलिए तपश्चरण धारण करनेवालों को पूर्व (पहिले) से ही इसका ग्रहण न करना ही सब ये श्रेयस्कर है । क्या पाप से भयभीत बुद्धिमान विवेकी प्राणी पहिले अपने सर्वांग को पाप-रूपी पंक (कीचड़) में लपेट कर फिर उस कीचड़ को धोने के लिए स्वयं स्नान करते हैं ? इसलिए मैं भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए महाशत्रु मोह का नाश कर आज आपके साथ ही पापों को विनष्ट करनेवाले उत्तम संयम को धारण करूँगा ।' तब महाराज मेघरथ ने अपने अनुज को राज्य से परांगमुख समझकर अपने पुत्र मेघनाद को विधिपूर्वक राज्य सौंप दिया । फिर शीघ्र ही वे मोक्ष प्राप्त करने के लिए विपुल विभूति सहित अनेक नृपतियों एवं अनुज के संग अपने पिता घनरथ तीर्थंकर के समीप प्रसन्न होकर पहुँचे । वहाँ जाकर उन्होंने नवधा-भक्ति से मस्तक नवाकर तीर्थंकर को नमस्कार किया एवं जिनवाणी के अनुसार मन-वचन-काय से बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग किया । इस प्रकार महाराज मेघरथ ने मोक्ष प्राप्त करने के लिए सप्त सहस्र नृपतियों एवं अनुज दृढ़रथ के संग देवों के द्वारा भी पूज्य निर्ग्रंथ जिनमुद्रा धारण की । इस प्रकार महाराज मेघरथ ने पुण्य कर्म के उदय से तीर्थंकर द्वारा वर्णित तपोमुद्रा धारण कर ली एवं वे सब को धर्मोपदेश देते हुए अथवा दूसरों को चारित्र पालन कराते हुए निर्मल चारित्र से उत्पन्न धर्म, अर्थ काम-इन तीनों पुरुषार्थों के सारभूत सुराज्य (मुनि अवस्था) का प्रतिदिन अनुभव करते थे ॥३००॥ महाराज मेघरथ को धर्म के प्रभाव से ही ऐसा राज्य प्राप्त हुआ था, जिसकी सेवा अनेक नृपति करते हैं एवं जो सुख का वास-स्थान है । धर्म के ही प्रभाव से उन्होंने चन्द्रमा के समान निर्मल राग रहित चारित्र धारण किया था एवं धर्म के ही प्रभाव से उन्हें ज्ञान रूपी नेत्र प्राप्त हुआ था । यही समझ कर विद्वान व्यक्तियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए पापों का विनाश कर परम्परा से सुख प्रदायक धर्म का ही सदैव पालन करते रहना चाहिए । यह धर्म संसार में सब जीवों का हित करनेवाला है, विद्वान धर्म का ही पालन करते हैं, धर्म से ही सर्वप्रकारेण सुख प्राप्त होते हैं, उसी

धर्म को मैं सिद्ध पद प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ। धर्म के अतिरिक्त इस संसार में अन्य कोई मित्र नहीं है। धर्म की जड़ दया है, इसलिए मैं अपना चित्त धर्म में ही लगाता हूँ। हे धर्म ! संसार के भय से मेरी रक्षा कर। भगवान श्री शान्तिनाथ इन्द्र-नरेन्द्र आदि सबके द्वारा पूज्य हैं। ज्ञानी पुरुष श्री शान्तिनाथ भगवान का ही आश्रय लेते हैं, संसारी जीवों को मोक्ष की प्राप्ति श्री शान्तिनाथ भगवान से ही होती है, इसलिए मैं चिर-शान्ति प्राप्त करने के लिए भगवान श्री शान्तिनाथ को ही नमस्कार करता हूँ। भगवान श्री शान्तिनाथ से ही यह मोक्ष मार्ग सदा वृद्धि को प्राप्त होता है, श्री शान्तिनाथ के अनन्त गुण हैं, इस संसार में मेरी आत्मा श्री शान्तिनाथ में ही निवास करती है-हे श्री शान्तिनाथ भगवान ! आप मेरे समस्त पापों के समूह को नष्ट कीजिए।

श्री शान्तिनाथ पुराण में महाराज मेघरथ के वैराग्य प्रगट होने वाला तथा दीक्षा धारण करनेवाला ग्यारहवाँ अधिकार समाप्त ॥११॥

बारहवाँ अधिकार

मैं अपने अशुभ कर्मों के प्रकोप को शान्त करने के लिए संसार मात्र को शान्त करानेवाले समस्त पापों को नष्ट करनेवाले एवं तीर्थंकर, चक्रवर्ती, कामदेव-इन तीनों पदों से सुशोभित श्री शान्तिनाथ भगवान को नमस्कार करता हूँ ॥१॥ अथानन्तर-मुनिराज मेघरथ छः प्रकार के बाह्य तपश्चरण का सदैव पालन करने लगे। इन द्वादश (बारह) प्रकार के तपश्चरण का (जो मुनिराज मेघरथ ने पालन किए थे) मैं अपनी शक्ति के अनुसार संक्षेप में वर्णन करता हूँ। अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त शैय्यासन, कायक्लेश-यह छः प्रकार का बाह्य तपश्चरण कहलाता है, आभ्यन्तर तपश्चरण का कारण है। अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य-इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन (उपवास) तप कहलाता है। तपश्चरण पालन करने के लिए अपनी क्षुधा से कुछ कम आहार लेना अवमोदर्य तप है, यह अवमोदर्य तप अनेक प्रकार से होता है। आहार लेने के लिए एक ही घर पर जाने का नियम अथवा एक ही गली में जाने का नियम अथवा चौराहे तक जाने का नियम-इस प्रकार विलक्षण नियम पालन करने का नाम वृत्तिपरिसंख्यान तप है। यह तप इच्छाओं का सर्वथा नाश करता है। इन्द्रियों को वश में करने के लिए

दूध, दही, घी, तैल, मिष्टान्न आदि रसों का त्याग करना रस-परित्याग व्रत है । पशु, पक्षी, नारी आदि से रहित गुफा आदि एकान्त स्थान में शयन-आसन करना विविक्त-शैय्यासन तप है ॥१०॥ व्युत्सर्ग के द्वारा अथवा वृक्ष के नीचे आतापन योग धारण कर जो दुःख सहन किया जाता है, उसे कायक्लेश तप कहते हैं । अब अन्तरंग तप का वर्णन करते हैं-प्रायश्चित, विनय; वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग एवं ध्यान-यह षट (छः) प्रकार का अन्तरंग तप कहलाता है । पापों का नाश करनेवाली आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक कायोत्सर्ग, तप, छैद, परिहार, उपस्थापन एवं श्रद्धान-यह दश प्रकार का पापों को शुद्ध करनेवाला प्रायश्चित कहलाता है । ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि के द्वारा बुद्धिमानों की तथा मुनि गणधरों आदि की मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक विनय करनी चाहिए । कर्मों को नष्ट करने के लिए सज्जनों को आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ज्ञानि, गण, कुल, संघ, साधु एवं मनोज्ञ-इन दश प्रकार के मुनियों की सेवा सुश्रुषा कर वैयावृत्य करना चाहिए । यह वैयावृत्य ही गुणों का सागर है । इन्द्रियों को दमन करने के लिए मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, धर्मोपदेश आदि पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना चाहिए । धीर-वीर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग कर कायोत्सर्ग धारण करना चाहिए, क्योंकि यह कायोत्सर्ग ही मोक्ष रूपी रमणी का जनक (पिता) है । इसी प्रकार इष्ट-वियोग से उत्पन्न होनेवाले अनिष्ट का नाश करना चाहिए ॥२०॥ शुक्लध्यान के भी चार भेद हैं-पहिला पृथकत्व-वितर्क विचार, दूसरा एकत्व-वितर्क विचार, तीसरा सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती एवं चौथा व्युपरत-क्रिया -निवृत्ति ! ये चारों प्रकार के महाध्यान समस्त कर्म रूपी ईंधन को विदग्ध (जलाने) करने के लिए अग्नि के समान हैं । इसलिए मुनिराज को मोक्ष प्राप्त करने के लिए चित्त को शुद्ध कर इनका ध्यान करना चाहिए । विवेकी पुरुषों को पूर्ण सुख प्राप्त करने के लिए अपनी शक्ति प्रकट कर द्वादश (बारह) प्रकार का पूर्ण तपश्चरण करना चाहिए । जो मनुष्यों पापों को शान्त करने के लिए मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक अपनी शक्ति के अनुसार पाप रहित पूर्ण तपश्चरण का पालन करते हैं, वे अनन्त सुख-सागर को प्राप्त करते हैं एवं स्वयं मुक्ति रूपी रमणी के कंत (पति) बन जाते हैं ॥३०॥ मुनिराज मेघरथ ने अपने अनुज दृढ़रथ के संग मोक्ष प्राप्ति के लिए जो तपश्चरण का अनुष्ठान किया था, उसका मैं अब संक्षेप में वर्णन करता हूँ । उन मुनिराज ने सामान्य

मनुष्यों के लिए कठिन लेकिन लिए सहज एक पक्ष (पन्द्रह दिन), एक मास, दो मास, छः मास एवं एक वर्ष का-ऐसे अनेक प्रकार से अनशन कर तप किया था । वे मेघरथ मुनिराज निद्रा एवं परिश्रम के निवारण के लिए एक ग्रास, दो ग्रास आदि का आहार लेकर अवमोदर्य तप करते थे । वे मुनिराज वृत्तिपरिसंख्यान नामक श्रेष्ठ तपश्चरण करने के लिए भिक्षा के समय अमुक दाता द्वारा मिलेगा तो आहार लेंगे, अमुक आहार मिलेगा तो लेंगे, चातुर्मास में नहीं लेंगे-इत्यादि कठिन प्रतिज्ञाऐं कर लेते थे । इन्द्रियों आदि का दमन करने के लिए वे मुनिराज अपने अनुज के संग उष्ण (गर्म) जल के संग अनन्त सुख देनेवाला पवित्र एवं नीरस आहार लेते थे (अथवा उष्ण जल से धोया हुआ आहार लेते थे) वे चतुर मुनिराज ध्यान की सिद्धि के लिए श्मशान, निर्जन वन, सूने घर, गुफा एवं वृक्षों के कोटर आदि में शैय्यासन धारण करते थे । वे मुनि कायक्लेश सहन करने के लिए ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की असह्य किरणों से सन्तप्त पर्वत के ऊपर स्थित शिला पर सूर्य के सन्मुख मुख कर विराजमान होते थे । वर्षा ऋतु की रात्रि में पापों काविनाश करने के लिए पक्षियों के नीड़ों (घोसलों) से भरे हुए एवं तीव्र वायु प्रवाह से कम्पायमान वृक्ष के नीचे विराजमान होते थे । वे धीरवान मुनिराज शीत ऋतु में अपने अनुज के संग हिम से आच्छादित घोर ठण्डे चौहटे में कायोत्सर्ग धारण कर विराजमान होते थे । यदि उनके चरित्र में अकस्मात कोई दोष लग भी जाता था, तो बिना किसी आलस्य के वे उसकी शुद्धि के लिए उसी समय प्रायश्चित करते थे ॥४०॥ वे बुद्धिमान मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप आदि में मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक विद्या आदि अनेक गुण देनेवाला विनय धारणकरते थे । अपने अनुज के संग वे दश प्रकार के ज्ञानी तपस्वी मुनियों की वैयावृत्य करते थे । वे मुनि अज्ञान के निवारण हेतु ज्ञान सम्पादन करने के लिए स्वाध्याय की शुद्धता को प्राप्त हो कर अंगपूर्व एवं प्रकीर्णकों का सदैव पाठ किया करते थे । वे काया से ममत्व त्याग कर समस्त अशुभ कर्म रूपी अग्नि के शमन (बुझाने) के लिए मेघ के समान पक्ष, मास, छः मास, वर्ष पर्यंत का व्युत्सर्ग धारण करते थे । अपने चित्त को धर्म एवं शुक्लध्यान में लगानेवाले शुद्ध बुद्धिवाले वे मुनिराज निन्द्य, आर्त एवं रौद्रध्यानं को कभी स्वप्न में भी हृदय में धारण नहीं करते थे । किन्तु वे मुनिराज चित्त में पदार्थ एवं नय से परिपूर्ण तथा शास्त्रों से उत्पन्न चारों प्रकार के उत्कृष्ट धर्मध्यान का सदैव चिन्तवन किया करते थे । कभी वे अपने मन के संकल्पों को त्याग कर रत्न के दीपक के समान स्वच्छ एवं कर्म

श्री शांतिनाथ पुराण

रूपी वन को भस्म करने के लिए अग्नि के सदृश प्रथम शुक्लध्यान धारण करते थे । इस प्रकार वे मुनिराज अपने अनुज के संग अपनी शक्ति को न शमित (छिपा) कर तीव्र एवं पाप रहित द्वादश (बारह) प्रकार का तपश्चरण करते थे । उन बुद्धिमान ने हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह-इन पाँचों पापों का मन-वचन-काय एवं कृतकारित अनुमोदना से मरण पर्यन्त त्याग कर दिया था । वे दयालु मुनिराज ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदाननिक्षेपण एवं उपसर्ग -इन पाँचों समितियों का विशेष प्रयत्न के साथ पालन करते थे ॥५०॥ तीनों गुप्तियों के पालन करने में तत्पर रहनेवाले वे संयमी मुनिराज अपने ध्यान योग के बल से ही मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों का निग्रह करते थे ।

क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शैय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन-ये बाईस परीषह कहलाते हैं । ये समस्त परीषह दुर्धर हैं, असह्य हैं, मनुष्यों के लिए सहन करना अत्यन्त कठिन हैं, कातरों को भय उत्पन्न करानेवाले हैं एवं अत्यन्त दुःख प्रदायक हैं । परन्तु वे मुनिराज अपने अनुज के संग इन समस्त परीषहों को सहन करते थे । वे धीर-वीर अपने ध्यान रूपी शस्त्र के बल से अत्यन्त कठिन एवं रौद्र उन्नीस परीषहों पर विजय अर्पित करते थे । तदनन्तर उन्होंने अपने गुरु के समीप 'तीर्थंकर' नामकर्म की प्रदायक षोडश कारण भावनाओं का चिन्तवन किया था । उन्होंने सम्यग्दर्शन का विनाश करनेवाली देव मूढ़ता आदि तीनों मूढ़ताएँ नष्ट की थीं एवं बुद्धि को भ्रष्ट करनेवाले जाति-कुल आदि के अष्ट मद नष्ट किए थे । इसी प्रकार उन्होंने मिथ्यात्व आदि से उत्पन्न हुए षट (छः) अनायतनों का त्याग किया एवं शंका आदि अष्ट दोषों का भी त्याग किया । इस प्रकार उन्होंने सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोषों का त्याग किया । चिन्तवन करने में तत्पर रहनेवाले उन मुनिराज ने अपने मन में निःशंकित आदि अष्टांगों को धारण कर सम्यग्दर्शन की विशुद्धि धारण की थी ॥६०॥ मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक मुक्ति-रूपी रमणी को वश में करनेवाली तीर्थंकर, मुनि तप एवं रत्नत्रय की विनय का उन्होंने चिन्तवन किया था । वे स्वप्न में भी प्रमादों को त्याग कर मोक्ष प्रदायक अष्टादश सहस्र (अठारह हजार) शीलों में कोई अतिचार नहीं लगाते थे । लोक-अलोक को प्रकाशित करनेवाले अंगपूर्व आदि के ज्ञान का वे सर्वदा अध्ययन करते थे तथा [illegible] जीवों को प्रशिक्षित करते रहते थे । वे परम ज्ञानी मुनिराज समस्त अकल्याण करनेवाली काया, संसार तथा

भोगों में मोक्ष के कारणभूत संवेग का चिन्तवन करते थे । वे मुनिराज समस्त प्राणियों के लिए ज्ञान दान, अभय दान आदि दान दिया करते थे तथा विशेषकर मुनियों को ये दान सदैव किया करते थे । वे मुनिराज समस्त कर्मों का विनाश करनेवाली द्वादश प्रकार के तपश्चरण की भावनाओं का सदैव चिन्तवन करते थे । वे संयमी मुनिराज किसी व्याधि आदि के कारण आकुल हुए साधुओं को धर्मोपदेश दे कर उनका कष्ट निवारण किया करते थे । वे चतुर मुनि अपने तथा दूसरे के गुणों की वृद्धि के लिए मोक्ष की कामना रखनेवाले रोगी मुनियों का वैयावृत्य किया करते थे । अरहन्तों की भक्ति करने में तत्पर वे मुनिराज अपने चित्त में सदैव 'अर्हन्' अक्षरों का ध्यान करते थे तथा वचन से भी सदा इन्हीं अक्षरों का जाप किया करते थे । जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा वीर्य-इन पन्चाचारों का स्वयं पालन करते हैं तथा शिष्यों से पालन कराते हैं, उनको आचार्य कहते हैं । उन आचार्य की भक्ति से सर्वदा किया करते वे ॥७०॥ जो स्वयं श्रुतज्ञान रूपी अमृत का पान किया करते हैं एवं भव्यों को उस श्रुतज्ञान रूपी अमृत का पान करवाने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं, उनको उपाध्याय कहते हैं । वे मुनिराज उपाध्यायों की भक्ति भी सदैव किया करते थे । आप्त के वर्णित अनेक तत्वों से परिपूर्ण एवं इन्द्र-नरेन्द्र के द्वारा पूज्य शास्त्रों में भी वे सदैव प्रगाढ़ भक्ति धारण करते थे । वे मुनिराज तृण-सुवर्ण, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति एवं जीवन-मरण में सदा उत्कृष्ट समता भाव रखते थे । तीर्थंकरों के गुणों में अनुरक्त हुए वे मुनिराज सिद्ध पद प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति किया करते थे । वे मुनि मन-वचन-काय से मुक्ति रूपी रमणी के स्वामी पन्च-परमेष्ठियों की त्रिकाल वन्दना सदैव करते थे । अपनी निन्दा-गर्हा आदि में तत्पर रहनेवाले बुद्धिमान एवं प्रमाद रहित वे मुनिराज व्रतों के अतिचार का निवारण करने के लिए प्रतिक्रमण किया करते थे । वे मुनि तपश्चरण पालन करने के लिए योग्य पदार्थों का भी त्याग कर अपनी काया में वैराग्य भाव धारण करते थे । वे मुनि अपने देह से ममत्व त्याग कर तथा दृढ़ स्तम्भ के समान निश्चल होकर अपनी शक्ति के अनुसार मोक्ष के कारणभूत कायोत्सर्ग को धारण करते थे । जो मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिए नियमपूर्वक इन षट (छहों) आवश्यकों का पालन करते हैं, उनको स्वप्न में भी कभी कोई हानि नहीं पहुँच सकती । वे मुनि, तप, ज्ञान आदि सद्गुणों के द्वारा श्री जिनेन्द्रदेव के द्वारा वर्णित रत्नत्रय रूपी मोक्षमार्ग को सदैव प्रकाशित किया करते थे ॥८०॥ धर्म में अनुराग रखनेवाले वे मुनि अपने पापों का विनाश करने

के लिए श्रुतज्ञान धारक मुनियों के संग अत्यधिक स्नेह रखते थे । उन महाधीर-वीर मुनि ने इस प्रकार 'तीर्थंकर' नाम कर्म का बन्ध करानेवाली षोडश (सोलह) के कारण भावनाओं का सम्यक् प्रकार से विधि वत नियमित मनन एवं चिन्तवन किया, जिसके फलस्वरूप 'तीर्थंकर' नामकर्म का उन्हें बन्ध हुआ । इस 'तीर्थंकर' नामकर्म की महिमा अनन्त है, यह अतिशय पुण्य का योग है; मनुष्य-देव-विद्याधर सब इसे नमस्कार करते हैं तथा यह तीनों लोकों को सुशोभित करने का निमित्त (कारण) है । उन मुनिराज को निर्मल कोष्ठ-बुद्धि, बीज-बुद्धि, पादानुसारिणी बुद्धि तथा सम्भिन्नश्रोत-बुद्धि आदि ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थीं । जिस प्रकार राजर्षि अपनी राजविद्याओं के द्वारा समस्त धर्म-अधर्म को समझ लेते हैं, उसी प्रकार ऋद्धियों को धारण करनेवाले उन पूज्य मुनिराज ने इन बुद्धि ऋद्धियों के द्वारा समस्त संसार तथा धर्म-अधर्म के स्वरूप को ज्ञात कर लिया था । परमार्थ के ज्ञाता, महान् ऋद्धियों को धारण करनेवाले तथा कर्म रूपी शत्रुओं को पराजित करने में तत्पर वे मुनिराज दुर्धर तप से दीप्तमान थे । वे उत्कृष्ट तप, महा तप, घोर तप, पराक्रम तप तथा उग्र तप का सदैव पालन करते थे । मोक्षप्राप्ति रूपी उत्कृष्ट अभिलाषा को धारण करनेवाले मुनिराज को बिना कामना के ही केवल आत्मशुद्धि से ही अणिमा, महिमा आदि आठों विक्रिया नाम की ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थीं । मामर्ष-ऋद्धि, क्षेत्र-ऋद्धि, जल्ल, विट्, सर्वोषधि आदि समस्त रोगों को नष्ट करनेवाली तथा संसार-भर का उपकार करनेवाली ऋद्धियाँ भी उनको प्राप्त हुई थीं ॥९०॥ मुनिराज को रस-परित्याग नाम के तप के प्रभाव से अमृतस्रावी, क्षीरस्रावी तथा सर्पिस्रावी नाम की ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थीं । उन धीर-वीर मुनिराज को परीषहों पर विजय से प्राप्त करने से ही अपार बल प्रकट करनेवाली मनोबल, वचन बल तथा कायबल नामक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थीं । अक्षीण ऋद्धि के प्रभाव से उनके अक्षीण अन्न तथा अक्षीण आलय ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थीं । सो उचित ही है, क्योंकि पूर्व कृत महती तपश्चरण का फल अक्षय होता ही है । वे मुनिराज अनुक्रम से अनेक देशों मे विहार करते हुए आहार के लिए श्रीपुर नगर के राजा श्रीषेण के निवास पर पधारे । राजा श्रीषेण ने भी दुर्लभ निधान के समान उन्हें आया देख कर भक्तिपूर्वक 'तिष्ठ-तिष्ठ' कह कर योग्य आसन पर स्थापन किया । उन्होंने हार्दिक भक्ति से मुनिराज को प्रासुक एवं मिष्ट आहार विधिपूर्वक दिया, जिससे उनके प्रांगण में पन्चाश्चर्यों की वर्षा हुई । किसी दिन वे मुनिराज आहार के लिए ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक दत्तापुर नगर के राजा नन्दन के निवास

श्री शांतिनाथ पुराण

पर पधारे । राजा नन्दन ने भी भक्तिपूर्वक उनका स्थापन किया एवं विधिपूर्वक उत्तम, शुभ, रसीला एवं मधुर आहार उनको दिया । शुभ कर्म के उदय से उसके महल में भी परलोक के फल को सूचित करनेवाली एवं देवों के द्वारा की हुई रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्यों की वर्षा हुई । तदनन्तर एक दिवस कामना रहित वे मुनिराज संयम वृद्धि के लिए पुण्डरीकिणी नगरी के राजा सिंहसेन के यहाँ पधारे ॥१००॥ राजा सिंहसेन ने भी उनके चरण-कमलों में नमस्कार कर उनका स्थापन किया एवं मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक चारित्र उन्नायक उत्तम मधुर आहार दिया । तत्काल अर्जित पुण्य के प्रभाव से उनके गृह प्रांगण में भी बहुत से उत्तम द्रव्यों से परिपूर्ण रत्न-वृष्टि आदि पंचाश्चर्यों की वर्षा हुई थी । यह उचित भी है, क्योंकि मनुष्यों को दान के प्रभाव से भला क्या प्राप्त नहीं होता है ? अर्थात् सब कुछ प्राप्त होता है । वे मुनिराज तपश्चरण के द्वारा संयम की चरम कोटि पर पहुँच गये थे तथा अनुज दृढ़रथ के संग-संग नभस्तिलक पर्वत पर जा विराजमान हुए । उन शुद्ध बुद्धिवाले मुनिराज ने अपनी एक माह की आयु शेष जानकर 'प्रायोपगमन' नामक संन्यास धारण किया था । जिसमें प्रायः चारों आराधनाओं तथा तीनों रत्नत्रयों का आराधन प्राप्त हो, उसको प्रायोपगमन कहते हैं अथवा जिस शुभ प्रायोपगमन मे पहिले हिंसा आदि से उत्पन्न हुए समस्त पापों के समूह प्रायः नष्ट हो जायें, उसको प्रायोपगमन कहते हैं अथवा जिसमें मनुष्यों के निवास-स्थान से पृथक होकर वन में जाना पड़े, उसको बुद्धिमानों तथा श्री जिनेन्द्रदेव ने प्रायोपगमन कहा है । वे मुनिराज अपनी काया का न तो स्वयं कुछ प्रतिकार करते थे एवं न कभी अन्य से कराने की कामना करते थे । इस प्रकार काया से ममत्व त्याग कर वे निश्चल विराजमान थे । वे मुनिराज अपनी क्षमता के अनुसार शक्ति का आश्रय लेकर ध्यान तथा अध्ययन के संग-संग अनशन तप करते थे । तपश्चरण से उनके सर्वांग पर केवल अस्थि-चर्म शेष रह गया था । उनका उदर अत्यन्त कृश हो गया था, देह के अंग-उपांग सूख गये थे तथा कमल रूपी नेत्रकोटर अत्यन्त गहरे हो गये थे ॥११०॥ अनुपम क्षमा को धारण करनेवाले वे मुनिराज अपार धैर्य धारण कर तथा प्रसन्नचित्त होकर क्षुधा-तृष्णा आदि समस्त परीषहों पर विजय प्राप्त कर विराजमान थे । उन्होंने क्रोध का नाश कर उत्तम क्षमा धारण की थी, कठिनता को त्याग कर मार्दव धारण किया था, माया का नाश कर आर्जव धारण किया था तथा अधिक बोलने का त्याग कर सत्यधर्म धारण किया था, लोभ को त्याग कर शौच धर्म धारण किया था,

प्रमाद त्याग कर संयम तप आदि धारण किया था, काया से ममत्व त्याग कर आकिंचन्य धर्म धारण किया था तथा ब्रह्मचर्य के समस्त दोषों को नष्ट कर दृढ़ ब्रह्मचर्य धारण किया था। इस प्रकार वे मुनिराज अपने हृदय में दश धर्म का सर्वदा चिन्तवन करते रहते थे। वे मुनिराज अपनी काया, वाहन, लक्ष्मी, गृह, राज्य, भोग आदि पदार्थों में तथा संसार में सदैव अनित्यता का स्मरण किया करते थे। इस जीव को धर्म के अतिरिक्त अन्य दूसरा कोई भी व्याधि, जन्म, जरा, मरण, दुःख, शोक आदि से त्राणकर्ता नहीं है-इस प्रकार वे सदैव स्मरण किया करते रहते थे। यह अनादि संसार रूपी वन महा भयानक है, घोर है तथा अनेक दुःखों से परिपूर्ण है। इस संसार में यह प्राणी पंच परिवर्तनों के प्रभाव से सदा परिभ्रमण किया करता है-इस प्रकार वे अपने चित्त में सदैव चिन्तवन किया करते थे। यह जीव संसार रूपी समुद्र में पुण्य-पाप के फल सुख-दुःख को अकेला ही अनेक प्रकार से भोगा करता है। सुख-दुःख के बाँटने में कोई साथी या मित्र नहीं होता, इस प्रकार से भी वे चिन्तवन किया करते थे। यह आत्मा देह से सर्वथा भिन्न है, फिर भला वह अन्य पदार्थ में मिल कर एक कैसे हो सकती है ? इस प्रकार वे मुनिराज अपने हृदय में सर्वदा विचार किया करते थे। यह अपनी काया समस्त दुःखों की खानि है, अपवित्र है तथा अशुद्ध पदार्थों का मन्दिर है। यह शरीर कभी शुद्ध नहीं हो सकता, सदा अशुद्ध ही रहेगा-वे मुनिराज इस प्रकार भी विचार किया करते थे ॥१२०॥ जिस प्रकार नौका में जल के भरने से वह समुद्र में डूब जाती है, उसी प्रकार कर्मों के आने (बंध) से यह प्राणी संसार रूपी समुद्र में डूब (निमग्न हो) जाता है। इस प्रकार का तुलनात्मक चिन्तवन भी वे अपने हृदय में करते थे। जिस प्रकार आते हुए जल को अवरुद्ध कर (रोक) देने से कोई नौका अपने गन्तव्य तक सुरक्षित पहुँच जाती है, उसी प्रकार कर्मों का संवर होने से यह जीव मोक्ष में जा विराजमान होता है। इस प्रकार की भावना भी वे अपने हृदय में धारण करते थे। जिस प्रकार अजीर्ण रोग से दुःखी मनुष्य मल के निकल जाने से सुखी होता है, इसी प्रकार वे अपने चित्त में चिन्तवन करते थे। यह लोक ऊर्ध्व, मध्य तथा अधोभाग के भेद से तीन प्रकार का है तथा सर्वदा दुःख से भरा हुआ है-नित्य तथा अनित्य इनके दो स्वरूप हैं, इस प्रकार का ध्यान वे अपने हृदय में धारण करते थे। इस जीव को मनुष्य जन्म, श्रेष्ठ कुल, नीरोगी काया, पूर्ण आयु तथा उत्तम धर्म की प्राप्ति उत्तरोत्तर दुर्लभ है-इस रहस्य पर भी वे हृदय में चिन्तवन करते थे। धर्म हिंसा से रहित है, समस्त प्रकार

के सुखों का प्रदायक है, मुक्ति का कारण है तथा क्षमा-मार्दव आदि के भेद से दश प्रकार का है-इस प्रकार भी वे मुनिराज अपने हृदय में ध्यान धारण करते थे । इस प्रकार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने से उनका वैराग्य दूना हो गया था तथा परलोक में समस्त कार्य करवाने वाला विवेक उनके हृदय में जाज्वल्यमान हो गया था । वे मुनिराज मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय-यह चारों प्रकार का धर्मध्यान धारण करते थे । मुनिराज ने वैराग्य से सुगन्धित हुए अपने चित्त से संकल्प-विकल्प त्याग दिये थे तथा उन्होंने प्रमाद का परित्याग कर कर्मों का नाश करनेवाली श्रेणी में आरोहण किया था । वे धीर-वीर मुनिराज दुःख के सागर कर्म रूपी ईंधन को प्रज्वलित करने के लिए अग्नि तथा दुःख रूपी दावानल के लिए मेघ के सदृश सर्वप्रथम शुक्लध्यान का चिन्तवन करते थे ॥१३०॥ मुनिराज मेघरथ ने अपने अनुज के संग सर्वप्रथम शुक्लध्यान से अशुभ कर्मों का विनाश कर उत्तम धर्म का सम्पादन किया था । मुनिराज ने अतिचार रहित स्वर्ग-मोक्ष प्रदायक चारों आराधनाओं का विधिपूर्वक आराधन किया था । वे प्रयत्नपूर्वक आत्मध्यान से प्राणों का त्याग कर रत्नत्रय के फल से 'सर्वार्थसिद्धि' में जाकर विराजमान हुए । यह सर्वार्थसिद्धि विमान मुक्ति-शिला से मात्र बारह योजन नीचे है तथा अन्य समस्त विमानों से ऊपर है । यह सर्वोत्तम है, इसलिए इसको 'अनुत्तर विमान' भी कहते हैं । यह विमान एक लाख योजन चौड़ा है, सूर्य मण्डल के समान है तथा समस्त पटलों के अन्त में चूड़ा रत्न के समान शोभायमान है । सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होनेवाला पुण्यवान जीवों के सुख तथा धर्मादि बिना प्रयत्न के सिद्ध हो जाते हैं; इसलिए उसका 'सर्वार्थसिद्धि' नामकरण सार्थक प्रतीत होता है । यह विमान समस्त विमानों के शिखर (मस्तक) पर विराजमान होता हुआ अत्यन्त मनोहारी प्रतीत होता है । इस संसार में इस विमान से उत्तम (श्रेष्ठ) अन्य कोई विमान नहीं है, यह विमान दिव्य है, समस्त ऋद्धियों से भरपूर है तथा असंख्य सुखों का सागर है, इसीलिए संसार में यह विमान 'अनुत्तर' कहलाता है । इसका यह नाम भी सार्थक है, क्योंकि संसार में इसकी कोई उपमा नहीं है । यह विमान अत्यन्त विशालकाय है तथा बहुत उच्च है । जो मुनि रत्नत्रय सहित हैं, मुक्ति रूपी रमणी में आसक्त हैं, दुर्धर तपस्वी हैं तथा संसार-सागर से उत्तीर्ण होनेवाले हैं, उन मुनियों को विशेष रूप से सुख देने की कामना से मानों शिखर पर फहराती हुई अपनी ध्वजाओं से यह विमान आमंत्रित कर रहा है ॥१४०॥ देवों के

प्रतिबिम्बों को धारण करती हुई उसकी दीवारें उत्तम प्रतीत होती हैं, मानो कोई दूसरा अपूर्व स्वर्ग ही हो। यह विमान रत्नों की किरणों से प्रकाशित है, इसलिए इसमें दिन-रात्रि का ज्ञान कभी नहीं होता। यहाँ पर मणियों की किरणों से सदैव दिवस की शोभा बनी रहती है। यह विमान समस्त प्रकार के सुखों का प्रदाता है, इसलिए इसमें कभी ऋतुओं का परिवर्तन नहीं होता एवं सर्व प्रकारेण सुख प्रदायक एक-सा काल ही सदैव बना रहता है। यहाँ लटकती हुई कोमल तथा सुगन्धित पुष्पमालायें भव्य प्रतीत होती हैं, मानों इन्द्रों की सज्जनता को ही घोषित कर रही हों। यहाँ पर स्थान-स्थान पर मोतियों की मालाएँ शोभायमान हैं, वे ऐसी प्रतीत होती हैं, मानो अपनी शोभा से उज्ज्वल दन्त पंक्ति की किरणों की ओर व्यंग्यपूर्वक मुस्करा रही हों। इस प्रकार जिसमें स्वाभाविक सर्वोत्तम रचना हो रही है, जो अलौकिक सुन्दरता की खान है तथा जिसका समस्त स्थान सुख प्रदायक है, ऐसे सर्वार्थसिद्धि विमान की अत्यन्त कोमल उत्पाद शैय्या में वे दोनों ही अहमिन्द्र क्षण भर में ही षट (छहों) प्रकार की पर्याप्ति को प्राप्त हो गए थे। वे दोनों ही अहमिन्द्र अन्तर्मुहूर्त्त में ही समस्त अवयवों (अंगो) सहित पूर्ण यौवन अवस्था को प्राप्त हो गए थे। उन दोनों की काया सप्त धातु, मल, नख, केश आदि से विहीन थी। वे स्वेद (पसीना), खेद आदि से रहित थे तथा सुन्दर लक्षणों से सुशोभित थे, स्वाभाविक रूप से ही सुन्दर (मनोज्ञ) थे। व्याधि, नेत्रस्पन्दन (आँखों की टिमकार) आदि से वे रहित थे। वे नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाले थे। मनोहर, उपमा रहित तथा सुख की खान उनकी काया समस्त शुभ तथा स्निग्ध (चिकने) परमाणुओं से निर्मित थी। वे अत्यंत कोमल थे तथा शैय्या पर चन्द्रकुण्डल के समान मनोहर प्रतीत होते थे ॥१५०॥ अपनी काया (शरीर) की दिव्य कान्ति से आलोकित सिंहासन पर विराजमान वे दोनों ही इन्द्र प्रताप में सूर्य-चन्द्रमा के सदृश शोभायमान थे। उनकी ग्रीवा में दिव्य हार था, मस्तक पर सुन्दर मुकुट था, कर्णों में कुण्डल थे, भुजाओं में केयूर थे तथा किरणों की मूर्ति के समान वे शोभायमान थे। देवोपम वस्त्र, माला, केयूर आदि दिव्य आभूषणों से तथा अपनी स्वाभाविक कान्ति से वे दोनों अहमिन्द्र पुण्य की राशि के सदृश जाज्वल्यमान थे। दोनों की वैक्रियक काया अणिमादि गुणों से विभूषित थी, समस्त दिशाओं को सुगन्धित करती थी एवं स्वभावतया ही सुन्दर थी। असंख्यात ऋद्धियों के सागर वे दोनों ही अहमिन्द्र अकृत्रिम रत्न-सुवर्णमय श्री जिन-मन्दिर में समस्त अभ्युदयों की सिद्धि के लिए संकल्प मात्र से ही उत्पन्न

हुए गन्ध-अक्षत आदि द्रव्यों से भक्तिपूर्वक श्रीजिन प्रतिमाओं का पूजन किया करते थे । वे दोनों ही अहमिन्द्र मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने अवधिज्ञान से तीनों लोकों में विराजमान समस्त प्रतिमाओं को प्रत्यक्ष जानकर सर्वदा उन्हें नमस्कार किया करते थे । अपने अवधिज्ञान से समकालीन तीर्थंकर भगवान के पंच-कल्याणकों को ज्ञात कर वे नवधा भक्ति से मस्तक नवा कर उन्हें नमस्कार करते थे ॥१६०॥ जिनेन्द्र भगवान के गुण समूहों में अनुरक्त हुए वे दोनों ही अहमिन्द्र उनके यथार्थ गुण समूहों को वचनों के द्वारा वर्णन कर सदैव उनकी स्तुति किया करते थे । वे दोनों ही बुद्धिमान अहमिन्द्र श्री जिनेन्द्रदेव का पद प्राप्त करने के लिए तथा पापों का विनाश करने के लिए प्रतिदिन अपने चित्त में अनन्त गुणों से सुशोभित श्री जिनेन्द्रदेव का स्मरण किया करते थे । जो अहमिन्द्र अनिमंत्रित (बिना आमन्त्रित हुए) स्वयं ही आ जाते थे, उनके साथ वे दोनों अहमिन्द्र मोक्ष प्राप्त करने लिए परस्पर पुण्य प्रदायक धर्मगोष्ठी किया करते थे । महान् ऋद्धि को धारण करनेवाले वे अहमिन्द्र केवल मोक्ष की आकांक्षा से पुण्य प्रदायक तत्वज्ञान से ओतप्रोत तथा सारभूत श्री जिनेन्द्रदेव के चरित्र (जीवनी) की कथा (चर्चा) सदैव किया करते थे । यदि वे अहमिन्द्र अपनी इच्छानुसार विहार करने जाते, तो अपने निवास के समीपस्थ उद्यान में सुन्दर सरोवरों की तटवर्ती भूमि पर क्रीड़ा किया करते थे । परक्षेत्र में उनका विहार कभी नहीं होता, क्योंकि शुक्ललेश्या के प्रभाव से उन्हें अपनी वस्तु के भोगों में ही सन्तोष होता है । उनका स्थान अनेक प्रकार की विभूति से भरा हुआ है तथा कभी न विनष्ट होनेवाले सुख की खान है, इसलिये उन्हें अपने स्थान से जो अनुराग है, वह अन्य किसी स्थान से नहीं है । इस स्थान में-'मैं ही इन्द्र हूँ, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई इन्द्र नहीं है'-इस प्रकार के आत्मसुख को वे प्राप्त होते हैं, इसीलिये वहाँ के वे उत्तम देव 'अहमिन्द्र' के नाम (उपाधि) से प्रसिद्ध हैं । उनमें ईर्ष्या, मत्सर, आत्मप्रशंसा, अष्ट प्रकार का मद, दीनता, बैर, द्वेष, शोक, भय, अरति, मानसिक दुःख इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, दुर्भगता तथा कामाग्नि आदि दोष सर्वथा नहीं हैं । समस्त अहमिन्द्र मन्दकषायी होते हैं तथा धर्मध्यान में सर्वदा तत्पर रहते हैं, इसलिये उनमें परस्पर स्वाभाविक उपमा रहित स्नेह सदैवबना रहता है । वे अनुराग से केवल अरहन्तों की पूजा किया करते हैं तथा सर्वप्रकारेण आनन्दित तथा सुखी होते हुए क्रीड़ा किया करते हैं । चिन्ता रहित, प्रमाण रहित आत्मा के परमानन्द के उत्पन्न हुआ सुख, जो कि मुनियों के द्वारा जानने योग्य है, उनके सदैव बनार हता है । प्रवीचार

(कामवेदना) रहित, राग रहित तथा स्वभावतया उत्पन्न होनेवाला सुख उन्हें सदैव उपलब्ध रहता है। अहमिन्द्रों के कामवेदना से रहित जो स्वाभाविक सुख होता है, वह प्रवीचार से होनेवाले सुख से भी असंख्यातगुणा अधिक है। इस संसार में समस्त इन्द्रियों को तृप्त करनेवाला जो उत्कृष्ट सुख है, वह सब पुण्य कर्म के उदय से विरागी देवों को होता है। एक हस्त उच्च महा दैदीप्यमान उनका उत्तम शरीर सम-चतुरस्र-संस्थान से अत्यन्त मनोज्ञ प्रतीत होता है। दोनों अहमिन्द्रों की तैंतीस सागर की आयु थी तथा धर्मध्यान की कारणभूत उत्कृष्ट शुक्लवेश्या थी। तैंतीस सहस्र (हजार) वर्ष व्यतीत हो जाने पर वे दोनों तृप्ति प्रदायक अमृतमय मानसिक दिव्य आहार ग्रहण करते थे। तैंतीस पक्ष अर्थात् साढ़े सोलह मास व्यतीत होने पर वे दोनों ही अहमिन्द्र समस्त दिशाओं को सुगन्धित करनेवाला स्वल्प-सा उच्छ्वास लेते थे ॥१८०॥ वे दोनों अहमिन्द्र अपने अवधिज्ञान रूपी दीपक से लोकनाड़ी पर्यंत समस्त मूर्त, योग्य द्रव्यों को पर्याय सहित अवलोकते (देखते) थे। उनकी श्रेष्ठ विक्रिया ऋद्धि भी लोकनाड़ी तक समस्त कार्य करने एवं अनेक रूप धारण करने में समर्थ थी। परन्तु वे दोनों ही अहमिन्द्र वीतरागी थे, इस स्वर्गलोक में भी मुनिराज के समान कामना रहित थे; इसलिये वे कभी विक्रिया का प्रयोग नहीं करते थे। मुनियों की जिस प्रकार ऋद्धि से उत्पन्न हुई आभरण रहित दैदीप्यमान आहारक काया होती है, उसी के समान दोनों अहमिन्द्रों की काया थी। श्री जिनेन्द्रदेव भगवान ने जिस अत्यन्त काम्य एवं उत्तम सुख का वर्णन किया है, वह उन दोनों अहमिन्द्रों के शुभ कर्म के उदय से पूर्णरूपेण प्रकट हुआ था। इस प्रकार पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से प्राप्त सुखामृत रूपी समुद्र के मध्य (बीच) मे वे दोनों ही अहमिन्द्र निमग्न हो (डूब) रहे थे।

अथानन्तर-षट् (छः) खण्डों से शोभायमान सरिता (नदी) एवं विजयार्द्ध पर्वत से विभूषित इसी मनोहर भारतवर्ष में आर्यखण्ड शोभायमान है। उसके मध्य भाग में समस्त प्रकार के धान्यों का भण्डार तथा विपुल संख्या में धर्मात्मा पुरुषों से भरा हुआ कुरुजांगल नाम का देश है। वहाँ के मनोहर वनों में वृक्षों के नीचे वज्रासन से विराजमान हो कितने ही मुनि अनेक प्रकार का ध्यान करते हैं, कितने ही सिद्धान्त का पाठ करते हैं, कितने ही काया से ममत्व त्याग कर कायोत्सर्ग धारण करते हैं तथा कितने ही धर्मोपदेश करते हैं ॥१९०॥ वहाँ की सरिताओं के मनोहर तथा शीतल तटों पर ध्यान-अध्ययन में तत्पर तथा

श्री शांतिनाथ पुराण

आरम्भ रहित कितने ही मुनिगण सर्वदा विराजमान रहते हैं । जिस प्रकार चारित्र मुनियों को फल देता है, उसी प्रकार वहाँ के आम्र आदि ऊँचे-ऊँचे वृक्ष याचकों को उत्तम-उत्तम फल देते हैं । जिस प्रकार मुनियों का चरित्र सर्वप्रकारेण तृप्तिदायक होता है, उसी प्रकार वहाँ के धान्य के पके खेत मनुष्यों को मनोवांछित फल देते हैं । वहाँ के ग्रामों में जिनके धवल (सफेद) शिखरों पर ध्वजाएँ फहरा रही हैं, ऐसे गगनचुम्बी जिनालय धर्म की खान के सदृश शोभायमान होते हैं । वहाँ पर धर्मात्माजन ही समस्त कर्मों का विनाश करने के लिए स्वर्ग से चय कर जन्म लेते हैं, क्योंकि वहाँ से प्रतिदिन कोई-न-कोई मोक्ष जाता ही रहता है वहाँ के मुनिगण निर्ममत्व की प्राप्ति के लिए एवं भव्य जीवों को धर्मोपदेश देने के लिए प्रत्येक ग्राम, खेट तथा नगर में विहार किया करते हैं । वहाँ पर पुण्यवान, दानी, श्रीजिनदेव की पूजा में तत्पर तथा श्रावकों के आचरण को विभूषित करनेवाले ही गृहस्थ सदैव निवास करते हैं । देवांगनाओं के समतुल्य वहाँ की प्रवीण (चतुर) नारियाँ दान देने में उदार हैं, शील का पालन करनेवाली हैं, धर्म धारण करनेवाली हैं, तथा रूपवती एवं लावण्यवती हैं । श्रेष्ठ नृपति का शासन होने से वहाँ की प्रजा को चोरी आदि कुछ भी हानि का भय नहीं है, वह अपने पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त अनेकानेक सुखों को सदैव भोगती रहती है । शुभ कर्म के प्रभाव से वहाँ के प्राणी अनेक प्रकार की लक्ष्मीरूपी समृद्धि से सम्पन्न हैं । वे दान-पुण्य में अहर्निश तत्पर रहते हैं तथा सदैव उत्सव आयोजित करते रहते हैं ॥२००॥ वहाँ पर उत्पन्न हुए कितने ही प्राणी दान के फल से भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं तथा कितने ही तपश्चरण के प्रभाव से स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं । कितने ही भव्य जीव चारित्र धारण कर तथा कर्म समूह को विनष्ट कर बन्धन रहित हो जाने के कारण मोक्ष में जा विराजमान होते हैं । वहाँ पर तीनों लोकों के द्वारा पूज्य निर्वाण भूमियाँ हैं, जो पुण्य कर्मों को जननी हैं तथा मुनियों के लिए वसतिका के समान हैं । उस देश में केवलज्ञानी भी धर्मवृद्धि है के लिए चतुर्प्रकार संघ को संग लेकर देवों तथा श्रावकों के अनुरोध पर विहार करते हैं । वर्णन करने योग्य उस देश के मध्य भाग में नाभि के सदृश हस्तिनापुरी नामक एक नगरी है, की जो कि स्वर्ग अलकापुरी के समतुल्य शोभायमान है । गगनचुम्बी कोट, सुदीर्घ द्वारों, खाई एवं अटारियों की पक्तियों से युक्त वह नगरी अत्यंत ही शोभायमान है तथा इस प्रकार सुरक्षित है कि कोई भी शत्रु उसकी सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकता । राजभवनों के शिखर पर फहराती हुई ध्वजाओं से वह नगरी ऐसी भव्य प्रतीत

श्री शांतिनाथ पुराण

होती है, मानो पुण्यवान देवों को धर्मसाधन करने के लिए ही वह आह्वान कर रही है । उत्तम पदार्थों से भरे हुए राजमार्ग ऐसे प्रतीत होते थे, मानो सुन्दर चरित्रवालों की सेवा करता हुआ स्वर्ग-मोक्ष का पथ ही हो । उस नगरी में श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा वर्णित अहिंसा रूप धर्म ही प्रतिदिन मुनि तथा गृहस्थों के द्वारा धारण किया जाता है । वहाँ पर इहलोक तथा परलोक सम्बंन्धी मंगल कार्यों में तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए गृहस्थों के द्वारा श्री तीर्थंकर ही आराध्य माने जाते हैं तथा उन्हीं की ही पूजा होती है ॥२१०॥ उस हस्तिनापुरी नगरी के चतुर्दिक स्थित बाह्यवर्ती उद्यान समतुल्य जन्तु रहित वनों में ध्यानादिक की सिद्धि के लिए कामना रहित योगी एवं चतुर (प्रवीण) मुनि निवास किया करते हैं । कोट, तोरणों, मनोहर, धर्मोपकरणों, शिखरों पर लगी हुई ध्वजाओं के समूह, गीत-नृत्य-वाद्य आदि का कर्णप्रिय कोलाहल, शताधिक स्तोत्रों के उच्चारण की ध्वनि तथा धर्मात्मा नर-नारियों से वहाँ के जिनालय धर्म के सागर के समतुल्य उत्तम प्रतीत होते हैं । शुद्ध वस्त्र धारण किए, कर (हाथ) में पूजा के सामग्री लिए जिनालयों की ओर गमन करती हुई नारियाँ देवांगनाओं के समतुल्य प्रतीत होती हैं । कितनी ही रूपवती रमणियाँ श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा कर अपने निवास की ओर प्रत्यागमन करती हुईं अप्सराओं के समरूप शोभामयान होती हैं । रूप-लावण्य से मनोहर कितनी ही नारियाँ श्रीजिनालय में गीत-नृत्य करती हुईं किन्नरियों के सदृश प्रतीत होती हैं । वहाँ के गृहस्थ प्रातःकाल ही शैय्या त्याग कर नित्य क्रिया से निवृत्त होकर सदैव जप-सामायिक आदि धर्मध्यान किया करते हैं । पात्रदान देने में तत्पर समस्त दानी गृहस्थ श्रावक मुनियों को दान देने के निमित्त मध्याह्न (दोपहर) के समय द्वारापेक्षण किया करते हैं । दृढ़वती पुरुष संध्या के समय प्रतिदिन पन्च-नमस्कार मन्त्र का जप-सामायिक एवं कायोत्सर्ग किया करते हैं । धर्मध्यान में तत्पर रहनेवाले वहाँ के पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिए अष्टमी एवं चतुर्दशी के दिन गृहस्थी सम्बन्धी समस्त आरम्भ त्याग कर प्रोषधोपवास किया करते हैं ॥२२०॥ वहाँ के नर-नारी धर्मपालन करने के लिए गृहस्थों के योग्य समस्त व्रतों एवं विशेषकर शीलव्रतों का पालन करते हैं । वहाँ के निवासी धर्मात्मा हैं, दानी हैं, सुन्दर हैं, धीर-वीर हैं, शीलव्रतों का पालन करनेवाले हैं, सम्यक्ज्ञानी हैं एवं सम्यग्दृष्टि हैं । पुण्यकर्म के उदय से वहाँ की नारियाँ रूपवती, हावभाव आदि में चतुर, लावण्य रूपी समुद्र की लहर के सदृश प्रतीत होती हैं । उस नगर के मध्य भाग के उत्तरी ओर स्थित भव्य राजमन्दिर किसी पर्वत के शिखर के सदृश

गगनचुम्बी हैं, द्वार आदि से कोट शोभायमान है जो अत्यन्त विशालकाय भी है तथा परिवार एवं सेवकों से भरा है, सुन्दर है, अनेक ऋद्धियों से सुशोभित है, संगीत एवं वादित्रों के शब्दों में गुन्जायमान है । उस मन्दिर में समस्त आवश्यक द्रव्य (पदार्थ) यथास्थान पर रखे हुए हैं । उनके चतुर्दिक अन्य भी लघुकाय (छोटे-छोटे) धवल (श्वेतवर्ण) भवन हैं, जो ऐसे प्रतीत होते हैं-मानो चन्द्रमा के चतुर्दिक छिटके तारे ही हों । उस राज्य में दुर्द्धर शत्रुओं को पराजित करनेवाले काश्यप गोत्र में उत्पन्न महाराज अजितसेन शासन करते थे । उनकी रानी का नाम प्रियदर्शना था । वह अनिंद्य सुन्दरी थी, अनेक गुणों से सुशोभित थी एवं बालचन्द्र आदि शुभ स्वप्नों के अवलोकन का सौभाग्य उसे प्राप्त था । राजा-रानी दोनों के पुण्य-कर्म के उदय से पूर्वोक्त ब्रह्म स्वर्ग से चय कर श्रेष्ठ गुणों के पुन्ज विश्वसेन नामक पुत्र उनके हुए थे । महाराज विश्वसेन तीन ज्ञान के धारी थे, अनेक राजे उनके चरण कमलों की सेवा करते थे । वे धर्मात्मा तथा ज्ञानी पुरुषों की विनय करते थे ॥२३०॥ श्री तीर्थंकर भगवान के वे परम भक्त थे, प्रजाजन को प्रियंकर थे, परिवार के सदस्यों को सुख देते थे । वे राज्य का समस्त भार वहन करते थे, नयनाभिराम थे, धर्मात्मा थे, ज्ञान-विज्ञान में प्रवीण थे, बुद्धिमान थे एवं विद्वान थे । उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त थीं । वे ओजस्वी वक्ता थे, उनकी कीर्ति तीनों लोकों में व्याप्त थी अर्थात त्रिभुवन में वे प्रसिद्ध थे । देव-मनुष्य-विद्याधर सर्वजन उनकी सेवा करते थे । मुकुट, कुण्डल, हार, अंगद, केयूर, कंकण आदि आभूषणों से तथा दिव्य माला एवं वस्त्रों से महाराज विश्वसेन इन्द्र के समतुल्य शोभायमान थे । अथानन्तर-गान्धार देश के गान्धार नगर में धर्म के प्रभाव से महाराज अजितन्जय राज्य करते थे । उनकी सौभाग्यशालिनी रानी का नाम अजिता था । उन दोनों के ऐरा नाम की पुत्री हुई थी, जो सनत्कुमार स्वर्ग से चय कर आई थी । यौवन अवस्था प्राप्त होने पर रूपवती सुन्दरी ऐरा का विवाह महाराज विश्वसेन के साथ विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ था । महारानी ऐरा महाराज विश्वसेन की पटटरानी थी, उनकी प्रिय थीं, समस्त प्रजाजन उनका आदर सत्कार करते थे एवं वह लावण्य रस का भण्डार थीं । सुन्दर अंग-प्रत्यंगों को धारण करनेवाली वह रानी रूप-लावण्य, कान्ति, लक्ष्मी, बुद्धि, दीप्ति एवं विभूति से इन्द्राणी के सदृश शोभायमान थीं । वह अपनी कान्ति से चन्द्रमा की कला के सदृश प्रजाजन को आनन्द देती थीं एवं ऐसी प्रतीत होती थीं, मानो देवागंनाओं के रूप का समस्त सार लेकर ही उनकी रचना हुई हो ॥२४०॥ वह मनोहर थीं, मनोज्ञ थीं,

सरस्वती के सदृश प्रिय थीं, विज्ञान में कुशल थीं, चतुर थीं, कलाओं की ज्ञाता थीं । उनका मुख सदा प्रसन्न रहता था एवं उनका स्वर अत्यन्त ही मिष्ट था । धर्मकार्यों में गमन करते समय शुभ लक्षणों से सुशोभित उनके दोनों चरण ऐसे प्रतीत होते थे, मानो अशोक वृक्ष के पत्र (पत्ते) ही हों । वे चरण मणियों से निर्मित घुँघरूओं की झकारों से गुन्जायमान थे, देव उन चरणों की सेवा करते थे, अत्यंत कोमल थे एवं नख रूपी चन्द्रमा की किरणों से वे व्याप्त थे । केले के स्तम्भ के सदृश उनकी जंघा अत्यन्त मोहक प्रतीत होती थी एवं काँची देश में निर्मित शाल से ढँका हुआ उसका कटिमण्डल अत्यन्त मनोरम प्रतीत होता था । उनका हृद्-प्रदेश यौवन की कुन्जी के समतुल्य दो उरोज रूपी कुम्भों से शोभायमान था एवं उस पर पड़ा हुआ दिव्य हार उनकी शोभा को द्विगुणित कर रहा था । उनके दोनों कर (हाथ) कंकणों से सुशोभित थे, भगवान की सेवा करने में तत्पर थे, कमलनाथ की शोभा को परास्त करते थे एवं अत्यन्त मनोहर थे । उनका कण्ठ गीत एवं स्वर की माधुरी से शोभायमान था एवं कण्ठाभरण से अलंकृत था । उनका गण्डदेश कोमल था, मनोहर था एवं पुत्र के आलिंगन हेतु सदैव तत्पर था । उनक मुख की कान्ति चन्द्रमण्डल के समतुल्य थी । वह सरस्वती के आलय (गृह) के समकक्ष संसार में शोभायमान थी । उनके दोनों कर्ण श्रुतज्ञान से सुशोभित थे एवं श्रुतदेवता की पूजन सामग्री के सदृश कर्णों में धारण किए हुए आभरणों की रचना से अत्यन्त मनोज्ञ प्रतीत हो रहे थे । उनके नयन स्निग्ध थे, मनोहर थे, विभ्रम-विलास युक्त थे, तीर्थंकर भगवान के मुखकमल दर्शन के लिए लालायित थे एवं कज्जल से सुसज्ज थे ॥२५०॥ उसका मस्तक भौंरे समतुल्य कृष्ण केशराशि से सुशोभित था, पुष्प-गन्ध आदि से सुगन्धित था एवं सच्चे देव-गुरु को ही नमस्कार करता था । पुण्य ही उसकी जननी थी, लज्जा ही उसकी सखी थी एवं गुण ही उसके परिजन थे । वह दिव्य वस्त्र धारण किए हुए थी, उत्तम श्रृंगार रचना से सुशोभित थी एवं ऐसी प्रतीत होती थी मानो ब्रह्मा (नामकर्म) ने कोमल एवं मनोहर परमाणुओं से ही उसकी रचना की हो । इस संसार में कवियों ने नारियों के जितने भी उत्तम लक्षणों का वर्णन किया है, वे समस्त महादेवी ऐरा को शुभ काया में विद्यमान थे । हम वीतराग हैं, इसलिए हमने उन लक्षणों का विस्तृत वर्णन नहीं किया क्योंकि श्रृंगार रस की पुष्टि होने से मनुष्यों के हृदय में राग की वृद्धि होती है । जिस प्रकार इन्द्र को अपनी इन्द्राणी प्रिय होती है, उसी प्रकार रानी ऐरा अपने पति को प्राणों से भी अधिक प्रिय थी, उत्कृष्ट प्रणय की पात्री

श्री शांतिनाथ पुराण

थी । महाराज विश्वसेन अपने पुण्यकर्म के उदय से सुयोग्य रानी ऐरा के साथ अवस्थानुकूल तृप्तिदायक सांसारिक सुख भोगते थे । अथानन्तर-सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से जब यह ज्ञात कर लिया कि महाराज मेघरथ के जीव अहमिन्द्र की आयु षट् (छः) मास ही शेष रह गई है, तब उसने कुबेर से कहा-'कुरुजांगल देश की हस्तिनापुरी नगरी में महाराज विश्वसेन राज्य करते हैं, उनकी महारानी ऐरा के शुभ गर्भ से धर्म के नाथ, जगतपूज्य, मुक्ति रूपी रमणी के भर्ता एवं चराचर समस्त जीवों को शान्ति प्रदान करनेवाले षोडश (सोलहवें) तीर्थंकर भगवान श्री शान्तिनाथ अवतार लेंगे । इसलिए , हे धनाधीश ! पुण्य सम्पादन (उपार्जन) करने के हेतु तुम वहाँ जाओ एवं अतिशय प्रसन्नता के संग उनके प्रांगण में अतुल आश्चर्य प्रकट करनेवाली रत्नों की अजस्र वर्षा करो' ॥२६०॥ उपरोक्त उक्ति सुन कर उस कुबेर के भक्तिभाव द्विगुणित हो गए एवं वह इन्द्र की आज्ञा को शिरोधार्य कर पुण्य सम्पादन करने के लिए शीघ्र ही महाराज विश्वसेन के नगर में आया । वह प्रतिदिन महाराज विश्वसेन के राजप्रांगण में बहुमूल्य वैडूर्य, पद्मराग, आदि मणियों एवं उत्तम सुवर्ण की वर्षा करने लगा । रत्नों की वर्षा में गंगा, सिन्धु आदि नदियों के जल के शीतल कण थे, भगवान के जन्म को सूचित करनेवाले कल्पवृक्षों से उत्पन्न अनेक प्रकार के मनोहर सुगन्धित पुष्प थे । रत्नों की धारा गजराज ऐरावत की सूंड़ के समकक्ष विस्तृत थी एवं ऐसी मनोज्ञ प्रतीत होती थी मानो साक्षात् धर्म रूपी वृक्ष के अंकुरों की श्रृंखला ही हो । गगन (आकाश) को आच्छादित कर गिरती हुई रत्नों की धारा ऐसी प्रतीत होती थी, मानो स्वर्ग की लक्ष्मी ही धारा बन कर महादेवी ऐरा की सेवा करने के निर्मित पृथ्वी पर आ रही हो । व्योम (आकाश) से पतित (गिरती हुई) सुवर्णमयी वर्षा ऐसी प्रतीत होती थी, मानो अपनी शोभा से मनुष्यों को पुण्य का फल प्रत्यक्ष प्रदर्शित कर रही हो । महाराज विश्वसेन का प्रासाद रत्न एवं सुवर्ण की घनघोर वृष्टि से पूर्णतया आप्लावित हो उठा । इस अद्भुत प्रभाव (अतिशय) को देख कर समस्त प्रजा धर्माचरण करने में तत्पर हो गयी । ऐरा महादेवी का महल देवों ने सुवर्ण एवं रत्नों की वर्षा से आप्लावित कर दिया,फलस्वरूप मणियों की असंख्य किरणों से उद्भासित वह राजमहल ताराओं के समूह के समतुल्य दृष्टिगोचर होता था । इस प्रकार वह कुबेर प्रसन्न होकर पुण्य सम्पादन करने के निर्मित षट् (छः) मास तक प्रतिदिन बहुमूल्य रत्नों की वर्षा करता रहा ॥२७०॥ अथानन्तर-प्रथम स्वर्ग के इन्द्र ने धर्म की प्रेरणा से पद्मद्रह आदि के कमलों पर निवास

करनेवाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी-इन देवियों से कहा कि महाराज विश्वसेन की महादेवी ऐरा के पवित्र गर्भ से तीर्थंकर चक्रवर्ती एवं कामदेव-इन तीनों पदों से सुशोभित भगवान श्री शान्तिनाथ अवतार लेंगे। इसलिए तुम अति शीघ्र वहाँ पहुँचो एवं भगवान के जन्म के लिए योग्य उत्तम पवित्र द्रव्य से महारानी ऐरा की गर्भशोधना करो। इन्द्र की आज्ञा से देवियों ने पवित्र द्रव्यों से गर्भ का शोधन कर उसे शुद्ध स्फटिक के समान कर दिया। 'श्री' देवी ने भगवान की माता में लक्ष्मी का, 'ह्री' देवी ने लज्जा का, 'धृति' देवी ने धैर्य का, 'कीर्ति' देवी ने स्तुति का, 'बुद्धि' देवी ने ज्ञान का एवं 'लक्ष्मी' देवी ने सम्पदा का रूप स्थापन किया। इस प्रकार वे देवियाँ माता में अपने-अपने गुणों की अलग-अलग स्थापना कर पुण्य उपार्जन (सम्पादन) करने के निमित्त से उनकी सेवा-सुश्रुषा करने लगीं।

अथानन्तर-महाराज विश्वसेन के मोतियों से सुशोभित, रत्नमय, मनोहर भवन में सुन्दर कोमल शैय्या पर ऋतुस्नान करने के पश्चात् महारानी ऐरा शयन कर रही थीं। उसी दिन रात्रि के शेष (पिछले) प्रहर में रानी ऐरा देवी ने भगवान के जन्म को सूचित करनेवाले एवं श्रेष्ठ फल प्रदायक षोडश स्वप्न देखे। उन्होंने प्रथम स्वप्न में शरद् ऋतु के मेघ सदृश गरजता हुआ एवं गजराज ऐरावत के समकक्ष उत्तुंग मदोन्मत्त गजराज देखा। द्वितीय स्वप्न में एक वृषभ देखा जिसका स्कन्ध नगाड़े के समान समन्नत था, वह स्थूलकाय था, धीरे-धीरे हुँकार रहा था एवं ऐसा प्रतीत होता था मानों अमृत की राशि ही हो ॥२८०॥ तृतीय स्वप्न में उसने एक सिंह देखा, चन्द्रमा की छाया के सदृश उसकी काया थी, उसका स्कंध रक्तवर्णी (लाल) था एवं ऐसा आभास होता था मानो अपने पुत्र का संचय (एकत्रित) किया हुआ पराक्रम ही हो। चतुर्थ स्वप्न में उन्होंने लक्ष्मी को देखा, जो उच्च सुवर्ण सिंहासन पर विराजमान (बैठी) थी, ऐरावत गजराज उसे सुवर्ण के कलशों से स्नान करा रहे थे-वह लक्ष्मी उसे अपनी ही लक्ष्मी प्रतीत (समृद्धि) होती थी। पंचम स्वप्न में उसने आनंद से झूलती हुईं दो मालाएँ देखीं, मालाओं की सुगन्धि से उन्मत्त भ्रमर उन पर गुन्जार कर रहे थे एवं उन भ्रमरों के झंकारों से वे मालाएँ ऐसी प्रतीत होती थीं, मानो उन्होंने संगीत (गुंजन) करना ही आरम्भ कर दिया हो। षष्ठ (छट्ठे) स्वप्न में उसने चन्द्रमा देखा, जो समस्त कलाओं से पूर्ण था, ताराओं सहित था, अत्यंत शीतल चाँदनी उससे विकीर्ण हो रही थी, अन्धकार को वह विनष्ट कर रहा था एवं ऐसा आभास हो रहा था मानो भगवान की माता का चन्द्रमुख ही हो। सप्तम स्वप्न में उसने

उदयाचल से प्रकट होता हुआ सूर्य देखा, जो कि अन्धकार का विनाश कर रहा था एवं ऐसा प्रतीत होता था मानो सुवर्ण से निर्मित कलश ही हो । अष्टम स्वप्न में उसने रत्नों से ढँके हुए दो सुवर्णमय कलश देखे, जो ऐसा आभास दे रहे थे, मानो श्रीजिनेन्द्रदेव के मुखकमल से आवृत्त स्नान करने हेतु पात्र ही हों । नवम स्वप्न में उसने स्वच्छ जल से परिपूर्ण पक रहित एक सरोवर देखा, जिसमें कुमुदिनी एवं कमल दोनों ही विकसित थे एवं उस मनोहर सरोवर में दो मीन (मछलियाँ) क्रीड़ा कर रही थीं । दशम स्वप्न में उसने एक सरोवर देखा, जिसका जल तैरते हुए कमलों के पराग व केशर से पीतवर्णी (पीला) हो रहा था एवं ऐसा प्रतीत होता था मानो वह सुवर्ण से चूर्ण से ही भरा हुआ हो । एकादश स्वप्न में उसने एक समुद्र देखा, जो कि क्षुब्ध हो रहा था, जिसमें लहरें उठ रही थीं, अनेक रत्न जिसमें पड़े हुए थे एवं ऐसा परिलक्षित हो रहा था मानो अवतीर्ण होनेवाले अपने भावी पुत्र (तीर्थंकर) के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूपी रत्नत्रय का स्थान ही हो । द्वादश स्वप्न में उसने सुवर्ण से निर्मित एक सिंहासन देखा, जो बहुत उत्तुंग था, अनेक मणियाँ उसमें जड़ी हुई थीं एवं वह ऐसा प्रतीत होता था मानो मेरु पर्वत का एक उत्तुंग शिखर ही हो ॥२९०॥ त्रयोदश स्वप्न में उसने एक देव विमान देखा, जो बहुमूल्य रत्नों से दैदीप्यमान था एवं ऐसा परिलक्षित होता था मानों देवों के द्वारा निर्मित प्रसूति भवन ही हो । चतुर्दश स्वप्न में उसने पृथ्वी को विदीर्ण कर प्रकट होता हुआ नागेन्द्र का भवन देखा, जो नयनाभिराम था, सुवर्ण व रत्नों से निर्मित था एवं ऐसा आभासित हो रहा था, मानो श्रीजिनालय ही हो । पन्चदश स्वप्न में उसने अत्यन्त दैदीप्यमान रत्नों की महाराशि देखी, जो ऐसी परिलक्षित होती थी मानो अपने पुत्र के निःस्वेद (पसीना न आना) आदि गुणों का समूह ही हो । षोडश स्वप्न में उसने धूम्र रहित जलती हुई जाज्वल्यमान अग्नि देखी, जो ऐसी प्रतीत होती थी मानो अपना महा उज्ज्वल प्रताप ही अग्नि का मूर्तिमंत रूप धारण कर उपस्थित हो गया हो । इन समस्त स्वप्नों के अन्त में उसने सर्व लक्षणों से सुशोभित, सुवर्ण की कान्तिवाले, विशाल देहधारी गजराज को अपने मुखकमल में प्रवेश करता हुआ देखा । तदनन्तर जिस प्रकार सीप में मोती का बिन्दु प्रवेश करता है, उसी प्रकार शुभ कर्म के उदय से भाद्रपद कृष्णा सप्तमी के दिन शुभ भरणि नक्षत्र में महाराज मेघरथ का जीव सर्वार्थसिद्धि विमान से चय कर महादेवी ऐरा के पवित्र गर्भ में प्रविष्ट हुआ । इस प्रकार पुण्य कर्म के उदय से सर्व प्रकारेण मलों से रहित भगवान श्री शान्तिनाथ अपने कर्म

श्री शांतिनाथ पुराण

रूपी शत्रुओं को विनष्ट करने के लिए देवियों के द्वारा संशोधित रानी ऐरा के मोक्ष तुल्य दुःख रहित मनोहर दिव्य गर्भ में अवतरित हुए। भगवान श्री शान्तिनाथ के जीव ने धर्म के प्रभाव से मनुष्य भव में भी अनेक प्रकार के सुख भोगे थे एवं स्वर्ग में भी ग्रैवेयक, सर्वार्थसिद्धि आदि विमानों में भी उन्होंने विविध प्रकार के अपार सुख भोगे थे। अनेक इन्द्र उनकी पूजा एवं सेवा करते थे। भगवान श्री शान्तिनाथ अत्यन्त मनोहर थे एवं तीनों ज्ञानों से सुशोभित थे। यही समझ कर बुद्धिमानीं को भगवान श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा वर्णित पूर्ण धर्म का पालन करते रहना चाहिए। इस संसार में जीवों को धर्म के ही प्रभाव से सुख प्राप्त होता है, धर्म के ही प्रभाव से अनेक भोग एवं गुणों का सागर. स्वर्ग मिलता है, धर्म के ही प्रभाव से शत्रु रहित सु-राज्य मिलता है, धर्म के ही प्रभाव से तीनों लोकों में उत्पन्न होनेवाले वैभव रूपी लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥३००॥ धर्म के ही प्रभाव से देवों के द्वारा पूज्य इन्द्र पद प्राप्त होता है। धर्म के ही प्रभाव से चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है, जिसकी सेवा बत्तीस सहस्र नृपति किया करते हैं। धर्म के ही प्रभाव से तीनों लोकों के द्वारा पूज्य तीर्थंकर पद प्राप्त होता है एवं धर्म के ही प्रभाव से धार्मिक जन अक्षय सुख प्रदायक मोक्ष में जा विराजमान होते हैं। मोक्ष का साक्षात् कारण मुनियों का उत्तम धर्म भी सम्यग्दर्शन से प्रकट होता है, सम्यक्ज्ञान से प्रकट होता है। सम्यक्चारित्र से प्रकट होता है, समस्त इन्द्रियों का दमन करने से प्रकट होता है, मन का निग्रह करने से प्रकट होता है एवं आत्मा का ध्यान करने से प्रकट होता है। पात्रों को दान देने से, श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करने से, परमदेव तीर्थंकर का स्मरण करने से, व्रतों का पालन करने से, प्रोषधोपवास करने से एवं परोपकार करने से स्वर्ग के सुखों का प्रदायक गृहस्थों का धर्म प्रगट होता है। जो जीव मन-वचन-काय के सुख के सागर एकमात्र धर्म का ही पालन करते हैं, वे श्री शान्तिनाथ भगवान के समान स्वर्ग-सुख एवं मनुष्यगति के चरम सुख भोग कर अन्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस संसार में धर्म ही स्वर्गों के सुखों का प्रदाता है एवं गुण प्रकट करनेवाला है। इस धर्म का ही आश्रय मुनिराज भी लेते हैं, क्योंकि धर्म से ही यह पुरुष संसार रूपी समुद्र से उत्तीर्ण (पार) होता है। इसलिए मैं भी धर्म के लिए ही सर्वदा भगवान श्री शान्तिनाथ को नमस्कार करता हूँ। धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई मोक्ष का कारण नहीं है। धर्म की जड़ सम्यग्दर्शन है। इसलिए मैं अपने मन-वचन-काय को धर्म में ही प्रवृत्त करता हूँ। हे धर्म ! इस संसार में अशुभ मोह से मेरी रक्षा कर। भगवान श्री शान्तिनाथ समस्त पापों

श्री शांतिनाथ पुराण

की शान्ति करने वाले हैं, धर्मात्मा जीवों के शरण हैं, संसार-काम आदि के सन्ताप से सन्तप्त जीवों के समस्त दुःख निवारण करने वाले हैं। मैं श्री शान्तिनाथ भगवान को समस्त दुःख एवं पाप विनष्ट करने के लिए तथा समस्त व्यसनों की शान्ति करने के लिए नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार श्री शान्तिनाथ पुराण में अहमिन्द्र के गर्भावतरण का वर्णन करनेवाला बारहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥१२॥

तेरहवाँ अधिकार

अथानन्तर-वह मंगल करनेवाली महादेवी ऐरा प्रातःकाल में तुरई आदि वादित्रों की मधुर ध्वनि सुनकर जगीं एवं बन्दीजनों के मंगल गीत सुनने लगीं। बन्दीजन कहने लगे-'हे देवी ! अब आप के जागने का समय हो गया है, क्योंकि यह प्रातःकाल का समय धर्मध्यान के योग्य है। इस योग्य समय में कितने ही जैन धर्मावलम्बी मोक्ष प्राप्त करने के निमित्त चन्चल योगों का निरोध कर सुख प्रदायक उत्तम सामायिक करते हैं। कितने ही प्राणी धर्मसाधन करने के निमित्त एकाग्रचित्त से समस्त विघ्नों का निवारण करनेवाले चपरमेष्ठियों के नमस्कार मन्त्रों का जाप करते हैं। मोख रूपी रमणी में आसक्त हुए कितने ही प्राणी शैय्या त्याग कर चित्त का निरोध कर कर्मों का विनाश करनेवाला अरहन्तों का ध्यान करते हैं। इस समय कितने ही धीर-वीर मुनि केवल मोक्ष प्राप्त करने के अभिप्राय से देह से ममत्व का त्याग कर संसार रूपी सागर से उत्तीर्ण होने के लिए जलपोत के सदृश कायोत्सर्ग को धारण करते हैं। इसी प्रातःकाल के समय कितने ही प्राणी कार्य से अनुराग त्याग कर धर्म से प्रेम करने लग जाते हैं। इसलिए हे देवी ! आप भी इस समय धर्म से ही प्रीति कीजिए। यह संसार अनित्य है-प्राणियों को यही बतलाने के लिए चन्द्रमा अस्ताचल के सम्मुख हो गया है, उसकी किरणें भी मन्द पड़ गईं हैं एवं कान्ति भी मन्द हो गई है। जिस प्रकार सूर्य की किरणों से समस्त कमल प्रफुल्लित हो उठता हैं, उसी प्रकार श्री जिनेन्द्रदेव के शुभ वचन रूपी किरणों से भव्य जीवों का मन रूपी कमल प्रफुल्लित हो उठता है ॥१०॥ जिस प्रकार प्रातःकाल के समय सूर्य के सम्पर्क से कुमुदिनियों का समूह संकुचित हो उठता है, उसी प्रकार श्री जिनेन्द्रदेव के वचनों से अभव्य जीवों का हृदय कमल भी संकुचित हो जाता है। जिस प्रकार प्रातःकाल में सूर्योदय होने पर रात्रि का अन्धकार सब नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार श्री जिनेन्द्रदेव के वचनों से अज्ञान नष्ट हो जाता

है । अधिक कहने से क्या लाभ ? पापों को शान्त करने के लिए रात्रि व्यतीत हो गयी है एवं प्रभात के होने से बहुत-से प्राणी धर्मध्यान में प्रवृत्त हो गए हैं । इसलिए हे देवी ! अब शीघ्र ही शैय्या त्यागिए एवं प्रातःकाल के समय स्तोत्र का स्मरण कर धर्म का सेवन कीजिए । हे सुमंगले ! इसी धर्म के सेवन करने से ही इहलोक में इन्द्राणी आदि से उत्पन्न हुए एवं परलोक में स्वर्गादिकों से उत्पन्न हुए मंगलों (कल्याणकों) को आप प्राप्त होंगी ।' सती महादेवी ऐरा पहिले ही जाग गईं थीं, फिर भी बन्दीजनों ने नियमानुसार उन्हें इस प्रकार प्रबोधित किया । उस समय महादेवी ऐरा का मुख उत्तम स्वप्नों के दिखने के कारण कमलिनी के समान प्रफुल्लित हो रहा था । वह शैय्या से उठीं एवं समस्त मंगल कार्यों की सिद्धि के लिए धर्म का कारणभूत भगवान का स्मरण करने लगीं । उन्होंने स्नानादि नित्य कर्म सम्पन्न किया, वस्त्राभरण पहने एवं फिर वह कल्पबेल के सदृश बाहर निकलीं । उस समय श्वेत छत्र से वह शोभायमान हो रही थीं । जिनवाणी के सदृश सब को प्रिय लग रही थीं । चारों ओर अवगुंठन (परदा) आदि डालकर अपना महोदय प्रकट कर रही थीं । जिस प्रकार चन्द्रमा की रेखा रात्रिगमन में प्रवेश करती है, उसी प्रकार अपनी अन्तरंग विशेष सेविकाओं के संग रानी ने महाराज की सभा में प्रवेश किया ॥२०॥ महाराज ने रानी को देखकर उनका योग्य अभिवादन किया एवं अपने स्नेह को सूचित करते हुए अपना अर्ध सिंहासन उन्हें आसन हेतु प्रदान किया । महादेवी आसन पर सुख से विराजमान हुईं एवं अपने प्रसन्न मुखकमल से तीनों ज्ञानों को धारण करनेवाले अपने पति से कहने लगीं-'हे देव ! रात्रि के शेष प्रहर मैं सुख से सो रही थी । उस समय मैंने महा अभ्युदय को सूचित करनेवाले षोडश स्वप्न देखे । हे देव ! वे स्वप्न अत्यन्त अद्भुत माहात्म्य को प्रकट करनेवाले हैं तथा उत्तम फल सम्पादन करने में समर्थ हैं । मैं उनका वर्णन करती हूँ, आप ध्यानपूर्वक सुनिए-(१) पर्वताकार विशालकाय गजराज, (२) घनघोर हुंकार करता हुआ उत्तुंग वृषभ, (३) पर्वत के शिखर को उल्लंघन करता हुआ सिंह, (४) ऐरावत गजराजों के द्वारा जलाभिषिक्त लक्ष्मी, (५) लटकती हुई दो मालायें, (६) व्योम (आकाश) को प्रकाशित करता हुआ चन्द्रमा, (७) उदय होता हुआ सूर्य, (८) दो सुन्दर मत्स्य (मछलियाँ) (९) अमृत से परिपूर्ण दो कुम्भ, (१०) स्वच्छ जल से परिपूर्ण एवं पद्म पुष्पों से शोभायमान सरोवर, (११) रत्नों से परिपूर्ण समुद्र, (१२) सुवर्ण निर्मित सिंहासन, (१३) स्वर्ग से आता हुआ विमान, (१४) पृथ्वी विदीर्ण कर निकलता हुआ नागेन्द्र भवन,

(१५) जिसकी किरणें चारों ओर विकीर्ण हो रही हों, ऐसी रत्नराशि, (१६) कनक के सदृश निर्मल (धूम्र-रहित) अग्नि-ये षोडश स्वप्न मैंने देखे थे। हे स्वामिन् ! मुझ पर कृपाकर इन स्वप्नों के फलाफल का वर्णन कीजिए, क्योंकि मेरे हृदय में इनके जानने की आकांक्षा प्रबल हो रही है' ॥३०॥ तदनन्तर महाराज ने अपने अवधिज्ञान से उन स्वप्नों का फलाफल ज्ञात कर लिया एवं अपने प्रफुल्लित मुखकमल से महादेवी को एक-एक समझाकर कहने लगे-'हे देवी ! महान् अभ्युदय को प्रकट करनेवाले तेरे स्वप्नों का एकत्रित फल उत्तम पुत्र की प्राप्ति है। अब मैं पृथक-पृथक् फल कहता हूँ, तुम चित्त लगा कर सुनो। गजराज के देखने से तेरे महान यशस्वी तीर्थंकर पुत्र होगा; वह राज्य करेगा, समस्त संसार उसकी पूजा करेगा एवं तीनों लोकों का वह परम उपकारी होगा। महा वृषभ (बैल) के देखने से वह तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ होगा एवं संसार में धर्म रूपी रथ को चलाने में वही समर्थ होगा। सिंह को देखने से से उसमें अनन्त शक्ति होगी एवं समस्त अशुभ कर्म रूपी गजराजों का मद निवारण करने के लिए तथा उनका विनाश करने के लिए वह सिंह के सदृश समर्थ होगा। दो मालाओं के देखने से वह अनेक प्रकार के सुख प्रदायक धर्म तीर्थ का कर्ता होगा। लक्ष्मी के देखने से सब इन्द्रों के द्वारा क्षीरसागर के जल से मेरु पर्वत के ऊपर उसका महा ऋद्धियों को सूचित करनेवाला महाभिषेक होगा। पूर्ण चन्द्रमा के अवलोकन से वह जीवों को प्रसन्न करनेवाला एवं समस्त संसार को आनन्द देनेवाला होगा एवं धर्म रूपी अमृत की महावृष्टि से भव्य (प्राणी) रूपी धान्यों को सींचनेवाला होगा। सूर्य के देखने से संसार के समस्त रूपों पर विजय पानेवाला होगा। सूर्य समतुल्य कान्ति होगी। वह कामदेव, अत्यन्त रूपवान एवं तीर्थंकर होगा तथा दिव्य परमाणुओं से उसकी देह की रचना हुई होगी। दो कलशों के देखने से उसे अखण्ड निधियाँ प्राप्त होंगी, वह धर्म रूपी अमृत से भरपूर होगा, तीर्थंकर होगा, अनेक ऋद्धियों से सुशोभित होगा एवं समवशरण की विभूति उसे प्राप्त होगी ॥४०॥ दो मत्स्यों को देखने से मनुष्यलोक तथा स्वर्गलोक के समस्त सुख उसे प्राप्त होंगे तथा उसका हृदय सम्पूर्ण जीवों पर दया करनेवाला होगा। सरोवर के देखने से उसकी काया पर एक शतक अष्ट (१०८) लक्षण तथा नौ शतक (९००) व्यन्जन होंगे। वह कला एवं विज्ञान में प्रवीण (चतुर) होगा। समुद्र के देखने से वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान तथा अनन्त वीर्य का धारक होगा तथा रत्नत्रय आदि रत्नों की खानि होगा। सिंहासन के देखने से वह जगत्गुरु जिनेन्द्र भगवान इन्द्र, नरेन्द्र आदि

श्री शांतिनाथ पुराण

के द्वारा मान्य होगा तथा समस्त भोगों का स्थान साम्राज्य प्राप्त करेगा स्वर्ग से आते हुए विमान के दर्शन से देवों के द्वारा पूज्य वह तीर्थंकर भगवान धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने हेतु स्वर्ग से आकर अवतार लेगा। नागेन्द्र का भवन देखने से उसके समस्त संसार को प्रगट करनेवाला अवधिज्ञान होगा तथा इहलोक एवं परलोक दोनों लोक सम्बन्धी हित-अहित के ज्ञान में वह निपुण होगा। रत्नराशि के देखने से वह तीर्थंकर अनन्त गुणों की खानि होगा तथा विश्वविश्रुत नर-रत्न होगा। निर्धूम अग्नि के देखने से वह तीर्थंकर भगवान अपने शुक्लध्यान रूपी अग्नि से कर्म रूपी ईंधन के प्रचण्ड समूह को भस्मीभूत करने में अवश्य समर्थ होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। अन्त में तूने जो मुख में गजराज को प्रवेश करते हुए देखा है, उसका फल यह है कि तेरे गर्भ में श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर ने अवतार ले लिया है।' सुन्दर मुखाकृतिवाले वह महादेवी इस प्रकार स्वप्नों का फल सुनकर बहुत सन्तुष्ट हुईं, उनकी देह रोमांचित हो आयी तथा उन्हें अपार आनन्द की अनुभूति हुई ॥५०॥

उसी समय स्वर्ग में अपने-आप घण्टों का महानाद होने लगा तथा बिना किसी के झंकृत किए (बजाने) ही देवों के बड़े नगाड़े (अनदह वाद्य) स्वयमेव बजने लगे। उसी समय कल्पवृक्षों से बहुत-से पुष्पों की वर्षा होने लगी तथा शीतलमन्द-सुगन्धित-कोमल तथा प्रियकर वायु प्रवाहित होने लगी। भगवान के गर्भावतरण के प्रभाव से इन्द्रों के आसन प्रकम्पित हो उठे तथा उनके मुकुट स्वयं ही कुछ नत हो गए। इन समस्त आश्चर्यों को अवलोक कर देवों ने अवधिज्ञान से भगवान का गर्भावतरण ज्ञात कर लिया तथा गर्भ कल्याणक का उत्सव मनाने के लिए वे प्रस्तुत हुए। भगवान के गर्भावतरण के प्रभाव से ज्योतिर्लोक में भी तुमुल सिंहनाद हुआ तथा पूर्व वर्णित समस्त आश्चर्य प्रकट हुए। व्यन्तर देवों के विमानों (स्थानों) में भी स्वयंमेव भेरीनाद होने लगा तथा स्वर्ग में जो-जो आश्चर्य हुए थे, वे सब यहाँ भी होने लगे। भवनवासी देवों के भवनों में भी स्वयंमेव शंखध्वनि होने लगी तथा पूर्वोक्त सम्पूर्ण आश्चर्य यहाँ भी स्वयंमेव होने लगे। तदननतर समस्त इन्द्रगण आदि को संग लेकर सौधर्म इन्द्र आए। प्रत्येक इन्द्र के संग उनकी अपनी-अपनी सतरंगिणी (७ प्रकार की) सेना थी। वे अपने-अपने वाहनों पर आ रहे थे। तुरई आदि अनेक प्रकार के वाद्यों की ध्वनि से सर्व दिशाएँ गुन्जायमान हो रहीं थीं। नृत्य-गीतों में वे सब निमग्न थे। भगवान का गर्भ-कल्याणक उत्सव मनाने की उनकी आकांक्षा थी। वे समस्त देवगण उत्सव

आयोजन में मग्न हो गए थे । उनकी देवागनाएँ उनके संग थीं तथा समस्त अनुगत देव भी उनके संग थे । इस प्रकार गर्भ-कल्याणक की पूजा करने के लिए वे समस्त देव क्षणभर में ही महाराज विश्वसेन के राजमहल में आ पहुँचे ॥६०॥ उसी प्रकार सूर्य-चन्द्रमा आदि समस्त ज्योतिषी देव भी अपने-अपने परिवार के साथ भगवान की माता के निवास पर आए । इसी प्रकार समस्त व्यन्तर देव भी अपनी विभूति एवं देवियों के साथ प्रसन्न होकर पुण्य सम्पादन करने के लिए भगवान के गर्भ-कल्याणक में आए । उसी प्रकार महान ऋद्धि को धारण करनेवाले भवनवासी देवों के इन्द्र भी अपनी निकायों (भवनवासी देवों) के संग धर्मसाधन करने की अभिलाषा से पृथ्वी पर आए । इस प्रकार महाराज विश्वसेन का निवास देवों से, उनकी सेना, विमानों एवं वाहनों से आप्लावित हुआ आकाश, वन एवं नगर के समतुल्य परिलक्षित हो रहा था । तदनन्तर सम्पूर्ण देवों से परिवेष्टित एवं परमानन्द में निमग्न सौधर्म इन्द्र ने अपनी इन्द्राणी के संग केवल धर्मसाधन करने के लिए अनन्य भक्ति से माता के गर्भ में विराजमान श्री जिनेन्द्रदेव की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं एवं दैदीप्यमान मुकुट से सुशोभित अपना उत्तम मस्तक झुका कर उनको नमस्कार किया । फिर उसने बहुमूल्य एवं दिव्य-वस्त्राभरणों से भगवान के माता-पिता की पूजा की एवं फिर उनके सम्मुख मनोहर हावभावों से नाटयशास्त्र के क्रम से उत्पन्न आनन्दोत्सव प्रकट करनेवाला 'आनन्द' नाम का उत्तम नाटक प्रस्तुत किया । तदनन्तर अपना कार्य समाप्त कर सौधर्म इन्द्र ने पुण्य सम्पादन करने के निमित्त से भगवान की माता की सेवा में दिक्कुमारियों को नियुक्त किया एवं उत्तम आचरणों के द्वारा महाधर्म का उपार्जन कर वह समस्त देवों के साथ अपने स्थान को लौट गया ॥७०॥ तदनन्तर चारों निकायों के प्रवीण (चतुर) देव अपना-अपना कार्य सम्पादित कर परम आनन्द मनाते हुए एवं प्रसन्न-वदन अपने-अपने इन्द्र तथा देवागनाओं के साथ अनेक प्रकार के भावों से महती पुण्य सम्पादन कर अपने-अपने स्थान को चले गये । सम्पूर्ण देवों के प्रत्यावर्तन के उपरान्त भगवान की माता की आज्ञा पालन करनेवाली वे दिक्कुमारी देवियाँ केवल पुण्य सम्पादन करने के निमित्त से अपने-अपने योग्य सेवा कार्यों द्वारा माता की सेवा-सुश्रुषा करने लगीं । कितनी ही देवियाँ उन्हें ताम्बूल देने लगीं एवं कितनी ही दिक्कुमारियाँ उन्हें स्नान कराने के कार्य पर नियुक्त हुईं । कितनी ही दिक्कुमारियाँ ने उनका भोजन बनाने का कार्य सँभाल लिया, कितनी ही शैय्यासज्जा में प्रवृत्त हो गईं तथा कितनी ही पुण्य सम्पादन के लिए उनके पग-मर्दन (पैर दबाने) में

संलग्न हो गईं । कोई देवी प्रसन्न होकर स्वयं दिव्य सुगन्धित द्रव्यों से तथा कुँकम-कज्जल से माता का श्रृंगार करने लगी । हार, कंकण, केयूर आदि विविध आभरणों को प्रसन्नता के साथ पहनाती हुई कई देवियाँ कल्पलता के समतुल्य सुशोभित हो रही थीं । कल्पलता के सदृश कितनी ही दिक्कुमारियाँ उन्हें रेशमी वस्त्र समर्पण करती थीं एवं कितनी ही उन्हें दिव्य मालाएँ पहनाती थीं । कितनी ही दिक्कुमारियाँ हस्त में अस्त्र लेकर विशेष यत्न के संग भगवान की माता के सर्वांग की रक्षा करने में सन्नद्ध सर्वदा प्रस्तुत थीं ॥८०॥ कितनी ही दिक्कुमारियाँ सुवर्ण एवं रत्नों से निर्मित हुए तथा अनेक व्यक्तियों से परिपूर्ण पुष्पों के पराग से सुवासित आँगन परिष्कृत कर (झाड़) रही थीं । कितनी ही दिक्कुमारियाँ पृथ्वी पर चन्दन के छींटें दे रही थीं एवं कितनी ही सावधान होकर गीले वस्त्र से उसे पोंछ रही थीं । कितनी ही दिक्कुमारियाँ माता के सम्मुख रत्नों के चूर्ण से स्वस्तिक की रचना कर रही थीं एवं कितनी ही कल्पवृक्ष के सुगन्धित पुष्पों की उन्हें भेंट दे रही थीं । कितनी ही दिक्कुमारियाँ गुप्त (अदृश्य) रूप से व्योम में खड़ीं उच्च स्वर में परामर्श दे रही थीं कि महादेवी की परिचर्या विशेष यत्नपूर्वक करो । कितनी ही दिक्कुमारियाँ उनके गमन (चलने) के समय साथ चलती थीं, जब कि कितनी ही उनके उत्तिष्ठ (खड़े) होने पर उन्हें आसन प्रदान करती थीं एवं उनके बैठ जाने पर उनके चतुर्दिक बैठ जाती थीं । इस प्रकार वे देवागनायें पुण्य सम्पादन करने के निमित्त तीर्थंकर के अनुपमेय गुणों की प्राप्ति की अभिलाषा से गर्भवती (भगवान की माता) की सेवा करती थीं । चारों ओर के अन्धकार को दूर करने के लिए कितनी ही देवांगनाएँ रात्रि में राजभवन के कक्षों में जाज्वल्यमान दीप्तिवान उज्ज्वल मणियों का प्रकाश करती थीं । कितनी ही दिक्कुमारियाँ जलक्रीड़ा करवा कर माता को सुख पहुँचाती थीं, कितनी ही वनक्रीड़ा करवा कर सुख पहुँचाती थीं एवं कितनी ही कथागोष्ठी कर माता को सुख पहुँचाती थीं । कितनी ही दिक्कुमारियों उनके पुत्र के गुणों को प्रगट करनेवाले एवं उनके मन को प्रसन्न करनेवाले अनेक प्रकार के उत्तम एवं मधुर गीतों से माता को प्रसन्न करती थीं । कितनी ही दिक्कुमारियाँ श्रेष्ठ गीतों से लयबद्ध वीणा, मृदंग, वंशी आदि वादित्रों से तथा अनेक प्रकार की तुरहियों से माता के चित्त को सन्तुष्ट करती थीं ॥९०॥ कितनी ही देवांगनाएँ विक्रिया ऋद्धि से निष्पादित होनेवाले तथा हावभावों से परिपूर्ण रसीले एवं मनोहर नृत्यों से माता को परम सुखी करती थीं । इस प्रकार दिक्कुमारियों के द्वारा की हुई सेवा से माता ऐसी शोभायमान थीं

मानो समस्त संसार की विविधरूपेण लक्ष्मी एक स्थान पर ही आकर एकत्र हो गई हो । इस प्रकार वे दिक्कुमारियाँ अत्यन्त तत्परता के संग माता की सेवा कर रही थीं । गर्भ में स्थित जिनेन्द्र भगवान के प्रभाव से माता की शोभा एवं विभूति अत्यधिक बढ़ गई थी । अथानन्तर नवम् मास समीप आने पर वे दिक्कुमारियाँ विशेष काव्यों की चर्चा से गर्भ के भार को धारण करनेवाली उस महादेवी को प्रसन्न करती थीं । निगूढ़ अर्थ (छिपा हुआ अर्थ), क्रिया गुप्त (जिसमें क्रिया छिपी हो), बिन्दुच्युत (जिसमें बिन्दुमात्रा अक्षर कम किया गया हो), मात्राच्युत, अक्षरच्युत आदि श्लोकों से तथा अन्य कई प्रकार के श्लोकों से वे दिक्कुमारियाँ माता को हर्षित करने लगीं । दिक्कुमारियों ने प्रश्न किया-'इस संसार में सत्पुरुष कौन है ?' माता ने उत्तर दिया कि जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-इन चारों पदार्थों को सिद्ध कर मोक्ष में जाकर विराजमान हुआ है, वही सत्पुरुष या सज्जन है । उसके अतिरिक्त अन्य कोई सज्जन नहीं है । फिर दिक्कुमारियों ने जिज्ञासा की-'इस संसार में कायर पुरुष कौन है ?' माता ने कहा कि जो प्राणी मनुष्य जन्म प्राप्त कर भी धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-इन पुरुषार्थों को सिद्ध नहीं करता, वही कायर है, अन्य कोई नहीं । दिक्कुमारियों ने पुनः जिज्ञासा व्यक्त की-कौन से मनुष्य सिंह समान समझे जाते हैं ? उत्तर में माता ने स्पष्ट किया कि जो इन्द्रियों के संग-संग कामदेव रूपी दुर्धर हस्ती को परास्त करते हैं, वे ही मनुष्य सिंह कहलाते हैं, अन्य नहीं । दिक्कुमारियों ने तत्पश्चात् प्रश्न किया-'इस संसार में नीच पुरुष कौन हैं ?' माता ने उत्तर दिया कि जो मनुष्य सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, धर्म एवं तप को अपना कर भी उन्हें त्याग देते हैं, वे विद्वानों के द्वारा निन्द्य (नीच) कहे जाते हैं । दिक्कुमारियों ने जिज्ञासा की-'विद्वान कौन हैं ?' माता ने कहा कि जो शास्त्रों का अध्ययन कर पाप, मोह तथा अशुभ कार्य में प्रवृत्ति नहीं करते हैं तथा विषयों में आसक्त नहीं होते हैं, वे ही व्रती विद्वान कहलाते हैं, अन्य नहीं ॥१००॥ दिक्कुमारियों ने पुनः प्रश्न किया-'इस संसार में मूर्ख कौन हैं ?' माता ने उत्तर दिया कि जो शास्त्रों का ज्ञान रखते हुए एवं उनका मनन करते हुए भी पाप, मोह, इन्द्रियों की आसक्ति एवं कुमार्ग को नहीं त्यागते हैं, वे ही संसार में मूर्ख हैं । दिक्कुमारियों ने तब प्रश्न किया-'इस संसार में जन्मान्ध कौन हैं ?' इसके उत्तर में माता ने कहा कि जो तीर्थंकर परमदेव, धर्म, गुरु एवं शास्त्रों के दर्शन नहीं करते, वे जन्मान्ध हैं तथा जो कामान्ध हैं, वे विशेषरूप से जन्मान्ध हैं । दिक्कुमारियों ने तदुपरान्त जिज्ञासा की-'इस संसार में बधिर (बहिरे)

श्री शांतिनाथ पुराण

कौन हैं ?' माता ने स्पष्ट किया कि जो अरहन्तदेव के द्वारा वर्णित शास्त्रों को तथा धर्मोपदेश के हितकारक वाक्यों को नहीं सुनते हैं, वे ही बधिर कहलाते हैं ।'इस संसार में लंगड़े कौन हैं ?' दिक्कुमारियों के इस प्रश्न के उत्तर में माता ने कहा कि जो प्रमादी (आलसी) न तो तीर्थयात्रा करते हैं, न किसी धर्मकार्य में तत्पर होते हैं एवं न मुनियों को नमस्कार करने जाते हैं, वे ही लंगड़े गिने जाते हैं दिक्कुमारियों ने पुनरपि शंका की-'गूंगे कौन हैं ?' माता ने कहा कि जो शास्त्रों के ज्ञाता होते हुए भी अवसर आने पर हित-मित एवं प्रिय वचन नहीं कहते हैं, वे गूंगे कहलाते हैं । दिक्कुमारियों ने तब प्रश्न किया-'इस संसार में विवेकी कौन है ?' माता ने समाधान किया कि देव-कुदेव, धर्म-अधर्म, पात्र-अपात्र तथा शास्त्र-कुशास्त्र का जो विचार करते हैं, वे ही विवेकी हैं । दिक्कुमारियों ने अब जिज्ञासा की-'इस संसार में अविवेकी कौन हैं ?' माता ने उत्तर दिया कि जो गुरु-कुगुरु, बन्ध-मोक्ष तथा पुण्य-पाप का विचार नहीं करते, वे ही अविवेकी हैं । दिक्कुमारियों ने प्रश्न किया-'धीर-वीर कौन हैं ?' माता ने शंका निवारण कर कहा कि जो मन, इन्द्रिय, काम तथा परीषह-कषाय आदि से परास्त नहीं होते, वे धीर-वीर कहलाते हैं । दिक्कुमारियों ने पुनः आशंका व्यक्त की-'अधीर कौन हैं ?' माता ने उत्तर दिया कि जो कामदेव रूपी योद्धा के द्वारा प्रताड़ित किये जाने पर चारित्ररूपी युद्ध क्षेत्र से तत्काल ही पलायन कर जाते हैं, वे ही अधीर कहलाते हैं । दिक्कुमारियों ने नए संशय का समाधान चाहा-' इस संसार में पूज्य तथा प्रशंसनीय कौन हैं ?' माता ने स्पष्ट किया कि जो घोर परीषह तथा उपसर्गों के आने पर भी ग्रहण किये हुए शुभ चारित्र को नहीं त्यागते, वे ही प्रशंसनीय हैं ॥११०॥ दिक्कुमारियों ने जिज्ञासा की-'इस संसार में निन्द्य कौन हैं ?' माता ने समाधान किया कि जो कामदेव रूपी शत्रु से पीड़ित होकर ग्रहण किये हुए तप, चारित्र तथा संयम आदि को त्याग देते हैं, वे निन्द्य हैं । दिक्कुमारियों ने प्रश्न किया-'रात्रि में जागरण करनेवाले कौन हैं ?' माता ने उत्तर दिया कि जो ज्ञान रूपी सूर्य को हृदय में धारण कर एवं मोह रूपी रात्रि का नाश कर आत्मा का ध्यान करते हैं, वे ही रात्रि में जागरण करनेवाले कहलाते हैं । दिक्कुमारियों ने पुनरपि शंका व्यक्त की-'निद्रामग्न (सोनेवाले) कौन कहलाते हैं ?' माता ने कहा कि जो मोह रूपी निद्रा के वशीभूत हुए हृदय में विराजमान ज्ञान रूपी सूर्य को नहीं पहचान पाते हैं एवं न आत्मा के ध्यान को ही जानते हैं, वे ही निद्रामग्न कहलाते हैं । दिक्कुमारियों ने नूतन शंका व्यक्त की-'इस संसार में गुणी कौन हैं ?' माता

कहा कि जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं तप से विभूषित हैं तथा मुक्ति रूपी रमणी के प्रिय हैं एवं आत्मा का हित करनेवाले हैं, वे ही गुणी कहलाते हैं । दिक्कुमारियों ने तब जिज्ञासा की-'निर्गुणी कौन हैं ?' माता ने स्पष्ट किया कि जो सम्यग्दर्शन, चारित्र, दान, शील, तप तथा श्रीजिन पूजा से रहित हैं, वे निर्गुणी कहलाते हैं । दिक्कुमारियों ने अगला प्रश्न किया-'जन्म किनका सफल है ?' माता ने कहा कि जिन धीर पुरुषों ने रत्नत्रयादि के द्वारा मोक्ष को अपने वश में कर लिया है , उन्हीं का जन्म सफल है । दिक्कुमारियों ने पुनः जिज्ञासा की-'निष्फल जन्म किसका है ?' माता ने कहा कि जो तपचारित्र-व्रत-दान-पूजा आदि नहीं करते, उन्हीं का जन्म इस संसार में निष्फल समझना चाहिये । दिक्कुमारियों ने शंका व्यक्त की-'शीघ्र करने योग्य कार्य कौन-सा है ?' माता ने समाधान प्रस्तुत किया कि कर्मों का नाश करनेवाले एवं संसार को पूर्ण करनेवाले तप-धर्म-व्रत-दान-पूजा-परोपकार आदि कार्यों को यथा शीघ्र करना चाहिये । देवियों ने प्रश्न किया-'मनुष्यों के लिए कठिन शल्य क्या है ?' माता ने उत्तर दिया कि जो जीव हिंसादिक पाप व अनाचार का सेवन गुप्तरीति से (छिप कर) करते हैं, वही उनके लिए कठिन शल्य के समान चुभता रहता है । देवियों ने जिज्ञासा की-'संसार में अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य कौन हैं ?' माता ने उत्तर दिया कि जो कभी अन्य (दूसरे) की निन्दा नहीं करते हैं एवं आत्मध्यान, अध्ययन आदि आत्मा के कार्यों में सदैव तत्पर रहते हैं, ऐसे ही मनुष्य संसार में दुर्लभ हैं ॥१२०॥ देवियों ने शंका व्यक्त की-'पक्षपात कहाँ करना चाहिये ?' माता ने स्पष्ट किया कि धर्म में, साधर्मी पुरुषों में, शास्त्र में, श्रीजिन-प्रतिमा में, श्रीजिन-चैत्यालय में एवं भगवान श्री जिनेन्द्रदेव के वर्णित सत्य-मार्ग में पक्षपात अवश्य करना चाहिये । देवियों ने नूतन प्रश्न किया-'मध्यस्थ भाव कहाँ रखना चाहिए ?' माता ने समाधान दिया, कि संसार में जो पुरुष रागी है, द्वेषी है, तीव्र मिथ्यात्व रूपी पिशाच से ग्रस्त है एवं दुष्ट है; उसके प्रति सदैव मध्यस्थ भाव रखना चाहिये । देवियों ने जिज्ञासा की-'अहर्निश (दिन-रात्रि) क्या चिन्तवन करना चाहिये ?' माता ने बतलाया कि अहर्निश धर्मध्यान का चिन्तवन करना चाहिये । संसार की असारता का, शास्त्रों की आज्ञा का, मोक्ष प्राप्ति का, तप करने का एवं राग को घटाने का चिन्तवन सर्वदा करना चाहिये । देवियों ने पुनरपि प्रश्न किया-'इस संसार में उत्तम रमणी कौन-सी है ?' माता ने कहा कि जो शीलवती रमणी श्री तीर्थंकर देव सदृश नर-रत्नों को उत्पन्न करती है, वह रमणी ही सर्वोत्तम

है-अन्य नहीं ! देवियों ने प्रश्न किया-'हे देवी ! आपके समतुल्य अन्य रमणी कौन है ?' माता ने उत्तर दिया कि जो रमणी संसार के समस्त जीवों का उपकार करनेवाले श्री तीर्थंकर देव को उत्पन्न करती है, वही मेरे समतुल्य है । इस प्रकार देवियों ने जो कुछ भी जिज्ञासा की-महादेवी ने गर्भ में विराजमान श्री तीर्थंकर भगवान के माहात्म्य से तत्काल उनका सटीक उत्तर दे दिया । देवियों ने तब द्विअर्थी प्रश्न किया-'जो नित्य रमणी में आसक्त होते हुए भी अनासक्त है, जो कामी होते हुए भी विरक्त है, जो लोभ रहित होकर भी अत्यन्त लोभी है एवं जो कभी स्नान न करने पर भी पवित्र रहता है, वह कौन है ?' उत्तर माता ने कहा-'यह प्रहेलिका या पहेली है । इसका उत्तर भी द्वि-अर्थ बोधक है । जो नित्य रमणी में आसक्त होते हुए भी अनासक्त है । जो कामी अर्थात् काम्य पदार्थ (मोक्ष) को सिद्ध करनेवाला है, इसलिये वह राग-द्वेष युक्त होता हुआ भी विरक्त है । जो लाभ रहित होने पर भी मुक्ति की कामना रखता है, इसलिये वह लोभी है । कभी स्नान न करने पर भी सदा पवित्र रहता है, वह मुनि है ।' इस उत्तर की सुनकर देवियों ने निवेदन किया है-'हे देवी ! आप अपना चित्त हरिहर आदि देवों में श्रद्धा से विलग रखें, क्योंकि तीन शलाका पद को धारण करनेवाले भगवान श्री शान्तिनाथ में ही आपका हृदय व्याप्त हो रहा है एवं वे भगवान आप के गर्भ में अवतरित हुए हैं; इसीलिए ज्ञानीजन आपको परम पवित्र कहते हैं । (यह क्रियागुप्त श्लोक है) हे जननी ! संसार के अखिल प्राणी आपके भाव पुत्र की ही जय बोलते हैं । क्योंकि आपका पुत्र अत्यन्त सुकृति है, गुणों का सागर है, इन्द्रनरेन्द्र आदि समस्त जन उसकी स्तुति करते हैं और तीनों लोकों के प्राणी उसकी आराधना करते हैं । (यह निरोष्ठय श्लोक है, जिसमें ओंठ न लगें और अर्थ भी निरोष्ठय अक्षरों में ही लिखा गया है) हे जननी ! आपका पुत्र अखिल शत्रुओं का नाशक है, सज्जन प्राणियों का रक्षक है, ऋषि रूपी सरोजों के लिए सूर्य समतुल्य है एवं तीर्थ का कर्ता है ॥२३०॥ (यह श्लोक निरोष्ठय हैं एवं इनके अर्थ के अक्षर भी निरोष्ठय हैं ।) हे देवी ! श्री जिनेन्द्र देव भगवान त्रिभुवन (तीनों लोकों) के स्वामी हैं एवं तीनों लोकों का हित करनेवाले हैं, इसलिये समस्त इन्द्र अपने-अपने अनुगत देवों के संग उनकी सेवा करने के लिए आते हैं । (यह बिन्दुमान श्लोक है) । हे देवी ! आपका पुत्र जाज्वल्यमान लक्षणों के समूह से शोभायमान है, समस्त देवों के द्वारा पूज्य है एवं तीनों लोकों का पालन करने में तत्पर है । (यह बिन्दुच्युत के श्लोक हैं) ।' इस प्रकार देवियों के द्वारा वर्णित कठिन

श्लोकों को भी विशेष रीति से समझती हुई वह महादेवी अत्यन्त सुख से समय व्यतीत करती थी । वह महादेवी अपने उदर में तीन ज्ञान के धारक भावी तीर्थंकर को धारण कर रही थीं, इसलिये समस्त ज्ञान में वह स्वभाव से ही धीरता प्रदर्शित कर रही थीं । जिस प्रकार प्रातःकाल के समय गर्भ में जाज्वल्यमान सूर्य को धारण करती हुई पूर्व दिशा शोभायमान होती है, उसी प्रकार अपने गर्भ से कान्ति से अत्यन्त जाज्वल्यमान अद्भुत बालक भावी श्री तीर्थंकर देव को धारण करती हुई वह महादेवी अत्यन्त उत्तम प्रतीत होती थीं । जिस प्रकार गर्भ (मध्य भाग) में रत्न रहने से पृथ्वी शोभायमान होती है, उसी प्रकार तीनों शलाका पदों से सुशोभित होनेवाले श्रीतीर्थंकर भगवान के गर्भ में अवतरण से महादेवी की शोभा में अपार वृद्धि हो गयी थी । वे भावी तीर्थंकर शुद्ध स्फटिक के सदृश निर्मल थे, देवों के द्वारा पूज्य थे एवं करुणा की साक्षात् मूर्ति थे, इसीलिये उनके उदर में रहते हुए भी माता को किसी प्रकार पीड़ा की अनुभूति नहीं हुई थी । माता के कृश उदर में किसी प्रकार का विकार प्रकट नहीं हुआ था, तथापि गर्भ की वृद्धि तो हुई ही थी-यह केवल भगवान के तेज का ही प्रभाव था । शची (इन्द्राणी) भी स्वयं की भव-मुक्ति की अभिलाषा से गुप्त रूप से देवियों के साथ अत्यन्त आदरपूर्वक माता की सेवा करती थी । सारांश में इतना ही समझ लेना चाहिए कि वह माता तीनों लोकों में प्रशंसनीय थीं एवं तीनों लोकों की माता तुल्य थीं, क्योंकि धर्मतीर्थ को प्रगट करनेवाले भावी तीर्थंकर की वह जननी थीं ॥१४०॥ कुबेर ने नव मास तक महाराज विश्वसेन के प्रांगण में प्रतिदिन आकाश से सुवर्ण एवं रत्नों की वर्षा की थी । अथानन्तर- ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिवस प्रातःकाल के भरणी नक्षत्र में शुभ मुहूर्त्त एवं शुभ लग्न में जिस प्रकार पूर्व दिशा किरणों की विकीर्ण करते हुए सूर्य को प्रगट करती है, उसी प्रकार महासती ऐरा देवी ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को उत्पन्न किया । वह पुत्र तीनों लोकों में परिव्याप्त अपार आनन्द के समूह के सदृश नयनाभिराम था, तीनों श्रेष्ठ निर्मल ज्ञान ही उसके निर्दोष नेत्र थे, वह पूर्णमासी के चन्द्रमा के समतुल्य था, अपनी विमल कान्ति से समस्त दिशाओं को प्रकाशित कर रहा था, भव्य जीव रूपी पद्मों को प्रफुल्लित करनेवाला था, सूर्य के सदृश प्रखर जाज्वल्यमान था एवं रूपाकृति में कामदेव को भी लज्जित (परास्त) करनेवाला था । उस समय समस्त दिशाओं में प्रसन्नता व्याप्त हो गई थी, गगन निर्मल हो गया था एवं भावी स्वामी का जन्म होने से समस्त प्रजाजन को हर्ष उत्पन्न हुआ था । भगवान के जन्म लेने से परिवार के समस्त

सदस्य स्वयं को धन्य एवं कृतकृत्य मानते थे एवं अतीव आनन्द के समूह से पुण्य का भण्डार भरते थे। भावी तीर्थंकर के उत्पन्न होते ही धर्म के प्रभाव से स्वर्ग में समुद्र की गर्जना के सदृश प्रचण्ड घण्टानाद होने लगा था। देवों के विशालकाय नगाड़े बिना प्रयास ही अपने-आप झंकृत होने लगे थे एवं कोमल सुखदायक शीतल मन्द सुगन्धित वायु प्रवाहित होने लगी थी। यद्यपि आकाश एवं पृथ्वी दोनों ही सुगन्धित पुष्पों की सुगन्धि से व्याप्त हो रहे थे तथापि कल्पवृक्ष विशेषतया उस समय अनेक प्रकार की पुष्पवृष्टि कर रहे थे ॥१५०॥ इन्द्रों के आसन अकस्मात् कम्पायमान होने लगे थे मानो देवों को हठात् ऊँचे आसन से पतित कर नीचे गिरा रहे हों। भगवान के जन्म लेने के प्रभाव से जन्म-कल्याणक की विधि को सूचित करनेवाले तथा किरणों से व्याप्त देवों के मुकुट शीघ्र ही नत हो गये, नीचे की ओर झुक गये। उन आश्चर्यों को देख कर इन्द्रों ने अपने अवधिज्ञान से तीर्थंकर भगवान का जन्म होना जाना एवं उसी समय वे जन्म-कल्याणक के लिए सन्नद्ध हो गए। ज्योतिषी देवों के विमानों में धर्म को सूचित करनेवाला मनोहर सिंहनाद हुआ एवं भगवान के जन्म को सूचित करनेवाले शेष समस्त आश्चर्य प्रकट हुए। व्यन्तर देवों के आवासों में गम्भीर भेरी नाद हुआ तथा आसनों का कम्पायमान होना आदि सर्वप्रकारेण आश्चर्य प्रगट हुए थे। भवनवासी देवों के भवनों में प्रचण्ड शंखध्वनि हुई थी एवं जन्म-कल्याणक की विधि को सूचित करनेवाले शेष समस्त आश्चर्य प्रगट हुए थे। इस प्रकार आश्चर्यों को देखकर चतुर्निकायों के इन्द्रों ने अपने-अपने अनुगत देवों के संग अपने-अपने अवधिज्ञान से भगवान का जन्म होना जाना एवं अपने-अपने कार्य करने में प्रवीण वे समस्त इन्द्रादि देवगण अत्यन्त आनन्दित होकर अपनी-अपनी देवांगनाओं के संग पुण्य के सागर जन्म-कल्याणक महोत्सव आयोजित करने के लिए प्रस्तुत हुए। तदनन्तर सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र की आज्ञा से देवों की सेना जयघोष करती हुई समुद्र की लहरों के समतुल्य अनुक्रम से स्वर्ग से निकलने लगी। सर्वप्रथम वृषभ, फिर रथ, अश्व, गज, नृत्य करनेवाले गन्धर्व एवं सेवक वर्ग-इस अनुक्रम से इन्द्र की सेना निकली थी ॥१६०॥ प्रत्येक इन्द्र की यह सप्त प्रकार की सेना पृथक-पृथक थी एवं प्रत्येक सेना के भी सप्त-सप्त भेद थे। वृषभों की सेना सप्त प्रकार की थी, अश्वों की सेना भी सप्त प्रकारेण ही थी। इसी प्रकार सप्त सेनायें सप्त-सप्त प्रकार की थीं। वृषभों की प्रथम सेना में दिव्य मूर्ति को धारण करनेवाले चौरासी लक्ष वृषभ थे, द्वितीय सेना में इससे द्विगुणित अर्थात्

एक कोटि अड़सठ लक्ष वृषभ थे, तृतीय में इससे द्विगुणित अर्थात् तीन कोटि छत्तीस लक्ष वृषभ थे, चतुर्थ में इससे द्विगुणित अर्थात् छः कोटि बहत्तर लक्ष वृषभ थे, पंचम में इससे द्विगुणित अर्थात् तेरह कोटि चवालीस लक्ष वृषभ थे, षष्ठ में छब्बीस कोटि अठासी लक्ष वृषभ थे एवं सप्तम् में तिरेपन कोटि छिहत्तर लक्ष वृषभ थे । इस प्रकार वृषभों की सप्त सेनाओं में कुल एक अरब छः कोटि अड़सठ लक्ष वृषभ थे । इसी प्रकार सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र की सेना में रथ, अश्व आदि समस्त सेनाओं की संख्या वृषभों की संख्या के समान थी । भगवान के जन्म-कल्याणक के महोत्सव में सर्वप्रथम अग्रगण्य पंक्ति में शंख अथवा कुन्द पुष्प के सदृश श्वेत मनोहर वृषभ गमन कर रहे थे । उनका अनुसरण करतीं हुई वृषभों की द्वितीय सेना पद-संचलन कर रही थी, उसमें मणि एवं सुवर्ण से शोभायमान जवा पुष्प के सदृश रक्तवर्णी वृषभ गमन कर रहे थे, उनके उपरांत नीलकमल के सदृश नीलवर्णी वृषभ महोत्सव के संग चले रहे थे । उसके पश्चात् अत्यन्त दिव्य रूप को धारण करनेवाले मरकत मणि के सदृश वर्णवाले वृषभों की सेना संचलन कर रही थी, उनका अनुसरण कर रही थी सुवर्णवर्णी वृषभों की सेना एवं तदुपरान्त अन्जन के सदृश कृष्णकाय वृषभों की सेना पद-संचरण कर रही थी, जो कि अपनी कान्ति से दैदीप्यमान हो रही थी । उसका अनुसरण कर रही थी सप्तम् रेखा में व्योम को दैदीप्यमान करती हुई अशोक पुष्प के सदृश वर्णवाले शुभ वृषभों की सेना गमन कर रही थी । वृषभों की प्रत्येक सेना के मध्य में तुरई आदि विविध प्रकार के वाद्य महासागर की गर्जना के समतुल्य घोष करते चले जा रहे थे। समस्त वृषभ मनोहर थे; घण्टा-किंकिणी-चमर-मणि एवं पुष्पहार (माला) आदि से सुशोभित थे एवं दिव्य रूप को धारण करनेवाले थे ॥१७०॥ वृषभों की सुन्दर पीठिका पर देवकुमार आरूढ़ थे एवं जन्म-कल्याणक में इस प्रकार चलते हुए वे वृषभ पर्वतों के सदृश शोभायमान हो रहे थे । वृषभों की सेना का अनुसरण करती हुई प्रथम रेखा में मनोहर श्वेत रथ थे, जो कुन्द पुष्प के समतुल्य श्वेत थे, चन्द्रमा के सदृश स्वच्छ थे एवं श्वेत छत्र आदि से विभूषित थे । उनके उपरान्त वैडूर्यमणि से निर्मित चतुष्चक्री (चार पहियोंवाले) रथ थे, जो मन्दार पुष्पों के सदृश थे, नयनाभिराम थे एवं उपमा रहित थे । उनके पश्चात् सुवर्ण के बड़े-बड़े छत्र, ध्वजा, चमर आदि से सुशोभित तपाए हुए सुवर्ण से निर्मित विशाल एवं उच्च रथ गमन कर रहे थे । तदनन्तर गम्भीर शब्द करते हुए, दूब के पत्ते की कान्ति को जीतते हुए, मरकत मणियों से निर्मित अनेक

चक्र (पहियों) वाले शुभ रथ संचार कर रहे थे। उनके उपरान्त नीलमणि के समतुल्य कर्कोट-मणि से निर्मित रथ गमन कर रहे थे, उनका अनुसरण करते हुए पद्मराग मणियों से निर्मित अद्भुत रथ संचरण कर रहे थे। भगवान के जन्मकल्याणक के लिए सप्तम् रेखा में मोर की-सी ग्रीवा के इन्द्रनील मणियों से निर्मित रथ गमन कर रहे थे। इस प्रकार देव-देवियों से पूर्ण, मणियों की कान्ति से व्याप्त, दिव्य, शुभ महारथ सप्त रेखाओं में संचरण कर रहे थे। वे रथ ध्वजा, छत्र, चमर तथा पुण्यमालाओं से सुशोभित थे एवं इन्द्र को वे महान् अर्जित पुण्य के फल से ही प्राप्त हुए थे। अनेक प्रकार के गुंजित वादित्रों के घोषों से व्याप्त एवं व्योम को आच्छादित कर गमन करते हुए वे निर्मल रथ व्योम रूपी समुद्र में जलपोत के सदृश शोभामयान हो रहे थे ॥१८०॥ रथ के पश्चात् क्रमानुसार अश्वों की सेना थी। अग्रिम पंक्ति में सुन्दर मूर्ति को धारण करनेवाले चमर आदि से सुशोभित क्षीरसागर की लहरों के समतुल्य श्वेतवर्णी अश्व संचरण कर रहे थे। उनके उपरान्त उदय होते हुए सूर्य के सदृश सुन्दर एवं उच्च अश्व जा रहे थे, फिर गोरोचन वर्ण के एवं उनका अनुसरण करते हुए मरकतमणि की कान्तिवाले अश्व गमन कर रहे थे। उनके पश्चात् नीलकमल के सदृश, तत्पश्चात् जवा पुष्प के समतुल्य एवं तदुपरान्त सप्तम् पंक्ति में इन्द्रनील मणि के सदृश अश्व संचरण कर रहे थे। वे अश्व दिव्य रूपवान थे, मणिमालाओं तथा पुष्पमालाओं से विभूषित थे, विविध वर्ण के अनुसार सप्त रेखाओं में संचरण कर रहे थे, उनकी काया सुवर्ण धूलि से धूसरित हो रही थी; मृदंग, तुरही आदि विशालकाय वाद्यों के उद्घोष से वे व्याप्त थे, उन पर रत्नों के आसन बने हुए थे जिसमें आरूढ़ देवकुमार उन्हें संचालित कर रहे थे। वे शुभ थे, उत्तम थे, चन्चल थे एवं व्योम-रूपी समुद्र में तरगों के समतुल्य प्रतीत होते थे। अश्वों के उपरान्त गज सेना थी। प्रथम रेखा में बक (बगुले) के समतुल्य श्वेत, विशालकाय एवं सुदीर्घ गज थे, द्वितीय रेखा में उदय होते हुए सूर्य के सदृश वर्णवाले गज थे, तृतीय रेखा में सुवर्ण के वर्ण के गज थे, चतुर्थ रेखा में सरसों के पुष्प के वर्ण के गज थे, पंचम् रेखा में विराटकाय दन्तवाले नीलकमल के सदृश नीलवर्णी गज थे, षष्ठ रेखा में जैत पुष्प के सदृश गज थे एवं सप्तम रेखा में अन्जन पर्वत के सदृश कृष्णकाय गज थे। इस प्रकार इन महान् गजराजों का शुभ समूह संचरण कर रहा था। गजों की प्रत्येक रेखा के अन्तराल में शंख, मृदंग, तुरही, नगाड़े आदि देवों के वाद्य मधुर स्वरों से झंकृत होते जा रहे थे ॥१९०॥ गजराजों के गण्डस्थल से मद झर रहा था। गरजते

श्री शांतिनाथ पुराण

हुए वे गज विभूतियों से सुशोभित थे एवं रत्नों के घण्टे उनक पीठ पर झूल रहे थे । मणि एवं पुष्पों की मालाएँ उन पर पड़ी हुईं थीं, अनेक प्रकार की ध्वजाएँ उन पर फहरा रही थीं, श्वेत छत्र से उनकी कान्ति द्विगुणित हो रही थी एवं चमरों को वे ढुला रहे थे । सुवर्ण की श्रृंखला उनके पग (पैरों) में पड़ी हुई थीं, उनके चतुर्दिक लगी हुई छोटी-छोटी घण्टियाँ बज रही थीं; वे चित्ताकर्षक थे, उन पर आरूढ़ देव अपनी देवियों के संग अत्यधिक भव्य प्रतीत होते थे । भगवान के जन्म कल्याणक में अनेक सुन्दर आभूषणों से अलंकृत गजराजों (हाथियों) की श्रेणी संचरण करती हुई अत्यन्त भव्य प्रतीत होती थी, मानो गतिमान पर्वत ही हों । गजराजों के पृष्ठ (पीछे) में नर्त्तकों की सेना थी । उसमें से अनेक देव भगवान के जन्मोत्सव में जन्म कल्याणक का उत्सव मनाते दिव्य एवं उत्कृष्ट नृत्य करते आ रहे थे । अग्रिम रेखा में राजाधिराज, कामदेव एवं विद्याधर नरेशों के चरित्र प्रदर्शित करते हुए नर्त्तकगण उत्तम नृत्य कर रहे थे । द्वितीय रेखा में देवगण समस्त अर्द्ध महामण्डलेश्वर नृपतियों के शुभ आख्यान (चरित्र) प्रदर्शित करते हुए नृत्य कर रहे थे । तृतीय रेखा में वे देव व्योम में ही बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण आदि विश्वविश्रुत शलाका पुरुषों के पराक्रमों को प्रदर्शित करते हुए नृत्य कर रहे थे । चतुर्थ रेखा में देव अपनी देवियों के संग षट खण्ड के अधिपति चक्रवर्ती नरेशों के गुणों का वर्णन करते हुए तथा उनके जीवन चरित्र प्रदर्शित करते हुए नृत्य कर रहे थे । पंचम रेखा में देव-देवियाँ, चरम शरीरी मुनिराजों, लोकपालों एवं इन्द्रों के गुण एवं उन गुणों से प्रगट हुए चरित्र प्रदर्शित करती हुई नर्तकियाँ नृत्य कर रही थीं ॥२००॥ षष्ठ रेखा में देव अत्यन्त निर्मल बुद्धि को धारण करनेवाले महर्षि (अर्थात् तीर्थंकरों के गणधर) के गुणों से गुथे हुए चरित्र दर्शाते हुए नृत्य कर रहे थे । सप्तम एवं अन्तिम रेखा में नृत्य करने में तत्पर महा मनोहर देव अपनी देवियों के संग भावी तीर्थंकर के इस जन्म-कल्याणकोत्सव में प्रातिहार्य सहित अनन्तवीर्य के स्वामी चौंतीस अतिशयों से सुशोभित एवं पन्चकल्याणकों के द्वारा पूज्य उन तीर्थंकर (भगवान श्री जिनेन्द्रदेव) के गुण एवं महान चरित्र का वर्णन करते हुए नृत्य करते जा रहे थे । इन नृत्यरत देवों का अनुसरण कर रही थी गन्धर्व देवों की सेना । वे गन्धर्व देव दिव्य काया को धारण किए हुए थे, महा रूपवान तथा वस्त्र-आभूषणों से विभूषित कलावान थे, उनकी ध्वनि मधुर थी, वे उत्सव मना रहे थे एवं मालाएँ धारण किए हुए थे । भगवान के जन्म-कल्याणक में गन्धर्व जाति की सेना के देव सप्त स्वरों से अलंकृत मनोहर गान गाते हुए

श्री शांतिनाथ पुराण

जा रहे थे । प्रथम रेखा में खड्ग नाम के मनोहर स्वर से भगवान के गुणों को गाते हुए मधुर कण्ठवाले देव गमन कर रहे थे । उनके पृष्ठ (पीछे) में ऋषभ स्वर में गाते हुए, उनके पश्चात् गान्धार स्वर में गाते हुए, उनके उपरान्त मध्यम स्वर से भगवान का गुणगान करते हुए देवगण थे । पंचम रेखा में पन्चम स्वर से, षष्ठ (छट्ठी) रेखा में धैवत स्वर से, सप्तम रेखा में निषाद स्वर से गाते हुए देव अपनी देवियों के संग चले जा रहे थे । वे देव वीणा, मृदंग, तुरही, झल्लरी आदि वाद्यों का वादन कर रहे थे, उनके स्वर मनोहर थे, वे दिव्य वस्त्र-माला आदि से सुशोभित थे, उनका आकार अत्यन्त सुन्दर था, अनेक प्रकार के गायन के रस में लीन, गीत-नृत्य आदि कलाओं में प्रवीण, उनकी मनोहर मुखाकृति दिव्य मूर्ति ज्ञानी धीर-वीर तीर्थंकरों के गुणों का वर्णन करने में दत्तचित्त थी एवं उनका स्वर गम्भीर था । भगवान के जन्म-कल्याणोत्सव में पुण्य सम्पादन करने के लिए वे देव अपनी-अपनी देवियों के संग उनके अनन्त गुणों को प्रकट करनेवाले तथा पुण्य सम्पादन करनेवाले अनेक प्रकार के मनोहर गीत गाते हुए संचरण कर रहे थे ॥२१०॥ उनके पश्चात् नर्तकों की सेना थी, जिस की प्रथम रेखा में वस्त्राभरणों से सुशोभित एवं ध्वजायें लिए हुए भौंरे के सदृश कृष्णवर्णी देव चल रहे थे । उनके पीछे सुवर्ण के दण्ड पर नीली ध्वजा फहराते हुए हस्त में चमर धारण किए हुए देव जा रहे थे । तृतीय रेखा में वैडूर्यमणियों के दण्डों पर श्वेत ध्वजायें लिए हुए देव जा रहे थे । चतुर्थ रेखा में मरकत मणियों के दण्डों पर गज, सिंह, वृषभ, दर्पण, मोर, चकवा, गरुड़, चक्र सूर्य आदि के पृथक्-पृथक् चिह्नों से अंकित सुवर्ण की सुन्दर ध्वजायें लिए हुए देव संचरण कर रहे थे । पंचम रेखा में विद्रुम के दण्ड में पद्म पुष्प के चिह्नवाली ध्वजायें हस्त में धारण किए हुए देव जा रहे थे । षष्ठ (छटठी) रेखा में सुवर्ण के दण्ड में लगी हुई कुन्द पुष्प के सदृश श्वेत ध्वजायें लिए हुए देवगण गमन कर रहे थे । सप्तम रेखा में मणियों के दण्ड में लगी मुक्तामालाओं से सुशोभित श्वेत छत्रों को हस्त में लिए हुए देव जा रहे थे । भगवान के जन्म-कल्याणकोत्सव में दिव्य वस्त्रों से, मालाओं से, मनोहर आभूषणों से सुशोभित, व्योम को प्रकाशित करते हुए एवं हस्त में ध्वजायें धारण किए हुए भृत्य जातिकी देव सेना जा रही थी ॥२२०॥ इस प्रकार अपरिमित विभूति से सुशोभित एवं धर्म रस में लीन सौधर्म इन्द्र की सतरंगिणी सेना ने स्वर्ग से प्रस्थान किया । उसी समय नागदत्त नामक अभियोग्य जाति के देवों के अधिपति ने ऐरावत गजराज की रचना की । उस गजराज का वंश (पीठ की

अस्थि) बहुत ऊँचा था, उसकी काया जम्बूद्वीप के सदृश विशालकाय एवं गोलाकार थी। वह अनेक प्रकार की लीला कर रहा था। उसका मस्तक गोल एवं समुन्नत था। वह गजराजों में अग्रगण्य था, कामनानुसार गमन करनेवाला था, अत्यन्त रूपवान था, उसका तालू सुचिक्कण एवं रक्तवर्णी था, उसकी सूंड़ सुदीर्घ थी, उसका स्वभाव सात्विक था, वह बलवान था, सुन्दर एवं मनोहर था, उसकी श्वास से सुगन्ध निर्गत हो रही थी। उसके ओष्ठ दीर्घ थे, शब्द गम्भीर था, मस्तक से मद झर कर उसकी काया में व्याप्त हो रहा था, अनेक शुभ लक्षणों से वह सुशोभित था, संचार करते (चलते) हुए पर्वत सदृश लगता था, उसका कण्ठप्रदेश माला से सुशोभित था तथा उस पर सुवर्ण की झूल पड़ी हुई थी, दो घण्टे उस पर लटक रहे थे, उससे मद का निर्झरना झर रहा था, वह कैलाश पर्वत के समतुल्य अथवा शरद ऋतु के मेघ के समतुल्य सुन्दर था एवं अपनी धवलता से उसने समस्त दिशायें धवल कर दी थीं। इस प्रकार विक्रिया से निर्मित दिव्य गजराज पर आरूढ़ तथा नम्रीभूत हुआ तेज की मूर्ति, महा उन्नत सौधर्म इन्द्र स्वर्ग से निकला। गजराज ऐरावत पर आरूढ़ सौधर्म इन्द्र अपनी कान्ति से ऐसा प्रतीत होता था, मानो उदयाचल पर्वत पर तेज का पुन्ज सूर्य ही विराजमान हो। उस गजराज ऐरावत के बत्तीस मुख थे, वे समस्त मुख एक समान थे एवं उन सब की कान्ति समान थी। प्रत्येक मुख में मूसल के समान मनोहर अष्ट-अष्ट दंत थे ॥२३०॥ प्रत्येक दंत पर निर्मल जल से परिपूर्ण एक-एक मनोहर सरोवर था, प्रत्येक सरोवर में एक-एक मनोहर कमलिनी थी एवं प्रत्येक कमलिनी पर विकसित (फूले हुए) बत्तीस पद्म पुष्प थे। एक-एक पद्म पर बत्तीस दल थे एवं प्रत्येक दल पर श्रीजिनेन्द्र भगवान की मंद स्मित मुद्रा में छवि थी, जिसकी भौहें सुन्दर थीं एवं उनमें प्रत्येक पर बत्तीस अप्सरायें लय के साथ नृत्य कर रही थीं। उनके हास्य, श्रृंगार, हावभाव, लय आदि से युक्त रसभरे भव्य नृत्य को देखते हुए देवगण अत्यन्त प्रसन्न हो रहे थे। सौधर्म इन्द्र के संग दिव्य रूप को धारण करनेवाला प्रतीन्द्र भी विपुल विभूति के संग अपने वाहन पर आरूढ़ होकर मानो युवराज के सदृश निकला था। आज्ञा ऐश्वर्य के अतिरिक्त श्रीजिनेन्द्र देव के समस्त गुण विभूति में इन्द्र के समतुल्य थे एवं इन्द्र भी जिन्हें मानता है, ऐसे सामानिक देव भी अपने-अपने इन्द्र के संग चल रहे थे। इन्द्र के पुरोहित, मन्त्री एवं अमात्यों के समतुल्य त्रयस्त्रिंशत जाति के तैंतीस देव भी इन्द्र के संग गमन कर रहे थे। जिन पर इन्द्र की विशेष कृपा रहती है एवं विभूति में जो सभासदों के सदृश

हैं, ऐसे तीन परिषदों के देव भी इन्द्र के चतुर्दिक होकर चलने लगे । जिन का आशय उत्तम है एवं जो अंगरक्षक के समतुल्य हैं, ऐसे आत्मरक्षक देव भी अपने वाहन एवं आयुधों सहित इन्द्र के समीप जाकर खड़े हुए । कोतवाल के सदृश लोकपाल भी अपनी विभूति से साथ निकले एवं सेना के सदृश पूर्वोक्त सप्तरंगिणी शुभ सेना भी निकली ॥२४०॥ नगर निवासियों के समरूप प्रकीर्णक देव भी निकले एवं सेवा करनेवाले दासों के समान अभियोग्य जाति के देव भी निकले । चाण्डालों के समकक्ष स्वर्ग के अन्त में निवास करनेवाले अल्प पुण्यवान् एवं स्वल्प (थोड़ी) ऋद्धियों को धारण करनेवाले किल्विषिक जाति के देव भी स्वर्ग से निकले । इस प्रकार दश प्रकार के देवं अपनी-अपनी विभूति से सुशोभित होकर पुण्य सम्पादन करने के लिए सौधर्म इन्द्र के संग स्वर्ग से निकले । इन्द्र के चलते समय उनके समक्ष अप्सरायें नृत्य कर रही थीं एवं ऐसी प्रतीत होती थीं, मानो अन्य व्यक्तियों को प्रत्यक्ष दिखला रही हों कि इन्द्र के पुण्य का फल ऐसा ही होता है । रक्तकण्ठी किन्नरी देवियाँ भी श्री तीर्थंकर नामकर्म से उत्पन्न हुए भगवान श्री जिनेन्द्रदेव के गुणों को मधुर स्वर से वीणावादन के संग गाती हुई जा रही थीं । जन्म-कल्याणकोत्सव में सम्मिलित होने के लिए ईशान स्वर्ग का ऐशानेन्द्र भी अपनी देवियों को संग ले कर बड़ी विभूति के साथ अश्व पर सवार होकर केवल पुण्य सम्पादन करने की अभिलाषा से सौधर्म इन्द्र के संग स्वर्ग से निकला । ऐशानेन्द्र समस्त देवों से आवृत्त (घिरा हुआ) था । अपने धारण किए समस्त आभरणों के तेज से वह ऐशानेन्द्र समस्त दिशाओं को प्रकाशित कर रहा था । जिनके हृदय पुण्य से परिपूर्ण हैं, जो दिव्य मूर्ति को धारण करनेवाले हैं एवं जो धर्म में तत्पर हैं, ऐसे शेष सनत्कुमार आदि देवों के इन्द्र ने भी अपनी-अपनी विभूति के संग अपने-अपने वाहनों पर अपनी-अपनी इन्द्राणी एवं देवों को संग लेकर पुण्य कार्य के लिए सौधर्म इन्द्र के संग ही स्वर्ग से प्रस्थान किया । उस समय नगाड़ों के गम्भीर घोषों से तथा तुमुल 'जय-जय' नाद से देवों की सेना में अपार कोलाहल मच रहा था ॥२५०॥ कितने ही देव प्रसन्न होकर हास्य कर रहे थे, कितने ही नृत्य कर रहे थे, कितने ही फिरकी ले रहे थे, कितने ही अपने शारीरिक करतब दिखा रहे थे एवं कितने ही देव आगे-आगे दौड़ रहे थे । इन्द्रादि समस्त देव अपने-अपने विमानों में या पृथक्-पृथक् वाहनों के संग-संग समस्त व्योम को मानो अवरुद्ध करते हुए गमन करने लगे । संचरण करते हुए वाहनों एवं विमानों से व्योम-मण्डल व्याप्त हो गया तथा ऐसा प्रतीत होने लगा मानो पटलों के

अलावा कोई अन्य स्वर्ग ही निर्मित किया गया है । सूर्य-चन्द्र, गृह-नक्षत्र, तारे आदि समस्त ज्योतिषी देव अपनी-अपनी देवांगनाओं के संग निकले । कान्तिमान, लोकपाल व त्रयस्त्रिंशत देवों से रहित श्री जिनेन्द्रदेव के शासन की धर्म-प्रभावना करनेवाले वे समस्त ज्योतिषी देव अपनी विभूति एवं इन्द्रों के संग अपने-अपने वाहनों पर आरुढ़ हुए व्योम को प्रकाशित करते हुए भूतल (पृथ्वी) पर उतरे । इसी तरह असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुवर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार-ये दश प्रकार के भवनवासी देव अपने-अपने वाहनों पर आरुढ़ होकर अपनी-अपनी देवांगनाओं एवं इन्द्रों के संग अपनी-अपनी विभूति सहित पृथ्वी पर उतरे । भगवान के जन्मोत्सव में अपने-अपने वाहनों पर आरुढ़ अपनी विभूति के संग लोकपाल, त्रयस्त्रिंशत देवों के अतिरिक्त (छोड़ कर) केवल अष्ट-अष्ट विभागों में विभक्त असंख्यात किन्नर, किंपुरुष, महीरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच-ये अष्ट प्रकार के व्यन्तर देव अपने-अपने परिवार के संग केवल पुण्य सम्पादन करने के लिए आये थे ॥२६०॥ इस प्रकार भगवान के जन्मोत्सव में अपनी-अपनी विभूति के संग चतुर्निकायों के असंख्यात धर्मात्मा देव अनुक्रम से व्योम से उतर कर अति शीघ्र अनेक ऋद्धियों से शोभायमान हस्तिनापुरी नगरी में पधारे । देव सैनिक अपने-अपने वाहनों के संग उस नगरी के व्योम, वन, मार्ग आदि सर्वत्र को घेर कर ठहर गये तथा इन्द्राणी के संग आये पृथक्-पृथक समस्त इन्द्रों से, महोत्सव मनाते हुए असंख्य देवों से राजप्रासाद का प्रांगण भर गया । तदनन्तर इन्द्राणी शची ने उस अद्भुत प्रसूति गृह में प्रवेश किया एवं अतीव प्रसन्नता से भगवान के संग-संग माता का दर्शन किया । शची ने जगत्गुरु भगवान की कई प्रदक्षिणायें दीं, उन्हें नमस्कार किया एवं तत्पश्चात् माता के सम्मुख खड़ी होकर उनकी प्रशंसा करने लगी-'हे माता ! आप आज संसार भर की माता हैं, आप ही कल्याणी हैं, आप ही महादेवी हैं, आप ही पुण्यवती हैं एवं आप ही कीर्तिमती हैं । जो भावी तीर्थंकर श्री त्रिलोकीनाथ कहलाते हैं । उनकी आप माता हैं । इसलिये आज आप सर्वश्रेष्ठ हैं, महापुरुषों के द्वारा पूज्य एवं देवियों से सेवनीय हैं ॥२७०॥ यद्यपि यह नारी-जन्म सज्जनों के द्वारा निन्द्य है तथापि आप के सदृश नारी-जन्म प्राप्त करना त्रिलोक में प्रशंसनीय है; क्योंकि आप के समकक्ष नारी-जन्म श्री तीर्थंकर की उत्पति का कारण है । जिस प्रकार पूर्व दिशा अन्धकार को नाश करनेवाले सूर्य को प्रगट करती है, उसी प्रकार आपने भी अन्तरंग-बहिरंग दोनों प्रकार के अन्धकार का निवारण करनेवाले

श्री जिनेन्द्रदेव रूपी सूर्य को प्रगट किया है !' इस प्रकार अदृश्य रह कर इन्द्राणी ने माता की स्तुति की । फिर उसने मायामयी निद्रा के प्रयोग से माता को निद्रालु कर दिया एवं उनके समीप एक मायामय शिशु अनुकृति को रख कर उसने अपने दोनों कर (हाथों) से बाल-चन्द्रमा के समतुल्य तीनों लोकों के नाथ श्री तीर्थंकर देव को अतीव प्रसन्नता से उठाया व वहाँ से निकली । शिशु तीर्थंकर के तेज से समस्त संसार प्रकाशित हो रहा था । भगवान की काया का अति दुर्लभ स्पर्श पा कर वह शची अपने चित्त में ऐसा विचारने लगी, मानो श्री तीर्थंकर के जन्म का समस्त ऐश्वर्य उसे ही प्राप्त हो गया हो । हर्षोत्फुल्ल नेत्र से वह शची भगवान के मुखारविन्द को बारम्बार देखकर अत्यधिक प्रसन्न होती रही, जो कि अपनी कान्ति से पूर्ण चन्द्र को परास्त कर रहा था । तदनन्तर भगवान को अपने अंक (गोद) में ले कर गमन करती हुई इन्द्राणी भगवान की काया की किरणों की छटा से ऐसी प्रतीत होती थी मानो सूर्य सहित पूर्व दिशा ही हो । दिक्कुमारी देवियाँ अष्टमंगल द्रव्य लेकर इन्द्राणी के आगे-आगे चल रही थीं । उनमें से कोई तो उत्तम छत्र, कोई ध्वजा, कोई कलश, कोई चमर, कोई सुप्रतिष्ठ, कोई श्रृंगार, कोई दर्पण एवं कोई ताल (पंखा) लिए हुई थीं । जिस प्रकार पूर्व दिशा उदय होते हुए सूर्य को उदयाचल पर्वत के शिखर पर, जिस पर मणियाँ दैदीप्यामान हो रही हैं, विराजमान कर देती हैं, उसी प्रकार इन्द्राणी ने भी प्रसूति गृह से बाहर आकर शिशु तीर्थंकर को इन्द्र के हस्तकमलों (हाथों) में विराजमान कर दिया ॥२८०॥ इन्द्र ने इन्द्राणी के हस्त से आदरपूर्वक शिशु भगवान को ले लिया एवं स्नेहपूर्वक उनके अनुपम रूप को नेत्र विस्फारित कर देखने लगा । सूक्ष्म बुद्धि का धारी वह इन्द्र भगवान को देख कर परम सन्तुष्ट हुआ एवं तदुपरान्त भगवान के गुणों का वर्णन कर उनकी स्तुति करने लगा-'हे देव ! आप संसार के स्वामी हैं । हे प्रभो ! आप जगत् के गुरु हैं, आप धर्मतीर्थ के विधाता हैं एवं योगियों के लिए आप महापूज्य हैं । हे प्रभो ! आप इस लोकालोक रूपी गृह में समस्त तत्वों को प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञान रूपी दीपक के धारक होंगे, इसमें कोई संशय नहीं है । हे प्रभो ! आप अपनी वचन रूपी किरणों से अज्ञानान्धकार का निवारण करनेवाले ज्ञान रूपी सूर्य हैं, आप ही मोह रूपी निद्रा में सुप्त समस्त संसार को जाग्रत करायेंगे । हे देव ! आपने अपनी काया की विमल कान्ति से बाह्य अन्धकार को नष्ट कर दिया है, अब भविष्य में अपनी वचन रूपी किरणों से भव्य जीवों के चित्त के अन्तरंग अन्धकार को विनष्ट करेंगे । हे प्रभो ! जिस समय आप तीनों

ज्ञानों को धारण कर माता के गर्भ में अवतीर्ण हुए थे, उसी सयम वे अहमिन्द्र भी आपको नमस्कार करते हैं एवं अपने अनुगत देवों के संग प्रत्येक इन्द्र भी आपको नमस्कार करते हैं । हे नाथ ! मुक्ति रमणी आप ही पर आसक्त हुई है एवं आपकी प्राप्ति की अभिलाषा में उत्सुक हो रही है । आपमें समस्त गुणराशि चन्द्रमा की कला के समान वृद्धि को प्राप्त हो रही है । अतः हे जगत्गुरु, आपको नमस्कार है । हे कर्मों के नाश करनेवाले, आप को नमस्कार है । आप भव्य प्राणी रूपी पद्म पुष्पों के लिए सूर्य के सदृश हैं एवं गुणों के सागर हैं, इसलिये आप को नमस्कार है । हे प्रभो ! आप चक्रवर्ती हैं, धर्म चक्रवर्ती हैं एवं कामदेव हैं; इसलिये आप को नमस्कार है । हे देव ! मैं आपके चरणकमलों को अत्यन्त आदर के साथ मस्तक पर धारण करता हूँ ।' इस प्रकार इन्द्र ने भगवान की स्तुति की, उनको अपने अंक (गोद) में बिठाया एवं मेरु पर्वत हेतु प्रस्थान करने के लिए अपने हस्त को ऊँचा उठा कर घुमाया अर्थात् सब को संग चलने का संकेत किया ॥२९०॥ 'हे ईश ! आप की जय हो ! हे तीन लोक के स्वामी ! आपकी जय हो । संसार में आपकी यशोवृद्धि निरन्तर होती रहे । हे दयालु, हे नाथ ! आप मेरी रक्षा करें ।'-इस प्रकार अपने हृदय की प्रसन्नता व्यक्त करते हुए देवगण तुमुल ध्वनि में भगवान का जयगान कर रहे थे । इसलिये उस समय ऐसा कोलाहल हो रहा था, जिससे समसत दिशाएँ स्तब्ध हो रही थीं । तदनंतर अपनी काया एवं आभरणों की कान्ति से इन्द्रधनुष निर्मित करते तथा जय-जय घोष करते हुए देवगण व्योम में जा पहुँचे । गन्धर्व देवों ने संगीत प्रारम्भ किया एवं ऐरावत गजराज के विशाल दन्तों पर स्थित पूर्वोक्त पद्मपुष्पों पर चन्चल मनोहर अप्सराएँ नयनाभिराम नृत्य करने लगीं । इधर-उधर विस्तीर्ण (फैले हुए) देवों के रत्नजड़ित विमानों से परिपूर्ण (भरा हुआ) निर्मल आकाश ऐसा भव्य प्रतीत होने लगा, मानो उसने नेत्र ही खोले (उपाड़े) हों । ईशान इन्द्र ने सौधर्म इन्द्र के अंक में विराजमान श्री जिनेन्द्रदेव के मस्तक पर धवल छत्र लगाया । सनत्कुमार एवं माहेन्द्र-दोनों इन्द्र भगवान पर क्षीरसागर की लहरों के सदृश चँवर ढुराने लगे । उस समय की विभूति को देख कर मिथ्यादृष्टि देव भी इन्द्र को प्रमाण मान कर जैन धर्म की श्रेष्ठता में अपनी श्रद्धा प्रकट करने लगे । हस्तिनापुरी से लेकर मेरु पर्वत पर्यंत इन्द्रनील मणियों द्वारा निर्मित नसैनियाँ (सीढ़ियाँ) ऐसी भव्य प्रतीत होती थीं, मानो भक्ति से आकाश ही नसैनी में परिवर्तित हो गया हो ॥३००॥ इन्द्रादिक समस्त देव ज्योतिष पटल का उल्लंघन कर मेरु पर्वत के शिखर पर स्थित महा मनोहर पाण्डुक वन में जा पहुँचे । वह

मनोहर मेरु पर्वत धरातल के नीचे एक सहस्र (हजार) योजन विस्तृत है एवं धरातल के ऊपर भी निन्यानवे सहस्र योजन ऊँचा है । उसकी चौड़ाई भूतल के समीप दश सहस्र योजन है एवं वनों से सुशोभित मस्तक पर एक सहस्र (हजार) योजन है । उस पर्वत की सेवा अनेक देव भी करते हैं । मस्तक के ऊपर चूलिका है, जो मूल में द्वादश (बारह) योजन चौड़ी है, शिखर पर चार योजन चौड़ी है, मध्य में आठ योजन चौड़ी है एवं नीचे से ऊपर तक चालीस योजन ऊँची है । वह मेरु पर्वत चारों वन रूपी महा मनोहर वस्त्रों से, सोलह चैत्यालय रूपी आभूषणों से, कूट रूपी दो हस्तों से, पीठ रूपी दो पैरों से, चूलिका रूपी मुकुट से एवं शिला रूपी ललाट से इन्द्र के सदृश शोभायमान था । वह मेरु पर्वत अपने ऊपर अभिषेक होने के कारण श्री जिनेन्द्रदेव का आभारी था एवं देव-देवी भी उसकी सेवा करते थे । पर्वत की ईशान दिशा में एक अत्यन्त विशाल पाण्डुक शिला है, उसी पर सदैव तीर्थंकरों का अभिषेक हुआ करता है । वह पाण्डुक शिला एक शतक योजन लम्बी है, पचास योजन चौड़ी एवं आठ योजन ऊँची है । वह शिला शाश्वत है एवं अर्द्धचन्द्र के आकार की है । वह महा उज्जवल शिला देवों के द्वारा अनेक बार क्षीरसागर के जल से प्रक्षालित की गई है, इसलिये वह पवित्रता की चरम सीमा तक पहुँच गई है । श्री तीर्थंकरों के अभिषेक के लिए उस शिला के मध्य भाग में जो सिंहासन रक्खा है, उसका मुख पूर्व की ओर है एवं रत्नों की किरणों से व्याप्त है ॥३१०॥ उसके पार्श्व (अगल-बगल) में दो स्थिर सिंहासन अन्य भी हैं, जिन पर उत्तिष्ठ (खड़े) होकर सौधर्म एवं ईशान इन्द्र भगवान का अभिषेक करते हैं । भगवान के विराजमान होने का सिंहासन पाँच शतक धनुष ऊँचा है एवं ढाई सौ धनुष चौड़ा है । इस प्रकार इन्द्र ने अनेक प्रकार की विधि, नृत्य, गीत, नाद एवं शुभ महोत्सव के संग तीनों लोकों के साथ श्री तीर्थंकर भगवान को उस उच्च सिंहासन पर विराजमान किया एवं शेष समस्त देवों ने अतीव प्रसन्नता से मेरु पर्वत को चतुर्दिक से घेर लिया । पुण्य कर्म के उदय से जिन तीर्थंकर भगवान की सेवा गर्भ में ही समस्त देवों के संग इन्द्रों ने की थी, जन्म लेते ही मेरु पर्वत पर जिनका अभिषेक एवं पूजन हुआ था, जो समस्त गुणों के सागर हैं एवं कर्मों को परास्त करनेवाले हैं, ऐसे श्री तीर्थंकर भगवान की संसार में जय हो । श्री शान्तिनाथ भगवान ने निर्मल पुण्य कर्म के उदय से ही धर्म के प्रभाव से मनुष्य एवं देव गति में अनेक प्रकार के सुख भोगे एवं फिर धर्म के ही प्रभाव से इन्द्रों ने उनको मेरु पर्वत पर अभिषेक करने के लिए स्थापित किया था,

श्री शांतिनाथ पुराण

इस तथ्य को हृदयगम कर बुद्धिमान प्राणियों को हृदय में सर्वदा धर्म को ही धारण करना चाहिये । जिस समय भगवान श्री शान्तिनाथ सिंहासन पर विराजमान थे उस समय उन्हें देख कर समस्त देवगण इस प्रकार कल्पना कर रहे थे-'क्या यह चन्द्रमा है या पुण्य की राशि है अथवा निर्मल प्रकाश का पुन्ज है या स्वयं कामदेव है ? क्या यह देवों के द्वारा पूज्य इन्द्र है,या परब्रह्म है ? क्या चक्रवर्ती है, या धर्म की साक्षात् मूर्ति है ?' जिन श्री शान्तिनाथ भगवान की इस प्रकार कल्पना की जाती रही, वे शान्तिनाथ भगवान हमें, आपको एवं समस्त चराचर को निरन्तर शान्ति प्रदान करें । धर्म से ही चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है, धर्म से ही इन्द्र का उत्तम पद प्राप्त होता है, धर्म से ही मनुष्यगण द्वारा पूज्य तीर्थंकर पद प्राप्त होता है एवं धर्म से ही शाश्वत मोक्ष पद प्राप्त होता है । धर्म से ही जीवों को समस्त प्रकार की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं एवं धर्म से ही मेरु पर्वत पर अभिषेक होता है, यही समझ कर विद्वानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए निर्मल धर्म का ही सेवन करना चाहिये । भगवान श्री शान्तिनाथ तीनों लोकों में शान्ति प्रदान करनेवाले हैं, मुनिराज भी श्री शान्तिनाथ का आश्रय लेते हैं, श्री शान्तिनाथ से श्रेष्ठ धर्म की प्रवृत्ति होती है । इसलिये मैं उन श्री शान्तिनाथ को नमस्कार करता हूँ । मुनियों को श्री शान्तिनाथ से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, शाश्वत मोक्ष-रमणी श्री शान्तिनाथ की ही है । हे श्री शान्तिनाथ ! आज से मैं आपमें ही अपना चित्त लगाता हूँ । हे प्रभो ! इस संसार में मुझे शान्ति दीजिये ।

श्री शान्तिनाथ पुराण में भगवान का जन्मावतरण और देवों के आगमन का वर्णन करनेवाला तेरहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥१३॥

चौदहवाँ अधिकार

श्री शान्तिनाथ भगवान के चरित्र का वर्णन करने हेतु मुझे निर्मल बुद्धि एवं शान्ति प्रदान करने के लिए मैं भगवान को नमस्कार करता हूँ ॥१॥ अथानन्तर-भावी तीर्थंकर भगवान के अभिषेक का दर्शन करने के लिए समस्त दिशाओं में अनुक्रम से समस्त देव पाण्डुक शिला को घेर कर बैठ गये । दिक्पाल देव अपनी निकायों के देवों के संग भगवान का अभिषेक देखने की अभिलाषा से भगवान के सिंहासन के चतुर्दिक बैठ गये । उस पाण्डुक वन में देवों की समस्त सेनायें आनन्द सहित चूलिका एवं मेरु पर्वत

को तथा समस्त व्योम को घेर कर बैठ गईं । तदनन्तर परम आनन्द को धारण करते हुए सौधर्म इन्द्र ने समस्त इन्द्रों एवं देवों के संग भगवान का अभिषेक करना प्रारम्भ किया । उस समय देवों के नगाड़े आकाश में गम्भीर नाद के साथ बजने लगे एवं देवांगनाएँ आनन्दित होकर मनमोहक नृत्य करने लगीं । उस समय सुगन्धित धूप का धुँआ चारों ओर फैल गया एवं देवों ने 'शान्ति तुष्टि पुष्टि' देनेवाले अनेकानेक अर्घ्य पुण्यार्थ समर्पित किये । इन्द्रों ने एक दिव्य मण्डप बनाया, जिसमें समस्त देव बिना किसी बाधा के बैठ गये । उस मण्डप में कल्पवृक्षों से उत्पन्न सुवर्ण एवं मुक्ताओं की मालाएँ लटक रही थीं , जो पुण्य की पंक्तियों के सदृश प्रतीत होती थीं । तदनन्तर सौधर्म इन्द्र ने भगवान श्री शांतिनाथ का प्रथम अभिषेक करने के लिए सर्वप्रथम प्रस्तावना विधि की एवं तत्पश्चात् कलशोद्धार किया अर्थात् कलश हस्त में लिया ॥१०॥ तदुपरान्त ईशान इन्द्र ने भी आनन्दित होकर सुवर्ण एवं रत्नों से निर्मित तथा चन्दन से चर्चित कलश हस्त में लिया । शेष कल्पवासी इन्द्र आनन्द सहित 'जय-जय' घोष (निनाद) करने लगे एवं अभिषेक विधि में उनके परिचायक बने । समस्त इन्द्राणियाँ, समग्र देवियाँ, समग्र अप्सरायें हस्त में मंगल द्रव्य लेकर परिचारिकायें बनीं । जिन कलशों में जल लाया गया था, वे सुवर्ण के बने हुये थे, उनका मुख एक योजन चौड़ा था, आठ योजन की उनकी गहराई थी, मणियों की किरणों से वे व्याप्त थे एवं मोतियों की मालाएँ उन पर लटक रही थीं । उन कलशों में देव क्षीरसागर का जल लाने गये थे एवं वे मेरु पर्वत से लेकर क्षीरसागर तक पंक्तिबद्ध खड़े होकर जल ला रहे थे । भगवान श्री शान्तिनाथ स्वयम्भू हैं, स्वयं पवित्र हैं, दुग्ध के सदृश श्वेत निर्मल उनका रुधिर है; इसलिये क्षीरसागर के जल के अतिरिक्त अन्य कोई जल उनकी काया को स्पर्श करने योग्य नहीं है, यही समझ कर अति आननिदत होकर देव उनके अभिषेक हेतु क्षीरसागर का ही जल लेकर आये थे । जल से भरे हुए उन कलशों से आकाश व्याप्त हो गया था एवं ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह संध्या के पीतवर्णी मेघों से ही आप्लावित हो (भर) गया हो । भगवान का अभिषेक करने के लिये इन्द्र ने अपनी अनेकानेक भुजाएँ बना ली थीं एवं प्रत्येक भुजा आभूषणों से सुशोभित थी-इसलिये वह इन्द्र स्वयं ऐसा प्रतीत होता था, मानो भूषणांग जाति का कल्पवृक्ष ही हो । कण्ठ में पड़ी हुई मुक्तामाला से सुशोभित इन्द्र ने सुवर्ण से निर्मित कलशों को अपनी सहस्र भुजाओं से ऊपर उठा रखा था, इसलिये उस समय वह इन्द्र ऐसा प्रतीत होता था मानो भाजनांग जाति का कल्पवृक्ष ही हो

श्री शांतिनाथ पुराण

॥२०॥ तदनन्तर सौधर्म इन्द्र ने 'जय-जय-जय' इस प्रकार तीन बार कह कर अत्यन्त प्रसन्नता से भगवान के मस्तक पर स्थूल, मनोहर एवं निर्मल प्रथम धारा छोड़ी । हर्षोल्लसित हुए उन कोटि-कोटि देवों में 'जय-जय' निनाद का कोलाहल मच गया एवं 'जय हो, आप की वृद्धि हो'-इस प्रकार के तुमुल उद्घोषों से समस्त दिशायें गुन्जित हो गईं । तदनन्तर समस्त कल्पवासी इन्द्रों ने संस्कार किये हुए सुवर्ण कलशों से भगवान के ऊपर गज की सूंड़ के आकार की स्थूल धारा छोड़ी । भगवान के मस्तक पर पड़ती हुई दुग्ध के सदृश श्वेत वह जल की धारा ऐसी भव्य प्रतीत होती थी मानो वेग से बहती हुई किसी दूसरी गंगा नदी का प्रवाह हो । पर भगवान में अनन्त शक्ति थी एवं उनकी काया वज्रवृषभ-नाराच-संहननधारी थी, इसलिये वे अपनी महिमा से लीलापूर्वक मेरु पर्वत के सदृश उस धारा की उपेक्षा कर रहे थे । वह धारा जिस पर्वत पर पड़ती थी, उसके खण्ड-खण्ड हो जाते थे; परन्तु भगवान की असीम शक्ति के समक्ष वह पुष्पों के समतुल्य हो जाती थी । अभिषेक करते समय निर्मल जल की धारायें भगवान की देह को स्पर्श कर दूर आकाश में फैलती हुई ऐसी मनोज्ञ प्रतीत होती थीं मानो भगवान की देह के स्पर्श से वे पापों से छूट गई हों एवं मुक्त होकर ऊपर को जा रही हों । भगवान के अभिषेक के जल की शीतल धाराएँ कुछ तिरछी भी जा रही थीं एवं ऐसा आभास हो रहा था, मानो दिशा रूपी रमणियों के कणों में अलंकृत मुक्ता ही हों । पर्वत रूपी भगवान के मस्तक पर मेघ रूपी इन्द्र के द्वारा प्रक्षालित क्षीरसागर के जल की धारा ऐसी आभासित हो रही थी मानो कोई निर्झर ही हो । कलशों के मुख पर रखे हुए पुष्पों के संग वह जल नीचे पड़ता था; इसलिये वह जल उन पुष्पों से स्मित की उत्तम शोभा को प्राप्त होता था ॥३०॥ उस पर्वत पर कहीं शुद्ध स्फटिक की भूमि थी, कहीं नील मणियों की भूमि थी एवं कहीं विद्रुम मयी भूमि थी; इसलिये वह जल की धारा भी उन भूमियों के सम्बन्ध से अनेक प्रकार से सुशोभित थी । वह स्वच्छ जल का प्रवाह मन्दराचल पर्वत से नीचे भूमि तक पड़ता हुआ ऐसा भव्य प्रतीत होता था, मानो वह मन्दराचल में नहीं समाने के कारण ही नीचे गिर रहा हो । उस समय महा सुगन्धित धूप प्रज्वलित हो रही थी, दीपक के जलने से प्रकाश हो रहा था, देव एवं बन्दीजनों के द्वारा अभिषेक के समय के मंगल गीत गाये जा रहे थे, किन्नरी देवियाँ भी भगवान के अभिषेक के समय में मनोहर गीत गा रही थीं, देवियों का समूह अनेक प्रकार के उत्तम नृत्य कर रहा था, गन्धर्व देव भी गीत गा रहे थे, देवों के कर्णप्रिय वाद्य बज रहे थे; 'जय',

'नन्द' आदि के शब्द हो रहे थे एवं असंख्य स्तोत्र पढ़े जा रहे थे । इस प्रकार इन्द्रों ने प्रसन्नता से विपुल विभूति के संग अनेक कलशों से भगवान (श्री तीर्थंकर देव) का अभिषेक समाप्त किया । तदनन्तर इन्द्र ने भक्तिपूर्वक भगवान की वन्दना करने के लिये सुगन्धित गन्धोदक से पूर्ण कलशों से उनका अभिषेक करना प्रारम्भ किया । विधि के ज्ञाता इन्द्र ने सुगन्धित द्रव्यों से प्रस्तुत दिव्य गन्धोदक जल से श्री तीर्थंकर भगवान का अभिषेक किया । समस्त दिशाओं में व्याप्त होनेवाली एवं संसार भर में प्रवाहित होनेवाली वह क्षीरसागर की धारा श्री जिनवाणी के समतुल्य हमलोगों को प्रसन्न करे । तीक्ष्ण तलवार की धारा के समान हमारे विघ्न समूहों को नाश करनेवाली पुण्य धारा हमलोगों को मोक्षपद प्रदान करे ॥४०॥ जो जलधारा भगवान की देह का स्पर्श प्राप्त कर अत्यन्त पवित्र हो गई है, वह धारा भगवान की दिव्य ध्वनि के समान हमारे अंतःकरण को पवित्र करे । इस प्रकार गंधोदक से भगवान का अभिषेक कर संसार की शांति के लिए इन्द्रों ने उच्च स्वर में शांति की घोषणा की । तदनन्तर देवों ने अपनी आत्मा को शांत करने के लिए उस गंधोदक को पहिले तो मस्तक पर लगाया, फिर सम्पूर्ण देह पर लगाया एवं शेष भेंट स्वरूप स्वर्ग को ले गये । इस प्रकार इन्द्रों ने अतीव आनन्द से भगवान का अभिषेक किया एवं तीनों लोकों के द्वारा पूज्य भगवान का अनेक प्रकार से पूजन किया । दिव्यगंध, मुक्ताफल, कल्पवृक्षों के पुष्प, अमृतपिण्ड, माणिक्य, उत्तम धूप, उत्तम फल एवं अर्घ्य चढ़ा कर उन्होंने भगवान की पूजा की, शांतिधारा प्रक्षालित की एवं इस प्रकार भगवान का जन्माभिषेक कल्याणक समाप्त किया । फिर इन्द्रों ने प्रसन्न होकर समस्त देव-देवांगनाओं के संग भगवान को तीन प्रदक्षिणाएँ दीं एवं मस्तक नवा कर उन्हें नमस्कार किया । उस समय आकाश से जलकणों के संग पुष्पों की वर्षा हुई एवं सुगन्धित केशर के पीत वर्ण एवं सुगन्धि से युक्त होकर वायु मंद-मंद प्रवाहित होने लगी । इस प्रकार प्रमुदित होकर इन्द्र ने जिनका अद्भुत स्नानोत्सव किया, ऐसे वे परम पवित्र भगवान तीनों लोकों को शीघ्र ही पवित्र करें । अथानन्तर-अभिषेक समाप्त होने पर इन्द्राणी ने प्रफुल्लित चित्त से तीनों लोकों के भावी गुरु (बालक भगवान) का श्रृंगार करना प्रारम्भ किया ॥५०॥ जिनका अभिषेक हो चुका है एवं जो अपने तेज से सूर्य को परास्त कर रहे हैं, ऐसे श्री शान्तिनाथ की काया पर लगे हुए जलकणों को उसने स्वच्छ निर्मल वस्त्र से पोंछा । भगवान को देह अत्यन्त सुगन्धित थी तथापि भक्ति में तत्पर इन्द्राणी ने सुगंधित चंदन से उस पर आलेपन किया । यद्यपि

भगवान तीनों लोकों के तिलक स्वरूप थे तथापि इन्द्राणी ने उनके ललाट पर तिलक किया एवं उनके मस्तक पर कल्पवृक्ष के पुष्पों की माला से सुशोभित मुकुट रख दिया । यद्यपि भगवान तीनों लोकों के चूड़ामणि थे तथापि इन्द्राणी ने उन्हें चूड़ामणि पहनाया एवं प्रसन्न होकर उनके नेत्रों में कज्जल लगाया । भगवान के कर्णों में जन्मजात छिद्र थे, इसलिए इन्द्राणी ने उनमें भक्तिपूर्वक सूर्य-चन्द्र के समतुल्य कांतिवान मनोहर कुण्डल पहिनाए । उनके हृदय प्रदेश में मणियों का हार पहिना दिया, कण्ठ में कण्ठी एवं माला पहनाई एवं इस प्रकार जन्म से ही अति रूपवान भगवान की शोभा सर्वोत्तम बनाई । उनके दोनों हस्त केयूर, कटक, अंगद एवं दिव्य अंगूठी से सुशोभित थे एवं वे कल्पवृक्ष के समकक्ष प्रतीत होते थे । इन्द्राणी ने प्रसन्न होकर भगवान की कटि में किंकिणियों के संग-संग बहुमूल्य मणियों से सुशोभित करधनी पहिनाई । पग (पैरों) में मणियों के नुपूर शोभायमान थे, जो झंकृत हो रहे थे एवं ऐसे प्रतीत होते पड़ते थे, मानो सरस्वती ही उन अनुपम पगों (पैरों) की सेवा कर रही हो । वे भगवान (तीर्थंकर देव) तीनों लोकों के श्रृंगारभूत थे, अत्यन्त रूपवान थे एवं दिव्य शरीर को धारण करनेवाले थे । यद्यपि उनकी काया का श्रृंगार करने की कोई आवश्यकता नहीं थी तथापि इन्द्राणी ने अपने कर्त्तव्य पालन एवं पुण्य सम्पादन करने हेतु उस समय भगवान का श्रृंगार किया ॥६०॥ सिंहासन पर विराजमान वे भगवान शैशवावस्था में ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानो पुन्जीभूत यशोराशि ही एक स्थान पर स्थिर गई हो अथवा लक्ष्मी का निर्मल पुन्ज हो अथवा शुभ परमाणुओं का समूह हो या तेज का ही स्तोत्र हो अथवा सम्पूर्ण कलाओं से सुशोभित चन्द्रमा हो या सौभाग्य का विपुल आगार हो वा सुन्दरता का अलौकिक प्रतिमान हो अथवा गुणों का अगाध सागर हो अथवा ऋद्धियों से सुशोभित तपोनिधि निर्ग्रंथ मुनिराज ही हों । सुवर्ण की कांति को धारण करनेवाली भगवान की काया स्वभाव से ही सुन्दर थी तथा अनेक प्रकार के दिव्य आभूषणों से विभूषित की गयी थी एवं उस पर इन्द्राणी ने तिलक आदि से चर्चित कर उसका मनोहर श्रृंगार किया था, इसलिए उस उपमा रहित शोभा का वर्णन भला कौन विद्वान कर सकता है ? इस प्रकार परम आनन्ददायक भावी तीर्थंकर भगवान का श्रृंगार कर इन्द्राणी उनकी रूपराशि को निहार कर स्वयं ही अत्यन्त आश्चर्य प्रगट करने लगी । इन्द्र ने भी आश्चर्य एवं कौतूहल के संग अपने दोनों नेत्रों से भगवान के रूप की उस समय की अद्भुत शोभा देखी, फिर भी वह सन्तुष्ट नहीं हुआ । पूर्ण सन्तुष्टि प्राप्त करने

की कामना से उसने विक्रिया ऋद्धि के प्रयोग द्वारा अपने सहस्र नेत्र बना लिए । उस समय समस्त देव निमेष या टिमिकार रहित लोचनों से पुण्यराशि के समूह सदृश भगवान के निर्मल रूप को देख रहे थे ॥७०॥ समस्त देवियाँ भी टिमिकार रहित नेत्रों से मणियों की खान सदृश शांतिनाथ भगवान के अतिशय रूप का दर्शन कर रही थीं । तदनन्तर इन्द्रादिक देवों ने विराट माहात्म्य प्रगट कर भगवान की स्तुति करनी आरंम्भ की-'जिस प्रकार द्वितीया का चन्द्रमा प्रगट होकर प्राणियों को आनंद लेता है, उसी प्रकार हे देव! आप भी हम लोगों को परम आनंद देने के लिए ही प्रगट हुए हैं । हे देव ! आप का पुण्योदय सर्वोत्तम है । आप मिथ्यात्व एवं अज्ञान रूपी गर्त्त में गिरते हुए प्राणियों को धर्म रूपी हस्त का अवलम्बन प्रदान कर स्वयं कृपापूर्वक उनका उद्धार करेंगे । हे प्रभो ! जिस प्रकार आपके देह की किरणों से बाह्य अन्धकार नष्ट हो गया है , उसी प्रकार मनुष्यों का अन्तरंग अन्धकार भी आपके वचनों से नष्ट हो जायेगा । हे देव ! आप षोडश (सोलहवें) तीर्थंकर हैं, आप ही पंचम चक्रवर्ती हैं, आप ही कामदेव हैं, एवं आप ही मुक्ति रूपी रमणी के पति हैं । हे नाथ ! आप जगत् के स्वामी हैं, गुरुओं के महागुरु हैं, धर्मतीर्थ को उत्पन्न करनेवाले हैं एवं सद्धर्म के प्रमुख मार्गदर्शक हैं । जिस प्रकार चन्द्रमा स्वयं निर्मल (स्वच्छ) है एवं वह समस्त पृथ्वी को धवल या श्वेत कर देता है, उसी प्रकार आप भी स्वयं पवित्र हैं एवं अपने परम गुणों से समस्त संसार को पवित्र करेंगे । हे प्रभो ! आपकी वचनामृत रूपी औषधि से अनेकानेक रोगी आरोग्य प्राप्त करेंगे । हे देव ! आप नख से शिख तक सम्यग्ज्ञानादिक समस्त गुणों परिपूर्ण हैं, इसीलिये रिक्त स्थान के अभाव में ही मानो दोष आपसे दूर पलायन कर गये हैं ॥८०॥ हे देव ! आप बिना स्नान किए ही पवित्र हैं तथापि आज इस मेरु पर्वत पर आपको स्नान कराया गया है, इसलिये हे प्रभो ! समस्त प्राणियों तथा पाप से मलिन हम लोगों को आप पवित्र कीजिये । हे देव ! आप तीनों ज्ञान रूपी नेत्रों को धारण करनेवाले हैं, इसलिये संसार में बुद्धिमान जीव आप को केवलज्ञान रूपी सूर्य का उदयाचल मानते हैं । जिस प्रकार खान से निकली हुई शुद्ध मणि भी उत्तम संस्कार के संसर्ग से अधिक दैदीप्यमान हो जाती है, उसी प्रकार अभिषेक तथा आभरणों के संसर्ग से आप भी अब अधिक दैदीप्यमान प्रतीत हो रहे हैं । मुनिगण आपको 'पुराण पुरुष' कहते हैं, 'पुराण कवि' बतलाते हैं, आपको बिना कारण का (निस्वार्थ) बन्धु कहते हैं, तीनों लोकों के प्राणियों के लिए पिता समतुल्य मानते हैं, समस्त जीवों के लिए हितकारक, पूज्य, सम्पूर्ण

विद्याओं में निपुण तथा भव्य धर्मात्मा को मोक्ष पहुँचाने के लिए संगी बतलाते हैं । आपकी आत्मा पवित्र है, आप गुणशाली हैं तथा संसार से भयभीत प्राणियों की शरण हैं; इसलिए आप को नमस्कार है । आप जगत् के स्वामी हैं, दश धर्मों को उत्पन्न करने के योग्य विशाल क्षेत्र हैं, सज्जनों को प्रसन्न करनेवाले हैं तथा दिव्य मूर्ति को धारण करनेवाले हैं, इसलिए आप को बारम्बार नमस्कार है । हे प्रभो ! आपकी प्रवृत्ति परिग्रह रहित है । आप सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्रों को धारण करनेवाले हैं । आप अत्यन्त बलवान हैं एवं सज्जनों के गुरु हैं, इसलिए आप को बारम्बार नमस्कार है । आपकी निर्मल काया स्वेद-रहित है, मल रहित है, आपका रुधिर दुग्ध के समतुल्य श्वेत है, आपका संहनन वज्रवृषभनाराच है, संस्थान समचतुरस्र है, आपकी काया अत्यन्त रूपवान है, अत्यन्त सुगन्धित है, सम्पूर्ण सुलक्षणों से सुशोभित है, अनन्त शक्ति को धारण करनेवाली है तथा आप के वचन प्रिय तथा समस्त जीवों का हित करनेवाले हैं-ये दश सुन्दर अतिशय आपकी काया के संग प्रगट हुए हैं, इसलिए आपको नमस्कार है, नमस्कार है, बारम्बार नमस्कार है ॥९०॥ इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक गुण आप में हैं । आप शान्ति प्रदान करनेवाले हैं, श्रीमान् हैं एवं ज्ञान के सागर हैं, इसलिए आपको बारम्बार नमस्कार है । हे संसार के स्वामी ! आप उपमा रहित हैं एवं अनेक महिमाओं से मण्डित लक्षणों से शोभायमान हैं; इसलिए आपको नमस्कार है । हे देव ! इस प्रकार आपकी स्तुति कर हम आप से कोई कुछ याचना नहीं कर रहे हैं, क्योंकि आप तो तीनों लोक के साम्राज्य के अधिपति हैं तथा हमें उसका लोभ नहीं है । हे स्वामिन् ! आप हमें निर्मल रत्नत्रय दीजिये, समाधि मरण दीजिये, हमारे अशुभ कर्मों का नाश कीजिये एवं अपने शुभ गुण हमें प्रदान कीजिये । हे श्री जिनराज ! अधिक प्रार्थना से भला क्या लाभ है ? भव-भव में आप के प्रति होनेवाली प्रगाढ़ भक्ति केवल हमें दीजिये ।' इस प्रकार स्तुति कर इन्द्रादि देवों ने भगवान के गुण प्राप्त करने के लिए अथवा मोक्ष प्राप्त करने के अभिप्राय से मस्तक नवा कर श्री शान्तिनाथ के चरण कमलों में अपार प्रसन्नता पूर्वक नमस्कार किया । वे भगवान संसार मात्र को शान्ति प्रदाता थे, उनके सम्पूर्ण पाप शान्त हो गए थे एवं वे स्वयं शान्त थे, यही समझ इन्द्रों ने उनका सार्थक नामकरण 'शान्ति' किया । तदनन्तर इन्द्र ने भगवान को ऐरावत गजराज पर विराजमान किया एवं तत्पश्चात् इन्द्रादिक समस्त देवगण पूर्व के सदृश दुन्दुभी आदि वाद्य, गीत-नृत्य, 'जय-जय' घोष शब्द करते हुए एवं विपुल विभूति के संग व्योम का अतिक्रम कर अति

शीघ्र हस्तिनापुरी नगरी में आ गये ॥१००॥ वह नगरी अट्टालिकाओं पर फहराती हुई अनेक प्रकार की मनोहर ध्वजाओं से तथा गीत-नृत्य आदि महोत्सवों से प्रत्यक्ष अमरापुरी के समतुल्य शोभायमान हो रही थी। देवों की सेना उस नगरी को घेर कर चारों ओर ठहर गई, मानो वह उसकी शोभा के अवलोकनार्थ ही आई हो। तदनन्तर इन्द्र ने स्वयं जगत्गुरु शान्तिनाथ भगवान को लेकर कुछ अन्य देवों के संग महाराज विश्वसेन के प्रांगण में प्रवेश किया। देवों के द्वारा देवोपम सुशोभित किए हुए उस राजप्रासाद के प्रांगण में सौधर्म इन्द्र ने भगवान को सिंहासन पर विराजमान किया। उस समय महाराज विश्वसेन की देह रोमांचित हो उठी थी एवं वे महत् आश्चर्य के संग नेत्र विस्फारित कर अपने पुत्र (भगवान) को निहारने लगे। उस समय भगवान अपनी कान्ति से चन्द्रमा के सदृश मनोज्ञ प्रतीत हो रहे थे, देखने में बहुत प्रिय लगते थे, तेज में सूर्य के समतुल्य थे एवं समस्त आभरणों से सुशोभित थे। इन्द्राणी (शची) ने माता की मायानिद्रा का निवारण किया एवं उन्हें जगाया। तब वह महारानी ऐरा प्रसन्न होकर अपने परिवार के सदस्यों के संग अपने पुत्र को देखने लगी। उस समय वे शिशु भगवान अपनी कान्ति से सूर्य को परास्त कर रहे थे, इसलिये ऐसे प्रतीत होते थे, मानो तेज का समूह ही एक स्थान पर आकर प्रगट हो गया हो तथा आभूषणों से वे ऐसे आभासित होते थे मानो भूषणांग जाति का कल्पवृक्ष ही हो। उस समय भगवान के माता-पिता इन्द्राणी के संग इन्द्र को अवलोक कर बहुत ही प्रसन्न हुए, क्योंकि उनके समस्त मनोरथ पूर्ण हो चुके थे ॥११०॥ तदनन्तर श्री शान्तिनाथ का पुण्य प्रकट करने के लिए इन्द्र ने देवों के साथ प्रमुदित होकर उत्तम स्तुति वाक्यों से माता-पिता की प्रशंसा की। वह कहने लगा 'आप धन्य हैं, आप जगत् पूज्य हैं, तीनों लोक आप की वन्दना करते हैं, देव भी आप की वन्दना करते हैं, आप चतुर हैं, महा भाग्यशाली हैं एवं कल्याणगामी हैं। संसार में आप दोनों ही सौभाग्य का भोग करनेवाले हैं, आप ही उत्तम कुल में उत्पन्न हुए हैं, आप ही ज्ञानी हैं, आप ही लोकमान्य हैं, आप ही श्रेष्ठ हैं, सौभाग्यलक्ष्मी से सुशोभित हैं एवं समस्त नृपतियों में अग्रणी हैं। आप के पुण्य कर्म के अद्भुत उदय से ही समस्त गुणों की खान, गुरुओं के गुरु तीनों लोकों के चूड़ामणि एवं सर्वोत्तम-श्री तीर्थंकर भगवान ने आपके कुल में अवतार लिया है। जीवों को समस्त तत्वज्ञान प्रगट करनेवाले श्री तीर्थंकर रूपी ये महान सूर्य ऐरा देवी रूपी पूर्व दिशा में राजा विश्वसेन रूपी उदयाचल पर्वत से प्रगट हुए हैं। ये भगवान अज्ञान रूपी अन्धकार का

नाश करनेवाले हैं, भव्य जीवों के हृदय कमल को प्रफुल्लित करनेवाले हैं एवं तीनों जगत् के गुरु हैं, आप उनके माता-पिता हैं; इसलिए आप तीनों जगत् के गुरु के भी गुरु हैं । यह आपका राजप्रासाद आज से जिनालय के समतल्य आराधना करने योग्य है एवं आप हम लोगों के द्वारा सदा पूज्य एवं मान्य हैं; क्योंकि आप हमारे गुरु के भी गुरु हैं ।'इस प्रकार इन्द्र ने माता-पिता की स्तुति की, दिव्य एवं उत्तम वस्त्र, माला एवं आभरणों से उनको विभूषित किया एवं सर्वप्रकारेण उन्हें प्रसन्न किया । तदनन्तर इन्द्र ने भगवान को मेरु पर्वत पर ले जाने, वहाँ पर उनका अभिषेक करने एवं वहाँ से वापस आने का सम्पूर्ण वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों उन्हें कह सुनाया । इस सविस्तार वर्णन को सुनकर माता-पिता परम प्रसन्न हुए, उन्हें चरम सीमा तक पहुँचानेवाले सुख की अनुभूति प्राप्त हुई एवं वे महत् आश्चर्य व्यक्त करने लगे ॥१२०॥ तदनन्तर आल्हादित भगवान के माता-पिता ने इन्द्र के उपदेशानुसार विपुल विभूति तथा उत्सव के संग पुनः भगवान का जन्मोत्सव मनाया । उस समय अनेक वर्णों की महाध्वजा, माला, मुक्तायों की माला तथा मनोहर तोरणों से सुसज्जित की गई वह नगरी अत्यन्त मनोज्ञ प्रतीत होती थी । उस समय रत्नों के चूर्ण से पूरे हुए चौकों से नगर की वीथियाँ (गलियाँ) अत्यन्त उत्तम आभासित होती थीं एवं नगरी भी गीत-वाद्य आदि से स्वर्ग के सदृश प्रतीत होती थी । जिस प्रकार नृपति एवं सज्जनगण अपनी सहधर्मिणियों के संग समस्त विघ्नों का विनाश करने के लिए एवं मोक्ष प्राप्त के लिए भव्य जिनालयों में प्रचुर विभूति के संग समस्त कल्याणकों को सिद्ध करनेवाली भगवान की पूजा अभिषेकपूर्वक कर रहे थे, उसी प्रकार अपने-अपने हृदय में आनन्दित होकर समस्त नगर निवासी भी भगवान की पूजा कर रहे थे । जिस प्रकार महाराज विश्वसेन ने मुक्त हस्त होकर दीन एवं अनाथ जनों को अनेक प्रकार का दान दिया, उसी प्रकार नगर निवासियों ने भी हार्दिक प्रसन्नता से दान दिया । जिस प्रकार अन्तःपुर में समस्त नर-नारी नृत्य-वाद्य आदि से महोत्सव मना रहे थे, उसी प्रकार नगर निवासी भी घर-घर आनन्द मनाने लगे । जिस प्रकार मेरु पर्वत पर अपार विभूति के संग परम उत्सव हुआ, उसी प्रकार यहाँ भी हार्दिक आनंद में निमग्न परिवार के सदस्यों के द्वारा कल्याणकोत्सव मनाया गया । उस समय अन्तःपुरवासियों एवं नागरिकों के संग समस्त संसार को आनन्दित देखकर इन्द्र ने भी आनन्द प्रगट करना चाहा तथा इसलिये उसने उन सब के सम्मुख अपार विभूति सहित सम्पूर्ण परिवार के संग उसी समय मनोमुग्धकारी 'आनन्द' नामक एक नाटक

अभिनीत करना प्रारम्भ किया । इन्द्र का वह नाटक प्रारम्भ होते ही महाराज विश्वसेन आदि समस्त नृपति अपनी रानियों एवं राजकुमारों के संग उसे देखने के लिए बैठ गये ॥१३०॥ उस समय उस नाटक की विधि के ज्ञाता गन्धर्व पात्रों के द्वारा श्री जिनेन्द्रदेव के गुणों को प्रगट करनेवाला संगीत बजने लगा । वीणा के संग-संग स्वर मिलानेवाली किन्नरी देवियों के द्वारा मधुर स्वर में श्री तीर्थंकर के गुणों को प्रगट करनेवाला मनोहर संगीत गाया जा रहा था । उस उत्सव में देवों के बजाये हुए मृदंग वाद्ययंत्र नृत्य की ताल मधुर पर संगीत दे रहे थे एवं देवों के मुख से बजनेवाली बंशी भी उसी लय में बज रही थी । इन्द्र ने सर्वप्रथम धर्म, अर्थ, काम-इन तीनों पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला गर्भ-कल्याणक एवं जन्म-कल्याणक सम्बन्धी नाटक प्रदर्शित किया । तत्पश्चात् भगवान के विगत एकादश पर्यायों को प्रदर्शित कर तत्सम्बन्धी अनेक प्रकार के रूप दिखलाये । उसने सर्वप्रथम शुद्ध पूर्व रंग दिखलाया एवं फिर काया को प्रिय लगनेवाले साधनों के द्वारा अनेक प्रकार के उत्तम नाटक अभिनीत किए । इन्द्र ने चित्र, रेचक, पंदुकट एवं कण्ठाश्रित आदि हावभाव के द्वारा दर्शकों को रसपान कराते हुए ताण्डव नृत्य किया । इन्द्र सहस्र भुजाएँ बनाकर नृत्य कर रहा था उस समय तथा ऐसा प्रतीत होता था, मानो उसके पाद-प्रहार से भूमि फट कर द्विधा हो जाएगी । वस्त्र एवं आभूषणों से दैदीप्यमान सुदीर्घ काया को धारण करनेवाला वह इन्द्र आभूषणों से सुशोभित अपनी सहस्र भुजाओं को विस्तृत कर नृत्य कर रहा था एवं ऐसा आभास होता था मानो कल्पवृक्ष ही नृत्य कर रहा हो ॥१४०॥ वह इन्द्र क्षणभर में एक परिलक्षित होता था, क्षणभर में अनेक रूप धारण करता था, क्षणभर में स्थूल, क्षणभर में सूक्ष्म, क्षणभर में समीप, क्षणभर में दूर, क्षणभर में आकाश में, क्षणभर में पृथ्वी पर, क्षणभर में अनेक भुजाधारी, क्षणभर में दो भुजवाला, क्षणभर में दीर्घ, क्षणभर में लघु, क्षणभर में विराटकाय (लम्बा-चौड़ा) एवं क्षणभर में अणु रूप दिखाई देता था । इस प्रकार वह इन्द्र अपनी विक्रिया ऋद्धि का माहात्म्य प्रदर्शित कर रहा था एवं स्वयं इन्द्रजाल के समतुल्य प्रतीत होता था । इन्द्र की भुजाओं पर अप्सरायें भी लीलापूर्वक अपनी मनोहर काया, कटि, पग, ग्रीवा आदि थिरका कर नृत्य कर रही थीं । अप्सराएँ द्रुतगामी लय के संग नृत्य कर रही थीं, ताण्डव नृत्य कर रही थीं एवं अनेक प्रकार के अभिनय दिखला कर नृत्य कर रही थीं, इन्द्र के भुजाओं की उंगलियों पर फिरकी ले रही थीं, उँगलियों के पर्वों पर फिरकी ले रही थीं एवं उसकी नाभि पर बाँस के सदृश खड़ी थीं । इन्द्र की

भुजा पर नृत्य करती हुई एवं बड़े वेग से फिरकी लेती हुई देवांगनाएँ विद्युत के समतुल्य आभासित होती थीं। नृत्य करते हुए इन्द्र की काया के प्रत्येक अवयव की जो चेष्टा-प्रचेष्टा होती थी, वह नृत्य करनेवाले पात्रों में विभक्त हो जाने के कारण नयनाभिराम प्रतीत होती थी। उन देवियों के संग नृत्य करता हुआ सौधर्म इन्द्र अपनी विभूति से ऐसा प्रतीत होता था, मानो कल्पलताओं के संग नृत्य करता हुआ जंगम कल्पवृक्ष ही हो। उस नाटक में दर्शक विश्वसेन आदि नृपति तथा ऐरा आदि महारानियाँ थीं। उस नाटक में तीनों जगत् के गुरु भगवान श्री शांतिनाथ की आराधना हो रही थी। सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र नट था, देवांगनाएँ नृत्यांगनायें थीं। देवों की दुन्दुभी वाद्य थे, गंधर्वादिक गायक थे। वह रस, वह नृत्य, वह विज्ञान, वह विक्रिया, वह गीत, वह वाद्य एवं देवों के द्वारा आयोजित हुआ वह अद्भुत महोत्सव समग्र महामनोहर एवं था अत्यन्त ही विस्मयकारी। वह वचनों के लिये अगोचर था, इसीलिये कोई भी विद्वान उसका वर्णन नहीं कर सकता है ॥१५०॥ महाराज विश्वसेन महारानी ऐरा देवी के संग उस अद्भुत नृत्य को देखकर परम आश्चर्य व्यक्त करने लगे। उस समय अनेक इन्द्रादिक देव उनकी उत्तम प्रशंसा कर रहे थे। तदनन्तर इन्द्र ने भावी तीर्थंकर भगवान की सेवा करने के लिए क्रीड़ा में पारंगत देवों को नियुक्त किया, जो कि भगवान के समतुल्य ही आयु, रूप, वेष आदि को धारण किये हुए थे। इस प्रकार धर्म साधन कर प्रमुदित हुए चारों निकायों के देव अपना-अपना नियोग पालन कर तथा अनेक प्रकार का पुण्योपार्जन कर अपने-अपने स्थान को प्रत्यावर्त्तन गये। दृढ़रथ का जीव भी पुण्य कर्म के उदय से सुदीर्घ काल तक सुखों का अनुभव कर सर्वार्थसिद्धि से चय कर महाराज विश्वसेन की यशस्वती रानी के गर्भ से चक्रायुध नाम का पुत्र हुआ। वह चक्रायुध दिव्य लक्षणों से सुशोभित था, मोक्षगामी था, महा धीर-वीर था, महापुरुष था एवं ज्ञान-त्याग आदि गुणों का आगार था। भगवान श्री शन्तिनाथ को स्नान कराने, वस्त्राभरण पहिनाने, संस्कार कराने एवं भोजन कराने के लिए इन्द्र ने अनेक देवांगनाओं को धायरूप में नियुक्त कर रखा था। वे समस्त देवांगनायें भक्तिपूर्वक दिव्य द्रव्यों से भगवान का स्नान, तैल मर्दन, केशसज्जा एवं अद्भुत श्रृंगार आदि सम्पूर्ण संस्कार करती थीं ॥१६०॥ तदनन्तर भगवान की सुन्दर काया के अवयव द्वितीया के चन्द्रमा समान धीरे-धीरे अनुक्रम से विकसित होने लगे। भगवान शान्तिनाथ मन्द-मन्द मुस्कराते थे एवं मणियों से निर्मित प्रांगण में घुटनों के बल सरकते थे। इस प्रकार बाल्य अवस्था में अद्भुत चेष्टाएँ करते

हुए वे माता-पिता को आनन्दित करते थे । भगवान का किंचित-सा हँसना मानो मुखरूपी चन्द्रमा में निर्मल चाँदनी के समतुल्य था, जिससे उनके मुखकमल में सरस्वती (वाणी) ने प्रवेश किया । उनकी वाणी प्रिय एवं मधुर थी, अत्यन्त मनोहर थी एवं सम्पूर्ण संसार को आनन्द प्रदायक थी । आभूषणों से सुशोभित होकर मणियों की भूमि पर डगमगाते पगों से चलते हुए वे भगवान ऐसे मनोज्ञ प्रतीत होते थे, मानो चलायमान कल्पवृक्ष ही हो । वे देवकुमार कभी तो गज, अश्व, वानर आदि का सुन्दर रूप धारण कर अतीव प्रसन्नता से भगवान के संग क्रीड़ा करते, कभी भगवान की आयु के ही समतुल्य बालक का मनोहर रूप धारण कर रत्नों की धूलि से क्रीड़ा कर उनको प्रसन्न करते थे । भगवान की काया में अंगप्रत्यंग जैसे-जैसे वृद्धि पाते थे, वैसे-वैसे ही देव पुरातन आभूषणों को उतार कर नये आभूषण उन्हें पहना देते थे । भगवान की वह बाल्यावस्था चन्द्रमा के समतुल्य संसार में वन्दनीय थी, प्राणियों के नेत्रों को आनन्द प्रदायक थी एवं मनोहर तथा निर्मल थी । इस प्रकार वे भगवान अमृतमय अन्नपान तथा अपनी आयु के योग्य आभूषणों से चन्द्रमा की मनोहरता के सदृश अनुक्रम से कुमार अवस्था को प्राप्त हो गए थे ॥१७०॥ देह के संग-संग ही आयु (उम्र) की कान्ति, दीप्ति, कला, विद्या एवं तीनों ज्ञानों से उत्पन्न होनेवाले गुण-समस्त स्वयंमेव ही विकसित होते गए । उनकी काया मनोहर थी, वाणी प्रिय थी, सज्जनों को मान्य थी एवं अनुराग उत्पन्न करनेवाली थी । नेत्र सौम्य अवस्था को धारण करते थे एवं उनका अंग-उपांग सम्पूर्ण शुभ था । मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान-ये तीनों ज्ञान तो जन्म के संग ही प्रगट हुए थे एवं अन्य समस्त महाविद्याएँ भी स्वयंमेव उनमें प्रगट हो गई थीं । वे श्री तीर्थंकर भगवान हित-अहित को एवं मुनि-गृहस्थ के धर्म को अपने ज्ञान से स्वयंमेव ही जानते थे । इसलिए वे भगवान समस्त विद्वानों के गुरु एवं समस्त विद्याओं को प्रगट करनेवाले थे, संसार में अन्य कोई प्राणी उनका गुरु नहीं था । तदनन्तर क्षायिक सम्यग्दर्शन से सुशोभित होनेवाले बुद्धिमान भगवान ने अष्ट वर्ष की अल्पायु में गृहस्थ धर्म पालन की अभिलाषा से परम शुद्धतापूर्वक अपने योग्य पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत-ये द्वादश व्रत स्वयं धारण किए । वे भगवान माता-पिता का आनन्दवर्द्धन करते हुए, भ्राताओं की सुखवृद्धि करते हुए एवं संसार के प्राणियों में स्नेहावृद्धि करते हुए अनुक्रम से विकास करने लगे । तदनन्तर वे भगवान अपनी कांति से कामदेव तथा चन्द्रमा को, दीप्ति से सूर्यादिक को परास्त करते हुए उपमा रहित यौवन अवस्था को प्राप्त कर अत्यंत

मनोज्ञ परिलक्षित होने लगे । श्री शान्तिनाथ दिव्य रूपवान थे, तपाये हुए सुवर्ण के समान उनकी कांति थी, एक लक्ष वर्ष की आयु थी एवं चालीस धनुष उच्च उनकी काया थी ॥१८०॥ वे भगवान निःस्वेद (पसीना रहित) आदि गुणों, यौवन की कांति एवं देवों के द्वारा लाये हुए उत्तम वस्त्राभूषणों से समस्त उपमाओं को परास्त करते हुए नयनाभिराम सुशोभित हो रहे थे । भ्रमर-श्याम केशों से अलंकृत उनका मस्तक, माला एवं मुकुट के समावेश से ऐसी मनोज्ञ छटा देता था मानो अद्भुत शोभा को धारण करनेवाली चूलिका से मेरु पर्वत का शिखर ही शोभायमान हो रहा हो । चन्द्रमा को पराजित करनेवाला उनका विस्तीर्ण ललाट ऐसी उत्तम शोभा दे रहा था, मानो वह सरस्वती देवी के विशाल क्रीड़ास्थल की लीला को ही धारण करता हो । कृष्णवर्ण पुतलियों से शोभायमान सुन्दर भौंहवाले भगवान के नेत्रों की शोभा ऐसी भव्य प्रतीत होती थी मानो समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर वे नेत्र शान्त हो गए हों । सूर्य-चन्द्रमा के सदृश दोनों कुण्डलों से शोभायमान श्रुतज्ञान से पूर्ण भगवान के दोनों कर्ण ऐसे प्रतीत होते थे, मानो वे गीत आदि के रसास्वादन करने की चरम सीमा तक पहुँच गए हों । भगवान के मुखरूपी चन्द्रमा की शोभा का वर्णन भला कौन कर सकता है ? क्योंकि उससे तो जगत का हित करनेवाली एवं मोक्षमार्ग का उपदेश देनेवाली मनोहर दिव्य ध्वनि निकली है । भगवान की उच्च नासिका अपूर्व शोभा को धारण करती थी एवं ऐसी प्रतीत होती थी मानो स्वयं सरस्वती के अवतार के लिए एक दिव्य प्रणाली ही निर्मित की गई हो । भगवान का वक्षःस्थल भी प्रशस्त एवं विस्तृत था, वह लक्ष्मी एवं कान्ति से सुशोभित था, उस पर दिव्य हार विभूषित था, जिससे उसकी शोभा द्विगुणित हो गई थी । भगवान की दोनों भुजाएँ केयूर आदि से सुशोभित थीं, लक्ष्मीरूपी लता से विभूषित थीं एवं ऐसी भव्य प्रतीत होती थी, मानो कामनानुसार फलदायक दो कल्पवृक्ष ही हों । भगवान के हस्त की उँगलियों के मनोहर दशों नख ऐसे भव्य प्रतीत होते थे, मानो दशलाक्षणिक धर्म की प्रकट करने के लिए ही वे तत्पर हुए हों ॥१९०॥ भगवान की काया के मध्य भाग में स्थित नाभि ऐसी भव्य प्रतीत होती थी, मानो कोई लघु सरोवर ही हो, जिसमें भँवर पड़ रहे हैं एवं लक्ष्मी तथा हंसिनी जिसकी सेवा कर रही है । करधनी एवं वस्त्रों से आवृत्त उनका कटिभाग ऐसा मनोज्ञ लग रहा था, मानो वेदिका से आवृत्त हुआ मनोहर जम्बूद्वीप ही हो । केले के स्तम्भ के सदृश कोमल होने पर भी कायोत्सर्ग करने में समर्थ भगवान की दोनों सबल जंघाऐं ऐसी प्रतीत होती थीं मानो

जगत् रूपी प्रासाद के स्तम्भ ही हों। नख रूपी चन्द्रमा की किरणों से व्याप्त एवं देवों-मनुष्यों के द्वारा पूज्य भगवान के दोनों चरण कमल अशोक वृक्ष की शोभा को परास्त करते हुए सर्वदा सुशोभित रहते थे। नख से शिख तक भगवान की देह से जो अपार कांति विकीर्ण हो रही थी, उसकी शोभा का वर्णन संसार भर में कोई भी महान् विद्वान तक नहीं कर सकता। भगवान की काया वज्रमय अस्थियों से निर्मित थी एवं अन्तड़ी, चर्म आदि समस्त वजमय थे, फिर भला उनके बल का अनुमान इस संसार में कौन कर सकता था ? उनकी काया का संस्थान प्रथम समचतुरस्र था एवं वह काया द्वितीय धर्मस्थान के समतुल्य दिव्य परमाणुओं से निर्मित थी। भगवान की काया वात पित्त-कफ आदि दोषों से, समस्त प्रकार के रोगों से, मल-मूत्र से रहित लोकोत्तर थी। श्रीवृक्ष, शंख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चमर, श्वेतछत्र, सिंहासन, ध्वजा, मत्स्य, दो कुम्भ, कच्छप, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, नाग, मनुष्य, नारी, सिंह, बाण-तूणीर (तरकश), मेरु, इन्द्र, गंगा नदी, पुर-गोपुर दैदीप्यमान युगल सूर्य, अश्व, पंखा, वेणु, वीणा, मृदंग, युगल मालाएँ, रेशमी वस्त्र, हाट, दैदीप्यमान कुण्डल आदि अनेक प्रकार के आभरण, उद्यान, कलमी चावलों का पका एवं फला हुआ खेत, रत्नों का द्वीप, वज्र, पृथ्वी, लक्ष्मी, सरस्वती, गाय, वृषभ, चूड़ारत्न, महानिधि, कल्पलता, सुवर्ण, जम्बूवृक्ष, गरुड़, नक्षत्र, तारे, चन्द्रमा, ग्रह, सिद्धार्थ वृक्ष, मनोज्ञ प्रातिहार्य आदि तथा अन्य मंगल द्रव्यों को भी लेकर भगवान की काया पर एक शतक एवं अष्ट शुभ लक्षण थे एवं नौ शतक अन्य व्यन्जन थे ॥२००॥ इस प्रकार गुणों के सागर भगवान श्री शान्तिनाथ जब कुमार अवस्था को व्यतीत कर यौवन अवस्था को प्राप्त हुए थे, उस समय के उनके गुणों की संख्या का परिमाण कौन कर सकता था ? पुत्र के यौवन अवस्था को प्राप्त हो जाने पर पिता ने मन्द रागी पुत्र (श्री तीर्थंकर) का विवाह विराट उत्सव के संग कुल-रूप-आयु-शील-कला-कान्ति आदि से सुशोभित दिव्य लावण्य रूपी समुद्र की तरंगों के सदृश पुण्यवती कन्याओं के संग विधिपूर्वक कर दिया था। तदनन्तर भगवान पुण्य कर्म के उदय से उन रानियों के साहचर्य में नवयौवनास्था के अनुसार अनेक प्रकार से अपार दाम्पत्य सुख भोगते थे ॥२१०॥ स्वयं अपना कल्याण करने की अभिलाषा लिए सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र कभी गन्धर्वों के द्वारा गाए हुए गीतों से, कभी नृत्य-पारंगत देवियों के नृत्यों से, कभी किन्नरी देवियों के द्वारा झंकृत वीणा आदि मनोहर वाद्यों से, कभी धर्म कथा से एवं कभी तत्व गोष्ठियों से भगवान का मनोरंजन

करवाता रहता था। इस प्रकार भगवान ने कुमार अवस्था से लेकर पच्चीस सहस्र (हजार) वर्ष तक मनुष्यों एवं देवों के द्वारा प्रस्तुत किए नानाविध उत्तम सुख भोगे थे। तदनन्तर इन्द्रादिक देवों ने पिता (महाराज विश्वसेन) की आज्ञानुसार भगवान शांतिनाथ को राज्य सिंहासन पर विराजमान कर महती आनन्द एवं विभूति के संग गीत-नृत्य, तुरई आदि वादित्रों के मधुर कोलाहल के मध्य उनको मुक्ताओं की माला, चन्दन आदि से सुशोभित कर गंगा आदि पवित्र नदियों क्षेत्र के पावन तीर्थजल से भरे हुए सुवर्णमय उत्तम कलशों से उनका राज्याभिषेक किया एवं फिर स्वर्गलोक से भेंट में लाये हुए वस्त्राभूषणों से उनका उत्तम श्रृंगार किया। उस समय वह मनोहर नगरी मनुष्य एवं देवों के द्वारा ध्वजा, तोरण, माला आदि से अलंकृत हुई साक्षात् इन्द्रपुरी के समान सुशोभित हो रही थी। राज्याभिषेक के उपरांत महाराज विश्वसेन ने समग्र नृपतियों के सम्मुख विपुल विभूति के संग भगवान के मस्तक पर राज्यपटट बाँधा। उस राज्योत्सव में महाराज विश्वसेन ने सर्व कुटुम्बीजनों को इच्छित विभूति प्रदान कर प्रसन्न किया था एवं समस्त बन्दीजनों, दीन एवं अनाथ प्रजा को इच्छानुसार द्रव्यदान से प्रमुदित किया था। समग्र प्राणियों को आनन्द प्रदान करनेवाले उस उत्सव में न तो कोई निर्धन प्राणी दृष्टिगोचर होता था, न अनाथ दिखलाई देता था, न कोई दुःखी जीव परिलक्षित होता था एवं न ही कोई शोकार्त्त प्राणी वहाँ परिलक्षित होता था ॥२२०॥ इस प्रकार इन्द्रादि देवगण अपार विभूति के संग भगवान श्री शान्तिनाथ का राज्यारोहण उत्सव सम्पन्न कर महती पुण्य उपार्जन पूर्वक अपने-अपने स्थान को प्रत्यावर्तन कर गए। राज्यनीति में निष्णात वे भगवान शान्तिनाथ न्याय मार्ग से योग्य एवं क्षेम की स्थापना कर प्रजा का पालन करने लगे। विश्व के समस्त देशों के नृपति, सामन्त, विद्याधर तथा देवगण उनकी आज्ञा का पालन करते थे एवं मस्तक नवाकर उनके चरणकमलों में श्रद्धा निवेदन करते थे। नृपति शान्तिनाथ के राज्य में सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र राज्य सन्चालन के दायित्व का निर्वहन करता था। फिर भला ऐसा कौन था, जो उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर सके ? उस समय घनीभूत मनोहर पृथ्वी सुन्दर रमणी के रूप में मानो अपने स्वामी को प्रसन्न करने के लिए धन-धान्य आदि अनेक सम्पदाओं को उत्पन्न करती थी। मन्द राग को धारण करनेवाले वे भगवान अपने पुण्य कर्म के उदय से अपनी सुन्दरी रानियों के संग मध्यलोक एवं स्वर्गलोक में उत्पन्न वर्णनातीत अनुपम भोगों का अनुभव करते थे। समस्त देव, विद्याधर एवं भूमिगोचरी जिनकी सेवा करते हैं, ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान ने पच्चीस

सहस्र वर्ष तक महामण्डलेश्वर राज्यलक्ष्मी के अनुपम सुख का भोग किया था । तदनन्तर पुण्य कर्म के उदय से षट् खण्ड पृथ्वी को वश में करनेवाले चक्र आदि चतुर्दश रत्न स्वयं उनके यहाँ उत्पन्न हो गये थे । उन रत्नों में से चक्र, छत्र, खड्ग एवं दण्ड-ये चार रत्न आयुधशाला में प्रगट हुए थे; कांकिणी, चर्म एवं चूड़ामणि-ये तीन श्रीगृह में उत्पन्न हुए थे; पुरोहित, शिलावट, सेनापति एवं गृहपति-ये चार रत्न हस्तिनापुरी में ही उत्पन्न हुए थे एवं उनके पुण्य कर्म के उदय से कन्या, गज, अश्व-ये तीन रत्न विजयार्द्ध पर्वत पर उत्पन्न हुए थे जो कि विद्याधरों ने लाकर भगवान को समर्पित कर दिये थे । इसी प्रकार भगवान के उपयोग हेतु नव निधियाँ नदी एवं समुद्र के संगम पंर प्रगट हुई थीं, जो कि उनके पुण्य कर्म के उदय से गणबद्ध जाति के व्यन्तर देवों ने लाकर भगवान को भक्तिपूर्वक अर्पण कर दी थीं ॥२३०॥ यद्यपि भगवान मन्द लोभी थे तथापि पुण्य कर्म की प्रेरणा से वे देव, विद्याधर एवं राजाओं के संग दिग्विजय करने के लिए निकले । षट् खण्ड पृथ्वी का उपभोग करनेवाले नृपति, समस्त विद्याधरों के स्वामी एवं समुद्र में निवास करनेवाले मगध आदि व्यन्तर देव बिना किसी परिश्रम के ही लीलापूर्वक भगवान के वशीभूत हो गये एवं अपनी कन्या, रत्न, आदि उत्तम पदार्थ लाकर भगवान को भेंट कर दिये । भगवान ने जब आठ शतक वर्ष में ही पृथ्वी पर परिभ्रमण कर षट् खण्ड में रहनेवाले समस्त नृपति, देव एवं विद्याधर अपने वश में कर लिये, तब षट् प्रकार की सेना के संग चक्रवर्ती होकर विपुल विभूति के संग तथा देवगणों के संग अपनी नगरी में प्रवेश किया । तदनन्तर विद्याधर एवं भूमिगोचरी राजाओं तथा देवों ने अपार विभूति सहित सुवर्ण के कलशों से चक्रवर्ती शान्तिनाथ का अभिषेक किया । तदुपरान्त वे सिंहासन पर विराजमान हुए, तब गणबद्ध देव, मागध आदि व्यन्तर देवों के इन्द्र, हिमवान पर्वत के स्वामी, विजयार्द्ध पर्व के स्वामी, विजयार्द्ध पर्वत की दोनों श्रेणियों के विद्याधर नरेश, भूमिगोचरी मुकुटबद्ध नृपतिगण एवं कल्पवासी देवों ने आकर भक्तिपूर्वक मस्तक नवाकर चक्रवर्ती को नमस्कार किया ॥२४०॥ उस समय उन पर चँवर ढुलाये जा रहे थे एवं भ्राता, बन्धु, रानियों एवं षट्खण्ड पृथ्वी के नृपतियों के संग विराजमान हुए वे चक्रवर्ती भगवान अपार सुख का अनुभव कर रहे थे । भगवान अपने पुण्य कर्म के उदय से भ्राता-बन्धुओं के सहित सर्वप्रकारेण बाधा रहित, उपमा रहित, तृप्ति प्रदायक मध्यलोक तथा स्वर्गलोक में उत्पन्न दश प्रकार के चक्रवर्तियों के दिव्य भोगों का सदा उपभोग किया करते थे । इन भोगों

श्री शांतिनाथ पुराण

का अनुमान भला कौन बुद्धिमान कर सकता है ? शान्तिनाथ चक्रवर्ती के राज्य में न कोई उपद्रवी था, न कोई आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला था, न कोई दीन था एवं न ही कोई अभागा था । संसार के समस्त धराधिपति तथा प्रजा आनन्द से रहते थे । शान्तिनाथ चक्रवर्ती के पुण्य के फल को प्रत्यक्ष दर्शानेवाले ऐरावत हाथी के समान ऊँचे चौरासी लक्ष हाथी थे, जिनके गण्डप्रदेश से मद झर रहा था । सुवर्ण एवं रत्नों से निर्मित चौरासी लक्ष रथ थे एवं वायु के समकक्ष तीव्रगामी अष्टादश कोटि उत्तम जाति के अश्व थे । तीव्रगामी पदातिक भी चौरासी कोटि थे एवं बत्तीस सहस्र मुकुटबद्ध नृपति उनको नमस्कार करते थे । उनके अन्तःपुर (रनिवास) में उत्तम कुल एवं जाति में उत्पन्न बत्तीस सहस्र राजकन्यायें (विवाहिता रानियाँ) थीं । म्लेच्छ राजाओं के द्वारा भक्तिपूर्वक भेंट स्वरूप दी हुई बत्तीस सहस्र पुत्रियाँ भी थीं । इसी प्रकार विद्याधर राजाओं की विद्या-विनय से सुशोभित कोमलांगी बत्तीस सहस्र कन्याएँ भी थीं ॥२५०॥ गीत-वाद्यों से अलंकृत मनोरन्जक बत्तीस सहस्र नाटक अभिनीत होते थे । नयनाभिराम दर्शनीय स्थलों से सुशोभित बत्तीस सहस्र देश थे एवं कोटों से आवृत्त बहत्तर सहस्र नगर थे । इसी प्रकार श्री जिन मन्दिरों से विभूषित एवं जन समुदाय से भरे हुए छ्यानवे कोटि ग्राम थे । समुद्र की बेला से घिरे हुये निन्यानवे सहस्र शुभ द्रोणमुख थे । उन रत्नों के उद्‌गम स्थान अड़तालीस सहस्र पत्तन (बंदरगाह) चक्रवर्ती के अधिकार में थे । जिनमें धार्मिक प्रजाजन रहते हैं एवं जो नदी-समुद्र दोनों से आवृत्त हैं, ऐसे सोलह सहस्र खेट थे । समुद्र के भीतर बसे हुए मनुष्यों से भरे छप्पन अन्तर्द्वीप थे । धार्मिकजनों से भरे हुये पर्वत के ऊपर बसे चौदह सहस्र सम्बाहन थे । चक्रवर्ती के प्रताप, से वन, पर्वत, नदी एवं धान्य आदि से भरे हुये अटठाईस हजार दुर्ग (किले) उनके साम्राज्य में थें । उनकी सेवा में अठारह सहस्र म्लेच्छ नरेश सन्नद्ध रहते थे, जो भक्तिपूर्वक मस्तक नवाकर उनके चरण कमलों को नमस्कार करते थे ॥२६०॥ एक कोटि हण्डे थे, जो पाकशाला (रसोईघर) में चावल बनाने के कार्य आते थे । एक लक्ष कोटि हल थे, जो सर्वदा खेत जोतने के प्रयोग में आते थे । उनके तीन कोटि गायें थीं, जिनके दुग्ध दोहन का कोलाहल सुनकर पथिक भी कुछ क्षण के लिए ठहर जाते थे । विद्वानों ने सात शतक कुक्षवास बताये हैं, जिनमें म्लेच्छ देशों के नागरिक आकर ठहरते थे । काल, महाकाल, नैसर्प, पाण्डुक, पद्म, माणव, पिंगल, शंख एवं सर्वरत्न नाम की नवनिधियाँ थीं, जिनके प्रभाव से वे चक्रवर्ती गृह-संसार की चिन्ता से सर्वथा रहित थे । पुण्य की निधि

उन चक्रवर्ती के 'काल' नाम की निधि थी, जिससे लौकिक शब्द प्रगट करनेवाली वस्तुयें निकला करती थीं। यह निधि विशेषकर वीणा, बंशी, मृदंग आदि वाद्य इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों की पूर्ति हेतु विशेष रीति से प्रदान किया करती थीं। शांतिनाथ के निर्देश अनुसार असि-मसि आदि षट् कर्मों के योग्य सर्वप्रकारेण साधन महाकाल नाम की निधि से प्राप्त होते रहते थे। शैय्या, आसन, गृह आदि 'नैसर्प' निधि से प्राप्त होते थे एवं धान्य तथा षट् रसों की उत्पत्ति 'पाण्डुक' निधि से होती थी ॥२७०॥ अपार वैभव-लक्ष्मी प्रगट करनेवाले चक्रवर्ती के पुण्य कर्म के उदय से रेशमी वस्त्र, दुपट्टा आदि वस्त्रों को 'पद्म' निधि प्रदान किया करती थी। चक्रवर्ती के लिए सर्वप्रकारेण दिव्य आभरण 'पिंगल' निधि से प्राप्त होते हैं एवं नीतिशास्त्र संबंधी निर्देश 'माणव' निधि से मिलते हैं। शास्त्रों की उत्पत्ति 'शंख' निधि से होती है। एवं सुवर्ण आदि भी 'शंख' निधि से प्रगट होते हैं। चक्रवर्ती एवं धर्मचक्री के सर्वरत्न नाम की निधि से महानील तथा अन्य भी अनेक बहुमूल्य रत्नो के ढेर प्रगट होते हैं। इन निधियों की रक्षा स्वयं देव करते हैं। चक्रवर्ती के भोगोपभोग का वर्णन भला कौन कर सकता है ? चक्रवर्ती के उपरोक्त चतुर्दश रत्न थे, जो आश्चर्यजनक भोगों को प्रगट करते थे एवं देव भी जिनकी रक्षा करते थे। षोडश सहस्र गणबद्ध जाति के देव थे, जो शस्त्र धारण कर नव निधियों, चतुर्दश रत्नों एवं चक्रवर्ती की अंगरक्षा में अहर्निश सन्नद्ध रहते थे। प्रासाद को आवृत्त करता हुआ क्षितिसार नाम का मनोहर कोट था एवं मणियों के तोरणों से शोभायमान सर्वतोभद्र नामक गोपुर था। सेना के लिए नन्द्यावर्त नामक विराट शिविर था एवं सर्वप्रकारेण सुख प्रदायक वैजयन्त नामक राजप्रासाद (महल) था; दिक्स्वस्तिका नाम की सभा थी, बहुमूल्य रत्नकुटिटमा भूमि थी, मणियों से निर्मित सुविधि नामक दैदीप्यमान छड़ी थी ॥२८०॥ सर्व दिशाओं के पर्यवेक्षण हेतु गिरिकूट नामक गगनचुम्बी भवन था एवं वर्द्धमान नामक मनोहर दर्शनीय भवन था। चक्रवर्ती के धर्मान्तक (ग्रीष्म ऋतु में संताप निवारण हेतु) नामक धारागृह एवं वर्षा ऋतु में निवास हेतु गृहकूटक नामक भाण्डागार था। पुष्करावर्त नामक श्वेत चूने से पुता हुआ मनोहर शुभ भवन एवं सदैव अक्षय बना रहनेवाला कुबेरकान्त नाम का भाण्डागार था। जिस भाण्डार में किसी भी वस्तु का अभाव न हो, ऐसा वसुधारक नाम का कोठार था एवं जीमूत नाम का अति मनोज्ञ स्नानागार था। रत्नमाल नामक दैदीप्यमान माला एवं देवरम्या नामक मनोहर शिविर (तम्बू) था। भयानक सिंहों के द्वारा धारण की हुई

सिंहवाहिनी नामक शैय्या थी एवं अनुत्तर नामक सुउच्च सिंहासन था। इसी प्रकार उपमा नामक शुभ चँवर एवं दैदीप्यमान रत्नों से निर्मित सूर्यप्रेम नामक छत्र था। चक्रवर्ती के अभेद नामक ऐसा सुन्दर कवच था, जो युद्ध में शत्रुओं के बाणों से कभी भिद नहीं सकता था एवं जिसकी कान्ति दैदीप्यमान थी। उनके पास अत्यन्त मनोरमता को धारण करनेवाला अजितन्जय नाम का मनोहर रथ एवं सुर-असुर समस्त प्राणियों को परास्त करनेवाला वज्रकाण्ड नामक धनुष था। कभी व्यर्थ न जानेवाले अमोघ नामक बाण एवं शत्रुओं का विनाश करनेवाली वज्रतुण्डा नामक प्रचण्ड शक्ति थी ॥२९०॥ चक्रवर्ती के सिंहारक नामक शूल (भाला), सिंहानख नामक रत्नदण्ड एवं मणियों की मूढवाली लौहवाहिनी छुरी थी। विजयश्री के प्रति अनुराग रखनेवाला एवं मनोवेग (मन) के सदृश द्रुतगामी कणप एवं भूतमुख के चिह्नवाला भूतमुख नामक खेट था। दैदीप्यमान कांतिवाली सौनन्द नामक खड्ग था एवं सर्व दिशाओं को सिद्ध करनेवाला सुदर्शन नामक चक्र था। उनके चण्डवेग नामक प्रचण्ड तथा वज्रमय नामक दिव्य चर्मरत्न था, जिसमें कभी जल प्रवेश नहीं कर सकता था। चूड़ामणि नामक सर्वोत्तम मणिरत्न तथा अन्धकार को विनष्ट करने में समर्थ चिन्ताजननी नामक कांकिणी थी। श्री शान्तिनाथ चक्रवर्ती के अयोध्या नाम का सेनापित था तथा बुद्धिसागर नामक अत्यन्त बुद्धिमान पुरोहित था। कायवृद्धि नामक मेधावी गृहपति था जो कि अभिलिषित पदार्थों को उपलब्ध करवानेवाला था तथा जिसे महाराज ने आदान-प्रदान के कार्य हेतु नियुक्त किया था। भद्रमुख नाम का स्थपतिरत्न था, जो वास्तुविद्या में अत्यन्त प्रवीण था तथा सुन्दर भवन निर्माण में दक्ष था। विजयपर्वत नामक विशालकाय श्वेतप्रटटा गजराज था तथा पवनन्जय नामक उत्तुंग तथा पवन वेग से गमन करनेवाला अश्व था। महाराज के पास सुभद्रा नामक रमणी-रत्न था, जिसकी उपमा संसार में कहीं नहीं की जा सकती थी। वह अत्यन्त विदुषी थी, स्वभाव से मधुर थी, मनोहर थी एवं दिव्य रूपवान थी ॥३००॥ भगवान के आनन्दिनी नामक द्वादश (बारह) भेरी थीं, जिनका मधुर घोष द्वादश योजन तक सुना जाता था एवं समुद्र की गर्जना के समतुल्य जिनका निनाद गम्भीर होता था। विजयघोष नामक द्वादश पटहा थे एवं गम्भीरवर्त नाम के चौबीस शंख थे। इसी तरह अड़तालीस कोटि पताकाएँ थी एवं महाकल्याणक नाम का ऊँचा शुभ दिव्यासन था। विद्युत्प्रभ नाम के सुन्दर मणिकुण्डल थे जो कि सूर्य-चन्द्रमा के समकक्ष थे एवं पुण्य कर्म के उदय से भगवान को प्राप्त हुए थे। रत्नों की किरणों से व्याप्त

ऐसी विषमोचिका नामक पादुकाएँ थीं जो अन्य के पादस्पर्श होते ही विष वमन करती थीं। उन चक्रवर्ती के वीरांगद नामक रत्नों से निर्मित कंगन थे, जो विद्युत के वलय के सदृश भुजाओं में शोभायमान थे। अमृतगर्भ नामक उनका आहार था जो स्वादिष्ट, सुगन्धित एवं अत्यन्त रसीला था एवं जिसे चक्रवर्ती के अतिरिक्त अन्य कोई पचा भी नहीं सकता था। अमृतकल्प नामक हृदय को प्रसन्न करनेवाली सुपाच्य सुस्वादु औषध थी एवं रसायन के सदृश 'अमृत' नामक रसीला द्रव्य दिव्य पान था। रत्न, निधि, रानियाँ, पुर, शैय्या-आसन, सेना, नाट्य, भाजन, भोज्य तथा वाहन-ये दश प्रकार के भोगोपभोग कहलाते हैं। इनको भोगते हुए एवं सुखसागर में मग्न रहते हुए चक्रवर्ती को व्यतीत होनेवाले काल खण्ड (समय) का कभी मान भी नहीं हो पाया। भगवान श्री शान्तिनाथ कभी तो तीर्थंकर नामकर्म के शुभ उदय से इन्द्रादि के द्वारा प्रस्तुत किये हुए सुख रूपी अमृत को भोगते थे एवं कभी चारित्र पालन कर सुखी होते थे। कभी अपने पुण्य कर्म के उदय से रमणी-रत्न, निधि आदि वस्तुओं के संग अनेक प्रकार का सुख भोगते थे। कभी कामदेव पद से उत्पन्न हुए अपने दिव्य निरामय (रोग रहित) रूप का निरीक्षण कर स्वयं सन्तुष्ट होते थे। इस प्रकार सुखी रूपी समुद्र में निमग्न वे भगवान पुण्य रूपी कल्पवृक्ष से उत्पन्न हुए सुख का अनुभव करते थे एवं इस प्रकार व्यतीत हुए कालखण्ड का अनुभव (भान) भी उन्हें कभी नहीं होता था। तीर्थंकर, चक्रवर्ती एवं कामदेव-इन तीनों पदवियों से अलंकृत उन भगवान को जो असीम सुख था, उसकी थाह ज्ञानी के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रवीण व्यक्ति नहीं पा सकता। इस प्रकार देवों के द्वारा भी पूज्य वे भगवान श्री शान्तिनाथ अपने पुण्य कर्म के उदय से रत्नों-निधियों आदि से प्रगट हुए चक्रवर्ती एवं कामदेव पद से उत्पन्न हुए उपमा रहित अपार एवं निमिषमात्र में उपलब्ध होनेवाले उत्तम सुखों का अनुभव करते थे। इस संसार में बिना धर्म के न तो तीर्थंकर को मुक्ति लक्ष्मी एवं अनन्त सुख प्राप्त होता है, न चक्रवर्ती को अपार सम्पत्ति एवं तीनों लोकों का प्रभुत्व प्राप्त होता है। धर्म के प्रभाव में न तो निधि या रत्न आदि प्राप्त होते हैं, न तीनों लोकों में विस्तीर्ण होनेवाला यश प्राप्त होता है, न इन्द्र-नरेन्द्रों द्वारा मान्यता प्राप्त होती है एवं न लोकोत्तर सुख प्राप्त होते हैं। धर्म के बिना न धर्मसाधन में बुद्धि लगती है, न समग्र शास्त्रों के स्वाध्याय का सुयोग प्राप्त होता है। धर्म के बिना न तो जीवों को मोक्ष की प्राप्ति होती है एवं न इष्ट पदार्थों की सिद्धि ही होती है। यही समझ कर विवेकशील प्राणी को परलोक की सिद्धि के लिए

मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक प्रयत्न पूर्वक से व्रत-दान-पूजा-दीक्षा-तप-जप-यम आदि का पालन कर श्री जिनेन्द्र भगवान के वर्णित धर्म का पालन करना चाहिये ॥३२०॥ तीनों लोक जिनके चरण-कमलों की पूजा करते हैं, जो पाप रहित हैं, एवं पुण्य के पुन्ज (स्थान) हैं, ऐसे वे भगवान श्री शान्तिनाथ सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान का प्रसार करते थे, पापों का नाश करनेवाला धर्मध्यान धारण करते थे, मोक्ष प्राप्त करने के लिए पर्व के दिनों में सदैव प्रोषधोपवास धारण करते थे, सर्वदा न्याय एवं विवेक के अनुसार कार्य करते थे तथा श्रावक धर्म के योग्य उत्तम व्रतों का पालन करते थे। पूज्य, स्तुत्य एवं वन्दनीय वे श्री शान्तिनाथ भगवान संसार की अशान्ति का निवारण करें, धर्मात्माजनों के तथा मेरे अशुभ कर्मों का नाश करें, धर्मध्यान, निष्पाप शुक्लध्यान, रत्नत्रय एवं समाधिमरण प्रदान करें।

श्री शान्तिनाथ पुराण का जन्माभिषेक और राज्यलक्ष्मी का वर्णन करनेवाला चौदहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥१४॥

पन्द्रहवाँ अधिकार

मैं अपने समस्त पापों को शान्त करने के लिए अनन्त महिमाओं से विराजमान एवं समस्त सौभाग्य के सागर भगवान श्री शान्तिनाथ को नमस्कार करता हूँ ॥१॥ अथानन्तर-इस प्रकार राज्य करते हुए जब भगवान को पच्चीस सहस्र वर्ष व्यतीत हो गये, तब एक दिन वे अपने अलंकार भवन में विराजमान थे। वहाँ पर उन्होंने एक दर्पण में अपनी दो छाया देखीं। छाया देखकर वे आश्चर्य के संग चित्त में विचार करने लगे-'इसके भीतर यह क्या रहस्य है ?' अपने अवधिज्ञान से उन्होंने ज्ञात कर लिया कि यह समस्त उनकी ही काया से उत्पन्न हुआ है एवं उनके पूर्व जन्म की दो पर्याय हैं। वे उसका अनेक प्रकार से विश्लेषण करने लगे। चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम एवं काललब्धि से भगवान उसी समय वैराग्य को प्राप्त हुए। वे विचार करने लगे-'जिस प्रकार यह छाया चन्चल है; उसी प्रकार राज्य पद, सम्पत्ति, आयु, रानियाँ, आदि समस्त वैभव क्षणभंगुर हैं।' तदनन्तर भगवान श्री शान्तिनाथ मोक्ष प्राप्त करने के हेतु अपने चित्त में वैराग्य दृढ़ करने के लिए द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने लगे। अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ एवं धर्म-ये द्वादश अनुप्रेक्षायें कहलाती हैं। भगवान इन अनुप्रेक्षाओं का पृथक-पृथक चिन्तवन करने लगे। वे विचार करने लगे-'देखो!

मनुष्यों की काया विद्युत के समतुल्य क्षणस्थायी है, मृत्यु के द्वारा यह अवश्य नष्ट होनेवाली है, वृद्धावस्था रूपी राक्षसी से आक्रान्त है एवं विष-अग्नि-सर्प-शत्रु आदि से नष्ट होनेवाली है ॥१०॥ पुत्र, मित्र, भार्या, बन्धु, सेवक, माता, पिता आदि सब अनित्य हैं, क्षणभर में जल के बुद्बुद् के समतुल्य नष्ट होनेवाले हैं। यह राज्य पाप का कारण है, पाप की खान है, छाया के सदृश चन्चल है, शत्रुओं से आवृत्त (घिरा) है एवं परस्पर शत्रुता उत्पन्न करानेवाला है। यह लक्ष्मी (वैभव) वीरांगना के समकक्ष चन्चला है, इसे प्राप्त करने के लिए विवेकहीन होकर चोर, शत्रु, राजा आदि से भी अनुनय करनी पड़ती है, समस्त जन इसका उपभोग करते हैं, यह अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होती है एवं घोर दुःखदायी है। घर-बाहर, गृहस्थी के सम्पूर्ण पदार्थ, राज्य-अलंकार एवं चक्रवर्ती की पदवी आदि समस्त कालरूपी अग्नि में दग्ध होकर भस्म हो जाते हैं। पूर्व पुण्य को प्राप्त हुए इन्द्रादिक देव भी आयु पूर्ण होने पर स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं, फिर भला पुण्यहीन मनुष्यों की तो गणना ही क्या ? जिस प्रकार घंटी यन्त्र के द्वारा कुँए से जल बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार घड़ी-दिन आदि समयमानकों द्वारा प्राणियों को दुर्लभ आयु भी सदैव घटती चली जाती है। इन समस्त तथ्यों पर विचार करता हुआ भला ऐसा मूर्ख कौन होगा, जो मोक्षमार्ग रूपी सुखसागर को त्याग कर पत्नी-कुटुम्ब आदि अनित्य पदार्थों में अपनी आसक्ति को प्रबल करेगा ? इसलिये बुद्धिमानों को कामभोगों से विरक्त होकर तप-चारित्र आदि के पालन द्वारा इस अनित्य काया से नित्य (शाश्वत) मोक्ष सिद्ध कर लेना चाहिये। समस्त संसार को अनित्य समझ कर एवं मोक्ष को उत्तम तथा नित्य समझकर बुद्धिमानों को तत्काल ही अनन्त गुणों का सागर मोक्ष पद सिद्ध कर लेना चाहिये। संसार में समस्त वैभव धूलि के समतुल्य हैं एवं पुन्जीभूत पापों का कारण हैं। यह काया यमराज (मृत्यु) के अधीन है, विषयों से उत्पन्न हुआ सुख-दुःख क्षणस्थायी है, जीवन मेघराशि के सदृश चन्चल है, पुत्र-पत्नी आदि समस्त कुटुम्बीजन इन्द्रजाल के समकक्ष हैं। इस प्रकार समस्त पदार्थों को अनित्य या चंचल समझकर बुद्धिमानों को यथाशीघ्र उनका त्यागकर मोक्ष के लिए साधना करनी चाहिये ॥२०॥ इति अनित्यानुप्रेक्षा।

जिस प्रकार वन में व्याघ्र द्वारा बन्दी बनाए गए मृग की प्राणरक्षा कोई नहीं कर सकता, उसी प्रकार इस संसार में व्याधि-मृत्यु आदि के द्वारा जकड़े हुए मनुष्यों का भी कोई शरण नहीं है। जिस प्रकार किसी

जलपोत से भटके (छूटे) हुए पक्षी की प्राणरक्षा तो समुद्र में कोई नहीं कर सकता, उसी प्रकार संसार रूपी समुद्र में निमग्न (डूबते) हुए प्राणियों का उद्धार भी कोई नहीं कर सकता । यमराज के द्वारा कवलित इस जीव की प्राणरक्षा करने में देव, मनुष्य, मन्त्र-तन्त्र, औषधि आदि कोई समर्थ नहीं । जो मूढ़मति औषधि चण्डिका देवी, मन्त्र आदि को एकमात्र शरण मान लेते हैं, वे भी मरण को प्राप्त होते हैं; क्योंकि देव या युक्ति आदि उनकी कभी प्राणरक्षा नहीं कर सकते । यदि इन्द्रादिक देव मनुष्यों को शरण दे सकते हैं, तो फिर अपनी आयु के पूर्ण हो जाने पर उन्हें अपने पद से च्युत होकर पुनः पृथ्वी पर क्यों आना पड़ता है । इसलिये मनुष्यों को श्री जिनेन्द्रदेव वर्णित अहिंसा धर्म का ही शरण लेना चाहिये, वही पापों का नाश करनेवाला है एवं इहलोक-परलोक दोनों में संग जानेवाला है । इसके अतिरिक्त मुनिराज ने श्री अरहन्त देव आदि पन्च-परमेष्ठी का भी शरण बतलाया है, क्योंकि इस संसार रूपी समुद्र से भव्य जीवों को वे ही उत्तीर्ण (पार) करानेवाले हैं । इस असार संसार में अनन्त गुणों का समुद्र सर्वदा निश्चल रहनेवाला एवं अनन्त सुख प्रदायक मोक्षपद ही मनुष्यों का शरण है । इस प्रकार इस असार संसार को अशरण एवं सुख से अत्यन्त दूर समझकर बुद्धिमानों को तप एवं रत्नत्रय आदि के अवलम्बन द्वारा निश्चल (शाश्वत) रहनेवाला मोक्ष सिद्ध कर लेना चाहिये । जिस समय यमराज सम्मुख आता है (आयु पूर्ण हो जाती है तथा मनुष्य मरणासन्न होता है) उस समय तीनों लोकों में कोई भी चाहे वह इन्द्र, चक्रवर्ती, मन्त्र-तन्त्र, औषधि आदि कुछ भी क्यों न हो; इस जीव की व्याधि-क्लेश-विषाद-दुःख-मृत्यु आदि से रक्षा नहीं कर सकता-सब व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं । इस तथ्य को सम्यक प्रकार समझकर बुद्धिमानों को धर्म को ही एकमात्र शरण मानना चाहिये तथा इसी का सेवन करना चाहिये ॥३०॥ इति अशरणानुप्रेक्षा ।

दुःख रूपी हिंसक प्राणियों से भरे हुए इस अनादि संसार रूपी वन में दुःख से पीड़ित ये प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार परिभ्रमण किया करते हैं । भूख-प्यास आदि से दुःखी जीवों ने कर्म, आहार तथा पर्याय आदि के द्वारा अनन्त पुद्गलों को धारण किया । इस लोकाकाश में ऐसा कोई प्रदेश शेष नहीं है, जहाँ पर इस जीव ने अपने पाप कर्म के उदय से अनन्त बार जन्म न लिया हो, मरण न किया हो । उत्सर्पिणी काल का ऐसा कोई समय शेष नहीं है, जिसमें कर्मों के वशीभूत हुए इन जीवों की मृत्यु न हुई हो अथवा पुनः जन्में न हों । नरक गति तिर्यन्च गति मनुष्य गति तथा स्वर्ग में ग्रैवेयक तक ऐसी कोई योनि

शेष नहीं है; जहाँ इस पर जीव ने अनेक बार जन्म न लिया हो, मरण न किया हो । यह जीव मिथ्यात्व, काम, कषाय आदि भावों से प्रतिदिन संसार-बन्ध के कारण एवं अत्यन्त दुःख देनेवाले कर्मों का बन्ध करता रहता है । इस प्रकार कर्मों से बँधे हुए कुमार्गगामी प्राणी धर्म-रूपी जलपोत के न मिलने से इस अनादि संसार रूपी समुद्र में गोता खाते रहते हैं । यह अत्यन्त कामार्त्त, मूर्ख प्राणी संसार में दुःख को ही सुख मान लेते हैं; परन्तु ज्ञानी पुरुष तो कामसेवन आदि से उत्पन्न हुए सुखों को भी दुःख ही समझते हैं । जिस प्रकार विष से भरे हुए घट में कभी अमृत नहीं हो सकता, उसी प्रकार अपरिमित दुःखों से भरे हुए इस निर्गुण संसार में कभी सुख नहीं मिल सकता । इस प्रकार इस संसार को दुःखमय समझ कर बुद्धिमानों को चारित्र धारण आदि के द्वारा अनन्त सुख का सागर मोक्ष उत्तीर्ण (सिद्ध) कर लेना चाहिये ॥४०॥ संग्रहीत पाप कर्म रूपी पाश से बँधे हुए प्राणी संसार-रूपी शत्रु का नाश करनेवाले सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र के न मिलने से पाप, दुःख तथा भय प्रदायक निस्सार असह्य संसार में सदैव परिभ्रमण किया करते हैं । यही समझ कर संवेग आदि गुणों से सुशोभित होनेवाले पुरुषों को प्रयत्नपूर्वक यथाशीघ्र रत्नत्रय धारण कर लेना चाहिये । इति संसारानुप्रेक्षा ।

यह जीव एकाकी ही जन्म लेता है एवं एकाकी ही मरता है, एकाकी ही सुख भोगता है, एकाकी ही दुःखी होता है, एकाकी ही व्याधि-कष्ट सहन करता है, एकाकी ही नीरोग रहता है एवं एकाकी ही चतुर्गतियों में परिभ्रमण करता है । विषयों में अन्ध यह जीव एकाकी ही हिंसादि के द्वारा पाप कर्म का ऐसा उपार्जन करता है, जिससे कि नरक में जन्म लेकर वचनातीत अपार दुःख को भोगता है । यह मूढ़ एकाकी ही छल-कपट कर ऐसा पाप उपार्जन करता है, जिससे तिर्यन्च गति में छेदन-भेदन आदि के घनघोर दुःख सहन करता हुआ स्थावर योनि में परिभ्रमण करता है । यह प्राणी एकाकी ही अल्प-आरम्भादिक द्वारा मनुष्य भव प्राप्त करता है एवं अनेक योनियों में पाप-पुण्य से उत्पन्न हुए सुख-दुःख भोगता रहता है । यह जीव एकाकी सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सद्धर्म, दान, पूजा आदि के द्वारा धर्म उपार्जन कर स्वर्ग में सुदीर्घकाल सुख भोगता रहता है । प्राणी एकाकी ही तप-चारित्र आदि के द्वारा अष्ट कर्मों का विनाश कर जन्म-मरण आदि से रहित एवं अनन्त सुख का स्थान मोक्ष पद प्राप्त करता है । जो प्राणी अपने परिवार के लिए इन्द्रियों एवं धनादि के द्वारा पाप उपार्जन करता है, वह एकाकी ही दुर्गतियों

में जाकर उस पाप का फल भोगता है, उस दुःख को भोगने के लिए अन्य कोई उसका संग (साथ) नहीं देता । अन्न-पान आदि से पालन-पोषण की हुई अपनी कहलानेवाली यह काया भी परलोक में जीव के साथ नहीं जाती, फिर भला परिवार के अन्य लोग उस प्राणी के साथ कैसे जा सकते हैं ? जो मूढ़ मोह कर्म के उदय से धन एवं परिवार के लिए 'यह मेरा है, यह मेरा है'-ऐसा विचार करते रहते हैं, वे भी अन्त में उन्हें त्याग कर एकाकी परिभ्रमण किया करते हैं ॥५०॥ इस प्रकार स्वयंमेव को एकाकी ही समझकर बुद्धिमान लोग मरण आदि में अनन्त गुणों का कारण निर्ममत्व ही धारण करते हैं । यह जीव एकाकी ही चारित्र-तप-दान-पूजन आदि के द्वारा प्रतिदिन धर्मसेवन के द्वारा देवों की विभूति प्राप्तकर सुख भोगता है तथा एकाकी ही प्रतिदिन हिंसा आदि के द्वारा पाप उपार्जन कर नरक या तिर्यन्च गति में अनेक प्रकार के दुःख भोगता है, एकाकी ही महाव्रतादिकों के द्वारा कर्म नष्ट कर उपमा रहित मोक्ष पद प्राप्त करता है । इति एकत्वानुप्रेक्षा ।

इस संसार में माता भी अन्य है, पिता भी अन्य है, पुत्र-बांधव आदि भी अन्य हैं एवं पत्नी-पुत्र आदि भी सब अन्य (पराये) हैं । जहाँ पर आत्मा के प्रदेशों में सम्मिलित तथा आत्मा के संग उत्पन्न हुई यह काया ही आत्मा से निश्चिततः भिन्न है, फिर भला परिवार के सदस्यगण आत्मा के अपने कैसे हो सकते हैं ? लक्ष्मी (वैभव), गृह, भ्राता, सेवक आदि समस्त कर्मों से उत्पन्न होते हैं, इसीलिये समस्त भिन्न हैं; पाप एवं ममत्व को उत्पन्न करनेवाले हैं एवं कर्मों के बन्धन के कारण हैं । अनेक दुःखों से संतप्त हुआ यह जीव कर्मों के उदय से पुरातन जर्जर काया को त्यागता रहता है एवं नवीन काया को ग्रहण करता रहता है । इस प्रकार प्राणी संसार में अनेक प्रकार की देह धारण करता रहता है । काया-वैभव-गृह आदि जो कुछ भी कर्मों के उदय से प्राप्त होता है; वह समस्त आत्मा से भिन्न है एवं समस्त विनश्वर है । मूढ़जन कायादि पदार्थों को आत्मा से भिन्न क्यों नहीं मानते ? जब कि जन्म-मरण के समय वे भी इसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । यह आत्मा कर्मों से सर्वथा भिन्न है, फिर भला वह काया-गृह-वैभव आदि से युक्त होकर एक कैसे हो सकता है ? यह आत्मा एक है, नित्य है, ज्ञानमय है, गुणी है एवं चराचर से भिन्न है-योगी जन सदैव इसी प्रकार का चिन्तवन किया करते हैं ॥६०॥ जो जीव अपनी आत्मा को नित्य तथा कायादि से भिन्न मानते हैं, वे ही समस्त कर्मों से रहित परमात्मपद को प्राप्त करते हैं । इस प्रकार ज्ञानी पुरुष आत्मा

श्री शांतिनाथ पुराण

को सब से निराला (भिन्न) समझ कर मोक्ष का कारण अपनी एकमेव आत्मा का ही सेवन करते हैं । यह काया एवं गृह समस्त आत्मा से भिन्न हैं तथा परिवार-धन आदि भी भिन्न हैं एवं कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए संसार के जितने पदार्थ हैं, वे समस्त भी आत्मा से भिन्न हैं । यही समझ कर बुद्धिमानों को अपनी आत्मा तथा मोक्ष को प्राप्त करने के लिए अपनी ही आत्मा में, अपनी ही आत्मा के द्वारा सदैव अपनी ही आत्मा का ही ध्यान करते रहना चाहिये ।

यह काया शुक्र-शोणित के संयोग से निर्मित है, सप्ताधातुमय है, अपवित्र है, विष्ठा आदि से भरपूर है, निन्द्य है, राग रूपी सर्पों के बिल के समतुल्य है, दुर्गन्धमय है, अत्यन्त घृणित है, असंख्य कीटों से भरी हुई है, अनित्य है । भला ऐसा कौन ज्ञानी पुरुष होगा जो धर्म को त्याग कर ऐसी घृणित काया से अनुराग करेगा ? इस काया के मुख आदि पवित्र स्थानों में भी यदि बाह्य पदार्थ रख दिया जाता है, तो वह स्थान भी अपने स्वभाव के अनुसार बाह्य पदार्थों के संस्पर्श से मनुष्यों को घृणा उत्पन्न करा देता है । जिस प्रकार चाण्डाल के निवास में अस्थि-चर्म आदि के अतिरिक्त अन्य कोई मनोज्ञ पदार्थ नहीं मिल सकता, उसी प्रकार इस घृणित काया में भी कोई मनोहर पदार्थ नहीं मिल सकता । यद्यपि ये प्राणी इस काया का पालन-पोषण परम अनुराग से करते हैं, तथापि यह काया उनको इसी जन्म में ही अनेक व्याधियों से संतप्त करती है एवं परलोक में नरकादि दुर्गति देती है; इससे अधिक आश्चर्यजनक भला क्या हो सकता है ? यदि तपश्चरण के द्वारा इस काया को कृश किया जाये तो यह इस जन्म में धर्मध्यान आदि आत्मा से उत्पन्न हुए सुखों को प्रदान करती है एवं परलोक में स्वर्ग-मोक्षादिक के सुख प्रदान करती है । इस संसार में इससे बढ़ कर अधिक आश्चर्यजनक क्या हो सकता है ? यह काया नरक के सदृश असार है, इसके नव द्वारों से सदैव दूषित पदार्थ झरता रहता है, पापों की कारण है एवं दुःखों की पात्र है । यह विद्युत के समतुल्य अनित्य है एवं मानो यम के मुख-गह्वर में ही इसका निवास है । यही समझ कर बुद्धिमानों को धर्म कार्य करने में भी किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करना चाहिये ॥७०॥ जिन बुद्धिमानों ने अपनी आत्मा की सिद्धि के लिए तप-यम आदि कायक्लेश द्वारा इस काया को कृश किया है, उन्हीं का यह देह धारण सफल हुआ है । इस प्रकार काया को अपवित्र समझ कर स्वर्ग-मोक्ष के सुख प्राप्त करने के लिए बुद्धिमानों को सदैव तप-चारित्र-धर्म आदि पवित्र कार्य करते रहना चाहिये । यह काया शुक्र-शोणित के संयोग से निर्मित है,

श्री शांतिनाथ पुराण

घृणा उत्पन्न करनेवाली है, व्याधि रूपी सर्पों की निवास-स्थल है, भूख-प्यास, काम-कषाय रूपी अग्नि से सन्तप्त है, समस्त अशुद्ध पदार्थों की भण्डार है एवं अन्न-वस्त्र आदि समस्त पवित्र पदार्थों को भी अपने संस्पर्श से अत्यन्त शीघ्र ही अपवित्र बना देती है । इस काया की ऐसी घृणित प्रकृति (स्वभाव) का चिन्तवन कर बुद्धिमानों को घोर तपश्चरण के द्वारा इसे तपा कर शुद्ध कर लेना चाहिये ।

जिस प्रकार छिद्रयुक्त नौका जल भर जाने के कारण समुद्र में डूब जाती है, उसी प्रकार यह प्राणी कर्मों का आस्रव होने के कारण इस दुष्कर संसार-सागर में डूब जाता है । जिस प्रकार जलपोत से विरक्त होने पर मनुष्य समुद्र में एकाकी असह्य दुःख भोगता है, उसी प्रकार धर्म से अलग होकर यह मूढ़ मनुष्य इस भयानक संसार रूपी समुद्र में अनेक कष्ट भोगता है । मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद-ये समस्त कर्म के आस्रव के कारण हैं, ये ही मनुष्यों को संसार रूपी समुद्र में डुबोनेवाले हैं। जब तक मनुष्यों को चतुर्गतियों में परिभ्रमण करानेवाला एवं नानाविध दुःख प्रदायक अशुभ कर्मों का आस्रव होता है, तब तक उन्हें नित्य (शाश्वत) मोक्ष सुख कभी नहीं प्राप्त हो सकता । जिस प्रकार अपराधी पुरुष की कटि को श्रृंखला से बद्ध कर उसे कारागार में पहुँचाया जाता है, उसी प्रकार कर्मों के द्वारा यह जीव चारों गतियों में परिभ्रमण करता हुआ नरक गति में ले जाया जाता है । जिस प्रकार ऋणी मनुष्य परवश होकर रात्रि-दिन घोर दुःख भोगता रहता है, उसी प्रकार कर्मों के अधीन हुआ यह जीव नरकादि दुर्गतियों में घोर दुःख सहन करता रहता है ॥८०॥ जिस महान पुरुष ने सम्यक्दर्शन, सम्यकचारित्र, संयम, कषाय, निग्रह एवं ध्यान आदि के द्वारा कर्मों का आस्रव अवरुद्ध कर (रोक) लिया, उसी का सकल मनोरथ पूर्ण हुआ है । जो पुरुष तप-चारित्र आदि धारण कर कर्मों के आस्रव को अवरुद्ध नहीं कर सकते, उनका मनुष्य देह धारण करना व्यर्थ है । इसलिये बुद्धिमानों को शुभ ध्यान से पापास्रव को अवरुद्ध करना चाहिये व मोक्ष प्राप्त करने के लिए आत्मध्यान से दोनों प्रकार के कर्मास्रव को स्तम्भित करना चाहिये । ऐसा समझ कर बुद्धिमान प्राणी मुक्ति रूपी रमणी की प्राप्ति की अभिलाषा से अपने चित्त का निग्रह कर तथा चारित्र आदि धारण कर सर्वदा कर्मों के आस्रव को अवरुद्ध करते रहते हैं । इन्द्रिय एवं चित्त से होनेवाला आस्रव संसार रूपी समुद्र में डुबोनेवाला है, मोक्ष से दूर रखनेवाला है, समस्त दुःखों का कारण है, नरक का स्थान है, कुमार्ग में ले जानेवाला है एवं पाप उत्पन्न करनेवाला है । इस प्रकार समझ कर गुणी पुरुष

श्री शांतिनाथ पुराण

तप-व्रत-ध्यान आदि के द्वारा समस्त आस्रव को रोककर एवं कर्मों का नाश कर सदैव स्थिर रहनेवाली मोक्ष रूपी रमणी को प्राप्त होते हैं । इति आस्रवानुप्रेक्षा ॥७॥

जिस प्रकार छिद्र रहित जलयान समुद्र को उत्तीर्ण (पार पहुँच) कर जाता है, उसी प्रकार धीर-वीर प्राणी सम्वर के द्वारा कर्मों का विनाश कर संसार से उत्तीर्ण (मुक्त) हो जाते हैं । विवेकी पुरुष समिति, व्रत, गुप्ति, परीषह जय, धर्मध्यान, शुक्लध्यान, अध्ययन, संयम आदि के द्वारा सम्वर धारण करते हैं । सम्वर के संग यदि अल्प मात्रा में तप-चारित्र-संयम आदि किया जाए तो वह भी सर्वप्रकारेण कल्याण प्रदायक एवं मोक्षवृक्ष का बीज बन जाता है । यह सम्वर जीव का परम मित्र है, सम्वर ही परम तप है, सम्वर ही स्वर्गमोक्ष प्राप्त करानेवाला है, सम्वर ही धर्म का कारण है एवं सम्वर ही अनन्त सुख प्रदायक है । जिसने कर्मों का आस्रव अवरुद्ध कर सम्वर धारण किया है, वही संसार से उत्तीर्ण होता है एवं वही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है । फिर भला अन्य सुखों की प्राप्ति की तो उसके लिए गणना ही क्या है ? ॥९०॥ मोक्ष की अभिलाषा रखनेवाले योगी पुरुष सम्वर धारण करने के लिए सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व को, व्रतों से अविरति को, यत्नपूर्वक धर्म धारण कर प्रमादों को, क्षमा धारण से क्रोध रूपी शत्रु को, मार्दव से मान की, आर्जव से माया को, सन्ताप से लोभ को, कायोत्सर्ग से काया के ममत्व को , मौन से वचनयोग को एवं ध्यान व शास्त्रज्ञान के अभ्यास से मनोयोग को नष्ट करते हैं । इस प्रकार वे आस्रव के समस्त कारणों को नष्ट कर डालते हैं । जो जीव चारों गतियों के कारण रूप कर्मों को अवरुद्ध कर सम्वर धारण करता है, वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है । बिना सम्वर के मोक्ष के लिए परिश्रम करना ही व्यर्थ है । ऐसा समझ कर मोक्ष की अभिलाषा करनेवाले मुनियों को समस्त इन्द्रियों तथा योगों का निग्रह कर एवं तपश्चरण धारण कर सदैव सम्वर धारण करना चाहिये । यह सम्वर सर्वप्रकारेण धर्म का निर्मल सागर है, सुख की निधि है, मुक्ति रूपी रमणी का सहोदर है, नरक रूपी गृह का द्वार है । तीर्थंकर भी सदैव इसकी सेवा करते हैं, यह अनन्त गुणों की खान है एवं निर्मल है; इसलिये बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के संयम आदि के द्वारा सर्वदा समस्त कर्मों को अवरुद्ध कर सम्वर धारण करना चाहिये । इति सम्वरानुप्रेक्षा ॥८॥

सविपाक एवं अविपाक के भेद से निर्जरा दो प्रकार की होती है-जिस प्रक्रिया के द्वारा कर्म अपने

फल प्रदान कर नष्ट हो जाते हैं, वह सविपाक निर्जरा संसार में समस्त जीवों के होती है । तपश्चरण, संयम, ध्यान, परीषह जय एवं श्रुतज्ञान के द्वारा बिना फल दिये हुए कर्म नष्ट हो जाते हैं, यह अविपाक निर्जरा है । अविपाक निर्जरा पाप कर्मों का सम्वर करनेवाले मुनियों के ही होती है । जिस प्रकार अजीर्ण व्याधिग्रस्त प्राणी मल के निर्गम (निकल जाने) से स्वस्थ हो जाता है, उसी प्रकार तप एवं चारित्र के द्वारा कर्मों से निकल (नष्ट हो) जाने से ही यह जीव भी सुखी हो जाता है । सविपाक निर्जरा से अन्य कर्मों का आस्रव नहीं होता, इसलिये वह ग्रहण करने योग्य है ॥१००॥ जिस प्रकार प्रखर ग्रीष्म के प्रभाव से कच्चे आम भी पक जाते हैं, उसी प्रकार तपश्चरण रूपी आताप (ग्रीष्म) के प्रभाव से असंख्यात कर्म भी पक कर नष्ट हो जाते हैं । जो पुरुष संसार में पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा करते हैं, उनका संग देने हेतु मुक्ति रूपी रमणी भी लालायित रहती है, फिर भला देवांगनाओं की तो गणना ही क्या है ? कर्मों की निर्जरा मुक्ति रूपी कन्या की जननी है, नरक रूपी गृह की अर्गल है, स्वर्ग प्राप्ति के लिए सीढ़ियों की पंक्ति है एवं सुख की खान है । मुनिगण सर्वप्रथम तो पापरूप अशुभ कर्मों का सम्वर कर उनकी निर्जरा करते हैं । अपनी आत्मा के हित साधक प्राणियों के लिए यह निर्जरा परम मित्र है, यह समस्त दुःखों का निवारण करनेवाली है, सारभूत है एवं अनन्त सुख उत्पन्न करने हेतु पृथ्वी के समतुल्य है । यही समझ कर उत्तम बुद्धिमानों को अपने चित्त तथा इन्द्रियों का निरोध कर एवं तप-चारित्र-संयमादि धारण कर प्रतिदिन कर्मों की निर्जरा करनी चाहिये । कर्मों की यह अविपाक निर्जरा प्राणियों को संसार रूपी सागर से उत्तीर्ण करा देनेवाली है, मुक्ति रूपी रमणी की सखी है, नरक के सिंहद्वार की सशक्त अर्गला (साँकल) है, स्वर्ग के सुगम सोपानों (सीढ़ियों) की पंक्ति है, अनन्त सुखों की खान है एवं श्री तीर्थंकर के द्वारा भी सेव्य है । इसलिये बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने अभिलाषा से कायक्लेश, तप, जप आदि गुणों के द्वारा कर्मों की निर्जरा सदैव करते रहना चाहिये । इति निर्जरानप्रेक्षा ॥९॥

यह लोक अकृत्रिम है, नित्य है तथा ऊर्ध्व-मध्य-अधोलोक के भेद से तीन प्रकार का है-यह लोक ज्ञानगोचर है, डेढ़ मृदंग के आकार का है एवं चारों कोनों तक प्राणियों से भरा हुआ है । उत्पाद-ध्रौव्य सहित एवं अपने-अपने गुणों से भरपूर धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं जीवराशि से यह लोक भरा हुआ है । इसके अधोभोग में सप्त नरकों के चौरासी लाख बिल हैं, जो अपार दुःखों के आगार हैं ॥११०॥ उनमें

पापी नारकी, अन्य नारकियों के द्वारा किए हुए छेदन-भेदन आदि अनेक प्रकार के घोर दुःखों को सदैव भोगते रहते हैं । वे नरक समस्त दुःखों के सागर हैं । उनमें यह जीव पूर्वोपार्जित पाप कर्म के उदय से वचनातीत दुःख भोगता रहता है, वहाँ इन जीवों को लेशमात्र भी सुख नहीं मिलता । केवल ढाई द्वीप ही ऐसा स्थान है, जिसमें कुछ जीव पुण्योपार्जन करते हैं, कुछ चारित्र धारण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं एवं कुछ हिंसा के द्वारा पाप का उपार्जन करते हैं । ज्योतिष्क तथा व्यन्तर देवों से भरे हुए असंख्यात द्वीपों में ये जीव पुण्यपाप के वशीभूत होकर सदैव परिभ्रमण किया करते हैं । पूर्वोपार्जित शुभ कर्मों के उदय से कुछ धर्मात्मा जीव षोडश स्वर्गों में तथा नव ग्रैवेयक आदि कल्पनातीत विमानों में अनेक प्रकार के सुख भोगते रहते हैं । उसके आगे सर्वदा शाश्वत (एक-सा) रहनेवाला नित्य स्थान है जहाँ पर अनेक सुखों में लीन तथा तीनों लोकों के द्वारा वन्दनीय सिद्धात्मा निवास करते हैं; उन्हें भी मैं नमस्कार करता हूँ । इस प्रकार लोक के विचित्र स्वरूप को ज्ञात कर विद्वानगण रागादिक को त्याग कर मोक्ष प्राप्त करने का उपाय करते हैं । यह अनेक प्रकार का लोक द्रव्यों से भरपूर है, उत्पाद-ध्रौव्य स्वरूप है, सर्वज्ञ को ज्ञानगोचर है, सुख-दुःख से भरा हुआ है, अनादि है एवं सर्वदा स्थिर रहनेवाला अविनाशी है । लोक को ऐसा जानकर बुद्धिमान प्राणी रत्नत्रय की सिद्धि द्वारा उसके ऊपर जाकर विराजमान होते हैं । इति लोकानुप्रेक्षा ॥१०॥

बारम्बार जन्म-मरण से पीड़ित यह जीव अनंतकाल तक निगोद में परिभ्रमण करता रहा एवं तत्पश्चात् अन्य स्थावर पर्यायों में भ्रमण करता रहा । त्रस पर्याय तक नहीं पा सका । कदाचित बड़ी कठिनता से त्रस पर्याय मिल भी जाये तो सुदीर्घ काल तक लट-कुन्थ आदि कीड़े-मकोड़ों की योनियों में भटकता रहता है, पंचेन्द्रिय पर्याय नहीं पाता ॥१२०॥ कदाचित् पंचेन्द्रिय भी हो जाये तो दीर्घ काल तक असैनी ही बना रहता है, धर्मबुद्धि से रहित होने के कारण सैनी (संज्ञी) नहीं होता । कदाचित् सैनी हो भी जाए तो सिंह-व्याघ्र आदि क्रूर जातियों में उत्पन्न होकर हिंसादिक द्वारा महापाप का बन्ध करता है, जिससे कि नरकादिकों में जाकर अनेक सागर पर्यंत वचनातीत दुःखों को भोगता है । पाप कर्म के उदय से यह जीव दुर्लभ मनुष्य पर्याय नहीं प्राप्त नहीं कर सकता । कदाचित् समुद्र में गिरे हुए रत्न के समतुल्य दुर्लभ मनुष्य पर्याय प्राप्त कर भी ले तो फिर म्लेच्छ खण्डों में ही भ्रमण किया करता है-आर्यखण्ड में जन्म नहीं लेता । कदाचित् भाग्यवश आर्यखण्ड में भी जन्म ले ले, तो भी सुदीर्घ अवधि तक नीच कुल में ही

भ्रमण किया करता है, कल्पवृक्ष के समकक्ष दुर्लभ श्रेष्ठ कुल में जन्म नहीं ले सकता । कदाचित् श्रेष्ठ कुल में जन्म भी पा ले तो दीर्घायु व्याधि रहित काया, इन्द्रियों की पूर्णता, रत्नत्रय की प्राप्ति, कषायों की मन्दता, अरहन्तदेव के वर्णित शास्त्र, निर्ग्रन्थ गुरु, तप, सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि की प्राप्ति उत्तरोत्तर दुर्लभ है । कदाचित् असीम भाग्योदय से ये सर्व संयोग प्राप्त हो भी जाएं तो चिन्तामणि रत्न सदृश ध्यान की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है । इन समस्त को प्राप्त कर भी मनुष्य यदि धर्म साधन करने में या मोक्ष प्राप्त करने में प्रमाद करे, तो फिर वह भाग्यहीन सदा-सर्वदा संसार रूपी भव-वन में भ्रमण ही करता रहेगा । तदुपरान्त यह जीव कोटि सागर कालावधि तक भी समुद्र में गिरे हुए माणिक के समान मनुष्य पर्याय, श्रेष्ठ कुल एवं धर्म के साधन पुनः प्राप्त नहीं कर सकता है । यही समझ कर बुद्धिमान जन रत्नत्रय की सामग्री प्राप्त कर धर्मसाधन में विशेष प्रयत्न करते हैं । उस धर्म के सेवन से मोक्ष में जा विराजमान होते हैं ॥१३०॥ इस संसार में मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है, तदुपरान्त सु-देश, आर्यखण्ड, उत्तम कुल, विवेक ज्ञान, आरोग्यता, इन्द्रियों की पूर्णता , सच्चा गुरु, तपश्चर्या, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं । इसलिये धार्मिक पुरुष इनको प्राप्त कर सदैव विशेष प्रयत्न से चारित्र धारण कर मोक्ष सिद्ध किया करते हैं । इति बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा ॥११॥

क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य-यह दशांग रूपी उत्तम धर्म कहलाते हैं । यही धर्म मोक्ष का कारण है, इसीलिये ज्ञानी मनुष्यों को मन-वचन-काय से क्षमा आदि दशांग धर्मों को धारण करना चाहिये । बुद्धिमान जन धर्म से ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर पाते हैं, धर्म से ही चक्रवर्ती की विभूति, इन्द्र के सुख; स्वर्ग, राज्य, कीर्ति एवं दिव्य देह प्राप्त करते हैं । तीनों लोकों में जो पदार्थ दुर्लभ हैं, जो दूर हैं एवं जो अत्यन्त कठिनता से प्राप्त हो सकते हैं; वे समस्त भी धर्मात्मा जीवों को धर्म के प्रभाव से अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं । धर्म से ही पुत्र-पौत्र आदि कुटुम्ब का सुख प्राप्त होता है, धर्म से ही सुख की सामग्री प्राप्त होती है, धर्म से ही रूपवती भार्या का संयोग होता है एवं धर्म से ही सेवक आदि सुविधाएँ प्राप्त होती हैं । जिसके धर्म का उदय होता है, उसके पास सुख प्रदायक तीनों लोकों की लक्ष्मी गृह की दासी के सदृश स्वयं आ जाती है । धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इनका मूल कारण धर्म ही है । धर्म के अभाव में ये कुछ भी प्राप्त नहीं होते है । इसलिए बुद्धिमानों को सर्वप्रथम

धर्म का ही सेवन करना चाहिए। इसलिए बुद्धिमानों को बहुमूल्य मनुष्य पर्याय रूपी रत्न प्राप्त कर धर्म के बिना एक क्षण भी नहीं व्यतीत करना चाहिए। जो निर्मल धर्म का पालन करते हैं, उनके चरण कमलों में इन्द्र भी भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं, तब अन्य की तो गणना ही क्या ? ॥१४०॥ यही समझ कर सज्जनों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा वर्णित दयामय धर्म का पालन करना चाहिए। यह उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार का धर्म सुख का सागर है, मोक्ष का कारण है, समस्त गुणों की निधि है, स्वर्ग के सोपान के समान है, इन्द्रों तक को अनेक ऋद्धियों का प्रदायक है, तीर्थंकर पद प्रदान करनेवाला है, समस्त कर्मों का विनाशक है, समस्त सांसारिक वैभव एवं शोभा का प्रदाता है एवं रत्नत्रय रूपी निधि आदि का आलय (घर) है; इसलिए मोक्ष की अभिलाषा करनेवाले पुरुषों (मुमुक्षुओं) को आत्मा की शुद्धि करने के लिए भगवान श्री जिनेन्द्रदेव के द्वारा वर्णित सद्धर्म का पालन करते रहना चाहिए। इति धर्मानुप्रेक्षा ॥१२॥

ये द्वादश अनुप्रेक्षाएँ शास्त्रों में वर्णित हैं, ये समग्र अनुप्रेक्षाएँ मुक्ति रूपी रमणी की सखी तुल्य हैं, सारभूत हैं तथा वैराग्य एवं धर्माचरण की जननी सदृश हैं। जो मनुष्यों अपने हृदय में इनको धारण करते हैं, वे तीनों लोकों के नाथ (स्वामी) बन जाते हैं, उनको सर्वप्रकारेण लक्ष्मी (वैभव) स्वयं उपलब्ध हो जाती है, समग्र पदार्थ स्वतः प्राप्त हो जाते हैं, ज्ञान-चारित्र आदि समस्त धार्मिक गुण स्वयंमेव उत्पन्न हो जाते हैं एवं अन्त में वह वैराग्य एवं मुक्ति रूपी रमणी को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने से भगवान के हृदय में अनन्त सुख का कारण एवं कर्म रूप शत्रुओं का विनाश करनेवाला वैराग्य द्विगुणित हो गया। विरक्त होकर उन्होंने षट् खण्ड पृथ्वी, नव विधि, चतुर्दश रत्न, भोग, काया, रानियों आदि का मोह त्याग दिया एवं गृहत्याग करने की प्रस्तुति करने लगे। अपने अवधिज्ञान से तथा अकस्मात् प्रगट होनेवाले चिह्नों से भगवान को वैराग्य उत्पन्न होना ज्ञात कर ब्रह्मलोक के निवासी, अत्यन्त शान्त, दीक्षा कल्याणक को सूचित करनेवाले देवर्षि, ब्रह्मचारी, निर्मल हृदय, एकावतारी, प्रवीण, एकादश अंग तथा चतुर्दश पूर्व के पारगामी एवं दिव्य मूर्तिधारी सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, अरिष्ट-ये अष्ट प्रकार के विचक्षण लौकान्तिक देव वहाँ आये एवं आते ही उन्होंने अतीव हर्षोल्लास से मस्तक नवा कर भगवान को नमस्कार किया। तदनन्तर उन्होंने श्रेष्ठ मंगल द्रव्यों से भगवान

की करबद्ध पूजा की एवं फिर भक्तिपूर्वक मस्तक नवा कर उत्तम गुणों का वर्णन कर उनकी स्तुति करने लगे ॥१५०॥ 'हे देव ! आप संसार के ज्ञाता हैं एवं ज्ञानियों में भी महाज्ञानी हैं । इस संसार में भला अन्य ऐसा कौन है, जो आप को समझाए ? क्योंकि आप महापुरुषों के भी गुरु हैं । जिस प्रकार लोग फूलों द्वारा वनस्पति की पूजा करते हैं, जलान्जलि अर्पित कर समुद्र की पूजा करते हैं एवं केवल भक्तिवश ही क्षुद्र दीपक से विराट सूर्य की पूजा करते हैं; उसी प्रकार हे जिनराज ! आपका सम्बोधन कर भक्ति करनेवाले हम सब भी आपकी केवल स्तुति करते हैं । हे देव ! आप तीनों लोकों के स्वामी हैं, विद्वानों के गुरु हैं, आप ही संसार से भयभीत प्राणियों के रक्षक हैं एवं संसार से रक्षा करने के लिए आप ही मनुष्यों की शरण हैं । हे देव ! आप के धर्मोपदेश से श्रेष्ठ व्रतों को धारण कर कितने ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त करते है, कितने ही पुण्यवान स्वर्ग में स्थान पाते हैं एवं कितने ही कल्पनातीत विमानों में उत्पन्न होते हैं। हे स्वामिन् ! आज सम्यक्ज्ञान पर आवरण आच्छादित करनेवाला मनुष्यों का मिथ्याज्ञान रूपी अन्धकार आपकी वचन रूपी किरणों से नष्ट होकर दूर पलायन कर जाएगा । हे देव ! आप के तीर्थ (दिव्य ध्वनि) की प्रवृत्ति होने से आज रत्नत्रय रूपी महान मोक्षमार्ग प्रगट होगा, इसमें कोई संशय नहीं है । हे नाथ ! आज आपके कर (हाथ) में चारित्र रूपी महान अस्त्र होने से तीनों लोकों का विजेता मोह रूपी शत्रु भी स्वयं 'त्राहि-त्राहि' कहता हुआ भय से प्रकम्पित हो रहा है । हे स्वामिन् ! आज आप के ज्ञान का उदय होने से इस संसार में मनुष्यों को स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त करानेवाले सुख के सागर महान् धर्म का उदय होगा । हे प्रभो ! सूर्य के सदृश आप का उदय होने से खद्योत के समतुल्य पाखण्डी गण प्रभा रहित हो जायेंगे, इसमें कोई संशय नहीं है ॥१६०॥ हे देव ! आप के दीक्षा-कल्याणक का समाचार सुनकर धर्म रूपी महासागर की वृद्धि होने से आज हम स्वर्ग निवासियों तथा मनुष्यों को अपार आनन्द हुआ है । हे श्री जिनेन्द्र ! आज आपका धर्मोपदेश सुनकर अनेक मोहग्रस्त मनुष्य मोह का नाश करेंगे, कामीजन काम चेष्टा से निवृत्त होंगे एवं पापीजन पाप करना त्याग देंगे । हे स्वामिन् ! आपके केवलज्ञान से सज्जन प्राणियों का उपकार होगा, इसमें कोई संशय नहीं है । इसलिए हे प्रभो ! आप केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए उद्यम कीजिए । हे नाथ ! वैराग्य रूपी तीक्ष्ण अस्त्र के द्वारा सम्पूर्ण जगत् को विजितकर मोह रूपी दुष्ट योद्धा को निहतकर आप शीघ्र ही संयम धारण करेंगे । हे देव ! आप साम्राज्य के कठिन भार को त्याग कर अपनें

ज्ञान के द्वारा तीनों जगत् के साम्राज्य का कारण एवं सुगम तपश्चरण का भार स्वीकार कीजिए । हे देव ! आप विद्वान एवं मूढ़ दोनों को उपदेश देनेवाले हैं, तब क्या हम सब के द्वारा प्रबुद्ध किए जा सकते हैं ? क्या प्रकाश करने के लिए सूर्य को दीपक दिखाया जाता है ? इसलिए हे नाथ ! तपश्चरण कर आप समस्त संसार को पवित्र कीजिए एवं केवलज्ञान प्राप्त कर शीघ्र ही मनुष्यों का उपकार कीजिए । हे देव ! आप धर्म, अर्थ, काम-इन तीनों पुरुषार्थों के पारगामी हैं, चक्रवर्ती हैं, कामदेव हैं, तीर्थंकर हैं एवं तीनों लोकों के स्वामी हैं । हे नाथ ! अब चौथे मोक्ष-पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिए आप चारित्र धारण कीजिए, क्योंकि चारित्र धारण कर ही आप संसार से भव्य जीवों का उद्धार कर मोक्ष प्राप्त करेंगे । जिस प्रकार संसार में आकाश से कोई विराट नहीं है एवं परमाणु से कोई लघु नहीं है; उसी प्रकार हे देव ! तीनों काल में आप से श्रेष्ठ कोई देव नहीं है ॥१७०॥ इसलिए हे श्री जिनेन्द्र ! दिव्य मूर्ति को धारण करनेवाले, जगत् को आनन्द प्रदायक परमेष्ठी, आपको नमस्कार है, बारम्बार नमस्कार है । आपका ज्ञान समस्त संसार के सम्बन्ध में जानने के समर्थ है, इसलिये आपको नमस्कार है । आप सज्जनों के गुरु हैं, इसलिये आपको नमस्कार है । आप मुक्ति-रमणी के पति हैं, इसलिये आपको नमस्कार है । आप कल्याणक के सागर हैं, इसलिये आपको नमस्कार है । हे देव ! इस स्तुति के द्वारा हम आप से संसार की लक्ष्मी (वैभव) की याचना नहीं करते हैं, किन्तु हमें आप अपने गुणों का समूह ही प्रदान कर दीजिये । हे भगवान श्री शान्तिनाथ ! इन्द्र भी आपके चरण कमलों की पूजा करते है, आप संसार में सबके नेत्रों को उल्लसित करनेवाले हैं, आप ही जीवों के तीनों कालों के भवों का वर्णन करने में समर्थ हैं । आप ही समस्त कर्म रूपी शत्रुओं को परास्त करनेवाले हैं, आप ही तीनों लोकों के जीवों को भव पार कराने में प्रवीण (चतुर) हैं, आपकी सर्वदर्शी हैं, आप ही सर्वज्ञ हैं एवं आप ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती तथा कामदेव पद को धारण करनेवाले हैं । इसलिये हे देव ! हमारे लिए तो आप ही शरण हैं ।" इस प्रकार उन लौकान्तिक देवों ने भगवान की स्तुति की, प्रशंसा की एवं बारम्बार उन्हें प्रणाम किया तथा अपना नियोग साधन कर वे प्रसन्नचित्त होकर अपने स्थान को चले गये । जिस प्रकार चक्षु के द्वारा पदार्थों को देखने में दीपक सहायक होता है, उसी प्रकार लौकान्तिक देवों के वचन भगवान की दीक्षा में सहायक हो गये थे । भगवान जब तक अपना राज्य त्यागने एवं वन में गमन के लिए प्रस्तुत हुए, तब तक चारों निकाय

के देव एवं इन्द्र अपने-अपने वाहन एवं देवागंनाओं के संग अपनी कान्ति से आकाश को प्रकाशित करते हुए गीत गाते, नृत्य करते हुए आए एवं आते ही उन्होंने जगत्गुरु भगवान को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया । उस समय देवों की सेना, देवांगनाएँ एवं देव समस्त आकाश, नगर की वीथियों (गलियों), राजभवन, नगर के बाह्य वन को अवरुद्ध कर खड़े हो गये ॥१८०॥ तदनन्तर इन्द्रादिक देवों ने अपार उत्साह के संग दीक्षा कल्याणक का उत्सव सम्पन्न करने के लिए महान् विभूतिपूर्वक मुक्ता-मालाओं से सुशोभित होकर क्षीरसागर के जल से भरे हुए सुवर्ण के उत्तुंग (ऊँचे) एवं गंभीर (गहरे) उत्तम कलशों से भगवान का सर्वोत्तम महाभिषेक किया । फिर उन इन्द्रों ने दिव्य आभूषण, वस्त्र तथा मालाओं से भगवान को विभूषित किया । भगवान ने विराट उत्सव एवं विभूति के संग अपने पुत्र नारायण का राज्याभिषेक किया एवं समग्र राज्य-सम्पदा उसे सौंप दी । तत्पश्चात् दीक्षा लेने की प्रतिज्ञा के अनुरूप भगवान, देवों द्वारा निर्मित्त रत्नमयी 'सर्वार्थसिद्धि' नामक पालकी पर आरूढ़ हुए । राजा, विद्याधर, देव सभी उस पालकी को कन्धे पर उठाकर शीघ्र ही आकाश मार्ग से ले चले । उस समय देव पुष्पों की वर्षा कर रहे थे, 'जय-जय' शब्द कर रहे थे एवं गन्धोदक की वर्षा के साथ शीतल मन्द समीर प्रवाहित हो रहा था । उस समय इन्द्रों के शरीर की कान्ति दिग्दिगन्त तक फैल रही थी एवं दुन्दुभियों के शब्द समस्त दिशाओं में प्रतिध्वनित हो रहे थे । इन्द्रगण भगवान के ऊपर चँवर ढुला रहे थे एवं दिक्कुमारियाँ भुजाओं में मंगल द्रव्य लेकर भगवान के आगे-आगे चल रही थीं। उस समय वाद्यों के शब्दों से, नृत्यों से, जय-जयकारों के कोलाहल से एवं गन्धर्वों के द्वारा गाये जाने वाले गीतों से संसार भर को अपूर्व आनन्द हो रहा था । इन्द्रों ने छत्र आदि द्वारा अनेक प्रकार की शोभा कर उनका माहात्म्य प्रगट किया था तथा नगर से निकलते हुए नगर-निवासियों ने इस प्रकार उनसे शुभ कामना प्रकट की-'हे नृपाधीश ! आप जाइये, आपका मोक्षमार्ग कल्याणकारी हो ।' उन्हें जाते हुए देखकर कितनी ही जनता परस्पर कह रही थी कि संसार में यह भी एक आश्चर्य की घटना है कि ये भगवान रत्न-निधि-रमणी आदि समस्त का परित्याग कर वन को जा रहे हैं । यह सुनकर अन्य कितने ही जन कहने लगे कि संसार में ऐसे उत्तम मनुष्य कतिपय ही होते हैं, जो लक्ष्मी (वैभव) को भरपूर भोग भी सकते हैं एवं क्षणभर में ही उसे त्याग भी कहते हैं । अन्य कितने ही व्यक्ति कहने लगे-'ये भगवान तीर्थंकर हैं, चक्रवर्ती हैं एवं कामदेव हैं; इसलिए ये

इहलोक एवं परलोक के सर्व कार्यों में समर्थ हैं । अन्य कोई पुरुष ऐसा नहीं हो सकता ।' अन्य कितने ही नागरिक कहने लगे कि भगवान के धर्म का प्रभाव तो देखो, जो इन्द्र भी समग्र देवों के संग इनकी सेवा कर रहा है । इस प्रकार स्तुतिपूर्ण वचनों से जिनकी प्रशंसा हो रही है, ऐसे वे भगवान अनुक्रम से इन्द्र के संग-संग नगर के बाहर जा पहुँचे ॥२१०॥ अथानन्तर-भगवान के वनागमन पर उनकी रानियाँ शोक से व्याकुल हो गईं एवं मार्ग में मन्त्रियों को संग लेकर भगवान का अनुसरण करते हुए चलने लगीं । भगवान के वियोग रूपी अग्नि से उनका शरीर दग्ध हो उठा था, उन्होंने अपने समस्त आभूषण उतार दिये थे, उनकी शारीरिक शोभा व्यतीत हो चुकी थी एवं गिरती-उठती वे भगवान के पीछे-पीछे चल रही थीं । कितने ही रानियाँ दावानल से दग्ध हुई लता के समान प्रतीत होती थीं, उनकी काया जीर्ण पत्र (पत्ता) के समतुल्य काँप रही थी, मूर्छा आने से उनके नेत्र बन्द हो गए थे एवं वे धराशायी हो पड़ती थीं । इतने में विज्ञपुरुषों ने आकर मधुर वचनों से समझा कर उन रानियों को आगे जाने से निषेध किया एवं कहा-'आगे मत जाइये, आगे जाने के लिए प्रभु की अनुमति नहीं है ।' इस आज्ञा को सुनकर उन्होंने दीर्घ निश्वास ली एवं चित्त में यह दृढ़ निश्चय किया कि वे अब अवश्य ही निर्दोष तपश्चरण करेंगी । गहन विषादपूर्वक वे अपने महल को प्रत्यागमन कर गईं । संयम रूपी लक्ष्मी के अभिलाषी वे भगवान शान्तिनाथ चक्रायुध आदि अपने भ्राताओं, नगर निवासियों, राजा-महाराजाओं तथा इन्द्र एवं देवों के द्वारा आयोजित किए हुए महोत्सव के संग, जहाँ तक दर्शकों को दृष्टिगोचर हो सके, सुदूर व्योम पथ (वायुमार्ग) से गमन कर सहसाम्र नामक वन में जा पहुँचे । उस वन में एक शीतल छायावान वृक्ष था, जिसके नीचे एक शिला थी जो देवों ने पूर्व-स्थापित कर रख दी थी । वह शिला अत्यन्त विशाल थी । पृथ्वी के समतुल्य उत्तम एवं पवित्र उस शिला को देखकर भगवान शान्तिनाथ वहाँ पालकी से उतरे । उन्होंने मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक मोह को विनष्ट करने के लिए वस्त्र, आभरण, माला तथा क्षेत्र, वस्तु आदि दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों से, मिथ्यात्व आदि चतुर्दश प्रकार के अन्तरंग परिग्रहों के संग ही कायादि से तथा समस्त पदार्थों से ममत्व का त्याग किया । तदनन्तर वे स्थिरतापूर्वक पर्यंकासन से उस शिला पर विराजमान हुए एवं फिर उन्होंने सिद्धों को नमस्कार कर पंच मुष्ठियों में केशलोंच किया । सुविज्ञ भगवान शान्तिनाथ ने मोह रूपी बेल के ऊपरी भाग के सदृश केशों का लोंच किया एवं दिगम्बर

अवस्था धारण कर परमेश्वरी दीक्षा धारण कर ली । ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्थी के दिवस सन्ध्याकाल के समय भरणी नक्षत्र में भगवान श्री शान्तिनाथ ने प्रसन्न होकर दीक्षा धारण की । भगवान ने जिन केशों का लोंच किया था, भगवान के मस्तक पर धारण (निवास) करने के कारण एवं उनकी काया का स्पर्श करने के कारण अत्यन्त पवित्र समझ कर इन्द्र ने श्रद्धा-आदर सहित उन्हें रत्नमंजूषा में रखा तथा विराट विभूति के संग उन्हें ले जाकर क्षीरसागर में निक्षेपित कर दिया । वस्त्र-आभूषण-माला आदि जो-जो वस्तुएँ भगवान ने उतारी थीं, उन्हें भी असाधारण उत्तम समझ कर कर देव अपने संग ले गए । भगवान के संग-संग चक्रायुध आदि एक सहस्र राजाओं ने दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर संयम धारण किया था । उन नव दीक्षित मुनियों ने आवृत्त (घिरे हुए) श्री शान्तिनाथ भगवान ऐसे प्रतीत होते थे मानो एक विराटकाय कल्पवृक्ष अन्य लघुकाय कल्पवृक्षों से आच्छादित हो । तदनन्तर सन्तुष्ट होकर इन्द्र उन तीन लोक के स्वामी एवं परम पद में स्थित भगवान शान्तिनाथ के उत्तम गुणों का यथार्थ वर्णन कर उनकी स्तुति करने लगा । इसी प्रकार अन्य समस्त इन्द्रगण उनकी स्तुति कर के पुण्य सम्पादन करने के निमित्त अपने हृदय में उनके पवित्र गुणों का स्मरण करते हुए अनुगत देवों के संग अपने-अपने स्थान हेतु प्रस्थान कर गए । दीक्षा रूपी रमणी के वशीभूत हुए चक्रायुध आदि भ्राताओं के अतिरिक्त शेष मन्त्री-भ्राता-बन्धु आदि सर्व साधारणजन मन-वचन-काय से उन जगत्बन्धु भगवान शान्तिनाथ को नमस्कार कर अपने-अपने निवास को लौट गये । इधर भगवान मोक्ष प्राप्त करने के निमित्त चित्त को शुद्ध कर मौन धारण कर एवं काया को निश्चल विराजमान कर संकल्प-विकल्प रहित ध्यानस्थ हो गये । इस प्रकार जब उनका छटठा उपवास पूर्ण हो गया, तब वे ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक आहार लेने के लिए निकले । उस समय वे समता धारण किये हुए थे, तीनों प्रकार के वैराग्य का चिन्तवन कर रहे थे, प्रज्ञावान (चतुर) थे, समस्त संसार उनकी वन्दना करता था, चारों ज्ञानों को धारण किये हुए थे एवं निर्दोष आहार संधान (ढूँढ़ने) में तत्पर थे । शान्तिनाथ भगवान अपने सम्मुख चार हस्त प्रमाण मार्ग का निरीक्षण करते हुए गमन कर रहे थे । वे न तो बहुत धीरे चलते थे, न बहुत शीघ्र चलते थे, पैरों को मंद-मंद उठाते व रखते हुए गजराज के सदृश लीलापूर्वक पदचारण करते जा रहे थे । वे मुनिराज (भगवान शान्तिनाथ) मार्ग में केवल काया को स्थिर रखने के लिए आहार-ग्रहणपूर्वक दानियों को सन्तुष्ट करते हुए अनुक्रम से विहार करते-करते मन्दरपुर नामक नगर

श्री शांतिनाथ पुराण

में पहुँचे । वहाँ के महाराजा सुमित्र भगवान सदृश महान पात्र (याचक) का शुभागमन देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए । श्रावकों के पुण्य कर्म के ज्ञाता महाराज ने भगवान के चरण कमलों में अपना नमस्कार किया तथा 'तिष्ठ-तिष्ठ' कह कर उन्हें पड़गाहा । श्रद्धा, विनय, शक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा तथा त्याग-दानियों के ये सप्त गुण कहे गये हैं । प्रतिग्रह, उच्च स्थान प्रदान, पाद प्रक्षालन, पूजा, प्रमाण, वचनशुद्धि, मनशुद्धि, कायशुद्धि तथा आहारशुद्धि-यह नवधा (नव प्रकार की) भक्ति कहलाती है । दानीजन पुण्य सम्पादन करने के लिए भक्ति का आचरण करते हैं । पुण्यात्मा महाराज सुमित्र ने सप्त गुणों से सुशोभित होकर हार्दिक भक्ति से भगवान शान्तिनाथ को प्रासुक, मधुर, मनोहर, रसीला, तृप्तिदायक, सुखद, क्षुधा निवारक तथा चारित्रवर्द्धक आहार दिया । उस दान से सन्तुष्ट होकर देवों ने महाराज सुमित्र के राजप्रांगण में बहुमूल्य मणियों की किरणों से व्याप्त रत्नों की वर्षा कर प्रभावना की । समस्त आश्चर्यों को प्रगट करनेवाली आकाश से गिरती हुई रत्नों की वह स्थूल धारा ऐसी प्रतीत होती थी मानो मनुष्यों को आहार दान का अद्भुत फल प्रत्यक्ष ही प्रकट कर रही हो । 'अहो, कैसा उत्कृष्ट दान है, कैसे उत्तम पात्र हैं एवं सर्वगुण विभूषित कैसे भाग्यशाली दाता हैं'-उस दान से सन्तुष्ट होकर देव यह आकाशवाणी कर रहे थे । उस आहार दान से महाराज सुमित्र स्वयं को कृतार्थ मानते हुए अपने कुल को गौरवशाली एवं अपने जन्म को धन्य मानने लगे थे ।

आचार्य कहते हैं कि मैं तो उत्तम गृह उसी को मानता हूँ, जहाँ मुनिराज अपनी काया की रक्षा के हेतु पधारते हैं । जिस गृह-प्रांगण में आहार के निमित्त मुनिराज नहीं पधारते, वह निष्प्रयोजन है । इस संसार में वे ही गृहस्थ धन्य हैं, जो पात्रों को सर्वदा अनेक प्रकार का दान देते रहते हैं । जो गृहस्थ मुनियों को कभी दान नहीं देते, वे पापी ही हैं । दान से जिस प्रकार इहलोक में लक्ष्मी, सम्मान एवं कीर्ति प्राप्त होती है; उसी प्रकार परलोक में भी स्वर्ग-मोक्ष के अपार सुख प्राप्त होते हैं । अपने आत्मतत्व में तल्लीन रहनेवाले एवं निराश्रय रहनेवाले वे जितेन्द्रिय मुनिराज आहार ग्रहण कर ध्यान करने के हेतु वन को प्रत्यावर्त्तन कर गए । भगवान शान्तिनाथ व्रतों का पालन करने के लिए पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति-इन पन्च स्थावरों तथा त्रस जीवों की दया का पालन मन-वचन-काय एवं कृत-कारित अनुमोदना से करते थे । मौन धारण किए हुए वे भगवान सम्वर धारण करने के निमित्त सर्वदा सत्यव्रत एवं अचौर्यव्रत में मन-वचन-काय

से तल्लीन रहते थे । वे स्वप्न में भी कभी किसी परिग्रह में वांछा (इच्छा) नहीं रखते थे । इसी प्रकार वे गुप्ति-समिति आदि समस्त व्रतों से युक्त थे तथा अन्य भी अनेक व्रतों का पालन करते थे । वे पंच महाव्रतों का विशेष प्रयत्न से पालन करते थे तथा उनकी पूर्ण सिद्धि के लिए उनकी पच्चीस भावनाओं का सदैव चिन्तवन किया करते थे । अहिंसा महाव्रत की विशुद्धता के लिए ईर्या समिति, भाषा समिति, ऐषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति तथा व्युत्सर्ग समिति-इन पन्च समितियों का चिन्तवन भगवान शान्तिनाथ करते थे । सत्य महाव्रत के लिए क्रोध का त्याग, लोभ का त्याग, भय का त्याग, हास्य का त्याग तथा आगमानुसार वचन कहना-इन पन्च आचरणों का पालन भगवान शान्तिनाथ करते थे । उचित आज्ञानुसार ग्रहण करना, अन्यथा ग्रहण न करना तथा आहार में प्रदत्त भोजनपान में सन्तोष धारण करना अचौर्य व्रत की भावना है, इनका भी नियमन वे भगवान करते थे । नारियों की श्रृंगार कथाओं का त्याग, नारियों के लावण्य-सौन्दर्य के अवलोकन का त्याग, पूर्वकाल में भोगे हुए भोगों के स्मरण तक का त्याग-इस प्रकार ब्रह्मचर्य की पंच भावनाओं का भी वे चिन्तवन करते थे । चेतन-अचेतन रूप, बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह रूप, इन्द्रियों के विषयों में विरक्त होना, परिग्रह त्याग-महाव्रत की शेष भावनाएँ हैं, इनका भी वे चिन्तवन करते थे । महाव्रतों को स्थिर रखने के लिए ये महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ हैं । भगवान श्री शान्तिनाथ प्रतिदिन इनका चिन्तवन किया करते थे । माया, मिथ्या, निदान आदि अनेकानेक शल्य (शंकायें) शास्त्रों में वर्णित हैं, उन समस्त का त्याग कर भगवान निःशल्य होकर विहार करते थे । इस प्रकार चक्रायुध आदि अनेक मुनियों के संग अनेक देशों का विहार करते हुए भगवान सहसाम्र वन में जा पहुँचे । मोक्ष प्राप्त करने के लिए वे षट दिवसीय उपवास धारण कर नन्द्यावर्त वृक्ष के तले दृढ़ासन से विराजमान होकर ध्यान करने लगे । वे पूर्व दिशा की ओर मुख कर विराजमान हुए, बाह्य निमित्त को प्राप्त कर उन्होंने समस्त चिन्ताओं का निरोध किया तथा सिद्धों के गुण प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम सिद्ध के अष्ट गुणों का ध्यान करने लगे । अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, सम्यक्दर्शन, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाध तथा अगुरुलघु-ये सिद्धों के अष्ट गुण हैं । सिद्ध पद प्राप्त करने की अभिलाषा रखनेवाले तीर्थंकरों तथा अन्य मुमुक्षु मुनियों को इन गुणों का ध्यान करना चाहिये । इसी प्रकार वे भगवान अपने चित्त में धर्मसाधन करनेवाले उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों, सर्व द्रव्य तत्व तथा पदार्थों का चिन्तवन करने लगे । चित्त को शुद्ध करने के निमित्त

आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय तथा संस्थानविचय-इन चारों धर्मध्यानों को उन्होंने धारण किया। उन्होंने चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ कर सप्तम गुणस्थान तक के किसी एक बिन्दु (स्थान) पर नरकायु, तिर्यंचायु तथा देवायु-इन तीनों प्रकृतियों को बिना प्रयत्न के ही नष्ट कर दिया था। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व की तीन प्रकृतियाँ धर्मध्यान के प्रभाव से इस से पूर्वकाल में ही नष्ट हो गई थीं। तब वे उत्तम आत्म-शुद्धियों का चिन्तवन करते हुए सप्तम गुणस्थान में जा पहुँचे तथा मोक्षगृह की नसैनी (सीढ़ी) द्वारा चढ़ कर क्षपकश्रेणी में विराजमान हुए। वे भगवान प्रमाद रहित होकर अनुक्रम से अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्णकरण तथा अनिवृत्तिकारण गुणस्थान में जा विराजमान हुए। साधारण, आतप, एकेन्द्रिय, द्वीइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय, जाति निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति नरक गत्यानुपूर्वी, स्थावर, सूक्ष्म, तिर्यन्चगति, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी-ये षोडश प्रकृतियाँ उन्होंने अनिवृत्ति गुणस्थान के प्रथम अंश में ही नष्ट कर दी थी। वे महान् योद्धा भगवान शान्तिनाथ पृथकत्व वितर्क विचार नामक प्रथम शुक्लध्यान रूपी अस्त्र को कर (हाथ) में लेकर तथा गुप्ति रूपी कवच धारण कर कर्मों से युद्ध कर रहे थे। उपरोक्त षोडश प्रकृतियों का नाश करने के उपरान्त उन्होंने उसी नवम गुणस्थान के द्वितीय अंश में उसी शुक्लध्यान से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ एवं प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ-ये अष्ट कषाय नष्ट कर दिये थे। तदनन्तर उन्होंने ध्यान के योग से तृतीय अंश में नपुंसकवेद, चतुर्थ अंश में स्त्रीवेद, पंचम अंश में हास्यरति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा, षष्ठ अंश में नपुंसकवेद, सप्तम अंश में संज्वलन क्रोध, अष्टम अंश में संज्वलन मान, नवम अंश में संज्वलन माया-इन समग्र को नष्ट किया। कर्म रूपी शत्रुओं का नाश करने में उद्यत भगवान ने पुनः विजयभूमि प्राप्त कर दशम् गुणस्थान में सूक्ष्म साम्पराय नामक चारित्र रूपी तीक्ष्ण अस्त्र के द्वारा सूक्ष्म लोभ को नष्ट कर किया एवं इस प्रकार कर्मरूपी शत्रुओं का विनाश करनेवाले भगवान शान्तिनाथ ने समस्त कषायों को नष्ट कर दिया। इस प्रकार उन्होंने अनन्त गुणों का वर्द्धक द्वादश गुणस्थान प्राप्त कर लिया एवं तत्पश्चात् शेष घातिया कर्म रूपी पापों का नाश करने के लिए उद्यम करने लगे। उस द्वादश गुणस्थान में प्रथम क्षण में उन्होंने एकत्ववितर्क अविचार नाम के द्वितीय शुक्लध्यान से निद्रा एवं प्रचला नामक दो प्रकृतियाँ नष्ट कीं तथा तदुपरान्त यथाख्यात चारित्र धारण करनेवाले उन भगवान ने उसी द्वितीय

निर्मल शुक्लध्यान से उसी द्वादशवें गुणस्थान के अन्तिम क्षण में चार दर्शनावरण की प्रकृतियाँ, पाँच ज्ञानावरण की प्रकृतियाँ एवं पाँच अन्तराय की प्रकृतियाँ नष्ट कीं । इस प्रकार उन्होंने कर्मों की तिरेसठ प्रकृतियों को नष्ट कर उसी समय लोक-अलोक को प्रकाशित करनेवाला अनन्त केवलज्ञान, अनन्त दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्दर्शन एवं क्षायिक सम्यक्चारित्र-ये स्व एवं पर का हित करनेवाली नव (नौ) केवल-लब्धियाँ प्राप्त कीं । इस प्रकार भगवान श्री शान्तिनाथ ने छद्मस्थ अवस्था के षोडश वर्ष व्यतीत कर पौष शुक्ला एकादशी के दिवस संध्या के समय तीर्थंकर बनकर देवों से भी श्रेष्ठ महानता प्राप्त की थी । भगवान श्री शान्तिनाथ के घातिया कर्म नष्ट होने पर तथा केवलज्ञान प्रगट होने पर देवों के समूह आकाश में 'जय-जय' शब्द कर रहे थे, देवों के द्वारा बजाये जा रहे नगाड़ों के गम्भीर निनाद (शब्द) से समस्त दिशाएँ व्याप्त हो गयीं (गूँज उठी) तथा आकाश से कल्पवृक्षों के पुष्पों की वर्षा होने लगी थी ।

भगवान के गुण रूपी सागर में ज्ञान रूपी लहरों की अभिवृद्धि होने पर (पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने पर) शीतल सुगन्धित वायु मन्द-मन्द प्रवाहित हो रहा था, समस्त दिशाओं के संग आकाश निर्मल तथा मनोहर हो गया था तथा सम्यक्दर्शियों को अपूर्व आनन्द आ रहा था । भगवान के केवलज्ञान प्रगट होते ही इन्द्रगण अपने-अपने निकायों के देवों के संग अपने सिंहासन से उठे तथा कई पग (कदम) आगे चल (बढ़) कर भगवान को परोक्ष में नमस्कार किया । समस्त पापों से रहित, अनन्त गुणों के सागर एवं समस्त संसार के स्वामी श्री जिनेन्द्र भगवान को मैं भी मस्तक नवा कर भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ एवं सर्वदा उनकी स्तुति करता हूँ । इन्द्र की आज्ञा से देवों के संग भक्तिपूर्वक कुबेर आये एवं विविध प्रकार की विभूतिपूर्ण रचना के द्वारा संसार के उत्तम प्राणियों द्वारा सेव्य 'समवशरण' की रचना भगवान श्री शान्तिनाथ की उपदेशना के लिए की । ऐसे भगवान श्री शान्तिनाथ इस संसार में सदा जयवन्त हों । भगवान श्री शान्तिनाथ को इन्द्र आदि समग्र देव एवं समस्त मुनिराज भक्तिपूर्वक अपने शीश नवाकर नमस्कार करते हैं । जो सर्वज्ञ हैं, जिनेन्द्र हैं, संसार रूपी समुद्र से उत्तीर्ण करानेवाले हैं त्रिलोक विजयी हैं, धर्मोपदेश देने में तत्पर हैं, तीनों लोकों के स्वामी हैं एवं सम्पूर्ण गुणों की अक्षय निधि हैं, ऐसे भगवान श्री शान्तिनाथ की स्तुति मैं उनकी शक्ति-सामर्थ प्राप्त करने के लिए करता हूँ । जो सर्वज्ञ हैं, दिव्य आकृति को धारण

करनेवाले हैं, जिनकी पूजा समस्त देवगण करते हैं, जो भव्य जीवों के अलौकिक बन्धु हैं, कल्याणमय हैं, कल्याण के कारण हैं, समस्त शत्रुओं को परासत करनेवाले हैं, अत्यन्त धीर-वीर हैं, उत्कृष्ट तपस्वी मुनियों के आराध्य है, निखिल गुणों के समुद्र हैं, प्रपन्च रहित हैं, जिनेन्द्र हैं एवं समस्त संसार जिनकी वन्दना करता है-ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान को मैं उनका अतिशय प्राप्त करने की अभिलाषा से मस्तक नवाकर सदैव नमस्कार करता हूँ ।

श्री शान्तिनाथ पुराण में दीक्षा-कल्याणक एवं केवल ज्ञान कल्याणक का वर्णन करने वाला पन्द्रहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥१५॥

सोलहवाँ अधिकार

जो देवों के देव हैं, तीनों जगत् के स्वामी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं एवं तीनों लोकों का हित करनेवाले हैं, ऐसे श्री शान्तिनाथ भगवान को मैं अपने समस्त पाप शान्त करने हेतु नमस्कार करता हूँ । अथानन्तर-असंख्यात देव, गीत-नृत्य करते हुए अपार विभूति के संग अपनी काया एवं आभरणों की कान्ति से गगन को प्रकाशित करते हुए जा रहे थे । देवों के वृहत्कार नगाड़ों के शब्द एवं 'जय-जय' के कोलाहल के मध्य सानन्द गमन करते हुए धर्मात्मा इन्द्रों ने अन्य देवों (कुबेर के अनुगामी) के शिल्प चातुर्य द्वारा बहुमूल्य रत्नों से निर्मित समवशरण का अवलोकन किया । वह समवशरण त्रिलोक की समस्त विभूति का अनुपम केन्द्र था । यद्यपि इन्द्रादि के निर्देश पर कुबेर द्वारा निर्मित उस समवशरण का वर्णन कोई भी शब्दों में नहीं कर सकता तथापि भव्य जीवों का हित करने हेतु आचार्य श्री ने संक्षेप में जो वर्णन किया था, वह इस प्रकार है-'चार योजन लम्बा एवं दो कोस चौड़ा गोलाकार इन्द्रनील महामणियों से निर्मित एक पीठ मध्य में था जिसके चारों ओर एक उत्तुंग धूलिशाल था-जो पंचवर्णी रत्नों की धूलि से निर्मित था, अत्यन्त विशालकाय था एवं दैदीप्यमान किरणों से आलोकित था-इन्द्रधनुष के सदृश अनेक रंगों से परिपूर्ण था एवं उस पीठ के चतुर्दिक अत्यन्त शोभायमान हो रहा था । धूलिशाल की चारों दिशाओं में रत्नों की मालाओं से सुशोभित एवं सुवर्ण के खम्भों पर विराजमान तोरण अपनी पृथक शोभा प्रदर्शित कर रहे थे । उन तोरणों से कुछ दूर आगे चलकर समस्त दिशाओं में मार्ग के मध्य भाग में दिव्य मूर्ति को

धारण करनेवाली 'जगती' थी । इन जगतियों पर सुवर्ण के षोडश-षोडश सोपान (सीढ़ियाँ) बने हुए थे, भगवान के अभिषेक से वे पवित्र थीं एवं चार-चार गोपुरों से सुशोभित तीन-तीन कोटों से आवृत्त थीं । उन जगतियों के मध्य में दिव्य पीठिकाएँ निर्मित थीं एवं उन पर देवों के द्वारा पूज्य तीर्थंकरों की अत्यन्त भव्य प्रतिमाएँ विराजमान थीं । उन पीठिकाओं के ऊपर गगनचुम्बी मानस्तम्भ दण्डायमान अवस्थित थे । वे मानस्तम्भ अत्यन्त उत्तुंग थे एवं घण्टा, चमर, ध्वजाएँ एवं मस्तक पर परिक्रमा करते हुए छत्रों से सुशोभित थे । ऐसे मानस्तम्भ चारों दिशाओं में थे । उनको दूर से देखते ही मिथ्यादृष्टियों का मान खण्डित हो जाता था, इसलिए उनका यह सार्थक नाम 'मानस्तम्भ' प्रसिद्ध था । उन मानस्तम्भों के मध्य भाग में अनेक ऋद्धियों से सुशोभित भगवान की जो भव्य प्रतिमाएँ विराजमान थीं, उनकी पूजा इन्द्रगण क्षीरसागर के जल तथा अन्य अनेक द्रव्यों से किया करते थे । उन मानस्तम्भों के चतुर्दिक चारों दिशाओं में चार मनोहर बावड़ियाँ थीं, जो स्वच्छ जल एवं पद्मों से सुशोभित थीं । उन बावड़ियों में मणियों से सीढ़ियाँ निर्मित हुई थीं, नन्दोत्तरा आदि उनका नाम था । उनके तट पर पाद-प्रक्षालन हेतु कुण्ड बने हुए थे । भ्रमरों एवं पक्षियों से वे गुंजायमान थीं । उन बावड़ियों से कुछ ही आगे चलकर प्रत्येक मार्ग से हट कर शेष भाग में पद्मों से आवृत्त, पत्रों (पत्तियों) से अलंकृत तथा स्वच्छ जल से परिपूर्ण खाईयाँ शोभायमान थीं । इसके आन्तरिक (भीतरी) भाग में उत्कृष्ट लता वन था जो कि विविध प्रकार के वृक्ष, लता तथा सर्व ऋतुओं के पुष्पों से सुशोभित था । उस लता वन में इन्द्रों के लिए मनोहर क्रीडा पर्वत थे, विश्राम हेतु लता भवन थे जिनके भीतर शैय्याएँ बिछी हुई थीं । स्थान-स्थान पर चन्द्रकान्त मणियों की शिलाएँ पड़ी हुई थीं । उस लता वन से आगे मार्ग से हटकर प्रथम कोट था, जो कि बहुत उत्तुंग, दैदीप्यमान व सुवर्णमय था । वह कोट ऊपर से नीचे तक कहीं तो मुक्ताओं की पंक्तियों से अलंकृत था, कहीं विद्रमों से सुशोभित था, कहीं पर नील मणियों के कारण नवीन मेघों के समतुल्य प्रतीत होता था, तो कहीं पर लाल मणियों से इन्द्रगोप के समकक्ष वर्षा ऋतु में उत्पन्न होनेवाला रक्तवर्णी पशु (लाल जानवर) सदृश मनोहर प्रतीत होता था, कहीं विद्युतप्रभा (बिजली कड़कने) के कारण से पीत (पीला) परिलक्षित होता था । इस प्रकार भव्य जीवों के मध्य में विराजमान अष्ट प्रातिहार्यों से शोभायमान एवं समस्त ऐश्वर्यमय भगवान श्री शान्तिनाथ ऐसे उत्तम परिलक्षित होते थे मानो साक्षात तेज के पुन्ज ही हों ।

श्री शांतिनाथ पुराण

अथानन्तर-इन्द्रादिक देवों ने कुबेर के द्वारा निर्मित अत्यन्त मनोज्ञ तथा त्रिभुवन की समस्त ऋद्धियों के समूह के समतुल्य उस समवशरण को जैसे ही दूर से देखा, तब श्रद्धा से गद्गद् होकर उन्होंने 'जय-जयकार' की, उसकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं । तत्पश्चात् भगवान के दर्शन करने के निमित्त वे अत्यन्त प्रसन्नता से समवशरण से प्रविष्ट हुए । समवशरण में प्रवेश कर भगवान का दर्शन करते ही उनके हृदय में विभिन्न शंकाएं (कल्पनाएँ) उठने लगीं-'क्या यह पुण्य-परमाणुओं का मूर्तिमान पुन्ज है या केवलान रूपी श्रेष्ठ ज्योति ही बाहर प्रकट हो रही (निकल आयी) है ? क्या यह तीर्थंकर का प्रताप है या तेज की निधि है ? क्या यह यश की राशि है या साक्षात् तीन लोक के नाथ भगवान शान्तिनाथ ही हैं ?' इस प्रकार स्वयं तर्कवितर्क करते हुए सौधर्म इन्द्र ने समस्त इन्द्रगणों, देवगणों एवं देवियों के संग गणधरों से आवृत्त (घिरे हुए) चतुर्मुख रूप में विराजमान भगवान श्री शांतिनाथ के दर्शन किए । शक्ति एवं राग के वशीभूत स्वर्गों के इन्द्रों ने मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा से देव-देवियों के संग हाथ जोड़ कर मस्तक से लगाये-लगाये उन जगत्गुरु की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, मुकुट से सुशोभित अपने मस्तक को नवा कर उन्हें प्रणाम किया एवं भक्तिपूर्वक उनकी पूजा की । बारम्बार उन्हें नमस्कार किया एवं तदुपरांत अपने हृदय को भगवान के गुणों में अनुरक्त कर अपने-अपने हाथ जोड़ कर मस्तक पर रक्खे । तदनन्तर उन इन्द्रों ने भक्ति के भार से ही मानो अपना मस्तक नवाया एवं एक सौ आठ सार्थक नामों से भगवान की स्तुति की एवं निवेदन किया-

'हे नाथ ! इस स्तुति के फल से परलोक में तो हमें आप की समस्त विभूतियाँ प्राप्त हों ही, परन्तु इहलोक में भी रत्नत्रय की प्राप्ति शीघ्र हो । हे देवाधिदेव ! हे गणधरदेव ! हम आप के चरणकमलों में श्रद्धापूर्वक नमस्कार करते हैं । आप ज्ञान रूपी समुद्र में पारंगत हैं, आप तीनों लोकों में पूज्य हैं, आप सर्वदर्शी हैं, जिन हैं, सुख रूपी समुद्र के मध्य में विराजमान हैं, अनन्त वीर्य को धारण करनेवाले हैं एवं आपही तीनों लोकों को उत्तीर्ण (पार) कराने में सक्षम हैं, चतुर हैं । हे अद्वितीय देव ! आप इस संसार-चक्र से हमारी रक्षा कीजिए ।' इस प्रकार इन्द्रों ने अत्यन्त आनन्द से भगवान के सम्मुख खड़े होकर उनकी स्तुति की, मस्तक नवाकर उन्हें बारम्बार नमस्कार किया एवं तदुपरांत अपने-अपने योग्य स्थान में जा विराजमान हुए । समवशरण की चारों दिशाओं में चार मार्ग थे । उन मार्गों के अतिरिक्त शेष जो चार

कोण या खण्ड थे, उनमें प्रत्येक खण्ड में तीन-तीन के योग से कुल मिला कर द्वादश (बारह) कक्ष (कोठे) थे। उनमें पूर्व दिशा के प्रथम कक्ष (कोठे) में मुनिराज थे, द्वितीय में कल्पवासिनी देवियाँ थी, तृतीय में आर्यिका एवं श्राविकायें थीं, चतुर्थ में ज्योतिषी देवों की देवांगनायें थीं, पंचम में व्यन्तरी देवियाँ थीं, षष्ठ में भवनवासिनी देवियाँ थीं, सप्तम में भवनवासी देव थे, अष्टम में व्यन्तर देव थे, नवम में ज्योतिषी देव थे, दशम में कल्पवासी देव थे, एकादश में मनुष्य थे एवं द्वादश में पशुगण थे। इस प्रकार अनुक्रम से ये प्राणी बैठे हुए थे। यह द्वादश प्रकार का संघ तत्वों के श्रवण की अभिलाषा रखता है, यह जानकर गणधर देव (बुद्धिमान चक्रायुध) उठे एवं भगवान के सम्मुख करबद्ध खड़े होकर तत्व जिज्ञासा के अभिप्राय से मनोहर वाणी में भगवान की स्तुति करने लगे-'हे देव ! आप तीनों लोकों के स्वामी हैं, गुरुओं के भी महागुरु हैं, आप दुःख से त्रस्त प्राणियों के सरंक्षक हैं एवं आप ही सज्जनों के लिये धर्मोपदेशक हैं। हे स्वामिन् ! ज्ञानावरण कर्म नष्ट होने से लोक-अलोक में विस्तीर्ण (फैली हुई) तथा समस्त तत्वों को प्रकाशित करनेवाली आपकी ज्ञान रूपी ज्योति आज पूर्ण रूप से प्रकाशमान हो रही है। हे जगतगुरु ! आपका केवलदर्शन लोकाकाश-अलोकाकाश दोनों में व्याप्त होकर अनन्त पदार्थों को हस्तरेखा के समतुल्य प्रखर उद्भासित कर रहा है। हे जिनेन्द्र ! अन्तराय कर्म के नष्ट होने से प्रगट हुआ आपका अनन्त महावीर्य समस्त लोक का उल्लंघन कर विराजमान है। हे नाथ ! आपका अनन्त सुख भी बड़ा ही विचित्र है। वह आत्मा से उत्पन्न हुआ है, अन्त रहित है, अव्याबाध (समस्त प्रकार की बाधाओं से रहित) है, अतीन्द्रिय है एवं अत्यन्त निर्मल है। हे देव ! आपके अनुग्रह से भव्य जीव आपका धर्मोपदेश सुनकर तपश्चरण के द्वारा कर्मों को नष्ट कर शाश्वत मोक्ष पद में विराजमान होते हैं। हे प्रभो ! जिस प्रकार जलपोत के बिना समुद्र से पार होना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार हे यतीश ! आपके बिना इस संसार रूपी कूप से मनुष्यों को बाहर कोई नहीं निकाल सकता। हे नाथ ! इन भव्य (आत्मा) रूपी खेतों के मुख पाप रूपी सूर्य की उष्णता से मुरझा गये हैं। इनसे फल प्राप्त करने के लिये धर्मोपदेश रूपी अमृत से इनका सिंचन आप ही कर सकते हैं। हे देव ! जिस प्रकार पिपासा से तृषित चातक मेघ वर्षण का जल ही चाहता है, उसी प्रकार ये भव्य जीव मोक्ष प्राप्त करने हेतु आप से दिव्य ध्वनि रूपी अमृत चाहता है। हे स्वामिन् ! जब तक आपके ज्ञान रूपी सूर्य का उदय नहीं होता, तब तक मनुष्यों के हृदय में प्रशस्त

श्री शांतिनाथ पुराण

मोक्ष मार्ग को अवरुद्ध करनेवाला अज्ञान रूप अन्धकार यथावत बना ही रहता है । हे विभो ! आप बिना कारण ही जगत के बन्धु हैं । आप लोक के अद्वितीय पितामह हैं एवं आप ही संसार मात्र को सन्तुष्ट करने के लिए जल वर्षण करनेवाले मेघ के समरूप हैं । हे तीर्थेश ! यद्यपि जगत ही आश्चर्यचकित कर देनेवाली समस्त विभूतियाँ आप में विद्यमान हैं, तथापि आप अपनी काया से भी पूर्णतया निस्पृह हैं । हे देव ! यह रहस्य अत्यन्त आश्चर्यजनक एवं अद्भुत है । यद्यपि आप बाह्य से उपमा रहित भोगोपभोग से सुशोभित हैं तथापि अन्तरंग में वीतराग ही हैं । यह तथ्य सर्वाधिक विस्मयजनक है । हे देव ! आप ही सज्जनों पर अनुग्रह करने में प्रवीण (चतुर) हैं, इसलिए हे जगतनाथ ! मोक्ष सिद्ध करने हेतु अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा इन भव्य जीवों पर अनुग्रह कीजिए ।

हे प्रभो ! जन्म-जरा-मृत्यु आदि की ज्वाला का निवारण करने लिए यहाँ एकत्र समस्त मुमुक्षुओं की आप के वचनरूपी श्रेष्ठ अमृत का पान करने की तीव्र अभिलाषा उत्कट हो रही है । इसलिये हे तीर्थराज ! आप कृपा कर समस्त तत्वों का एवं मोक्ष के मार्ग का निरूपण कीजिए क्योंकि आप का करुणा सागर रूप प्रसिद्ध है ।' इस प्रकार स्तुति-निवेदन करने के उपरान्त नमस्कार कर गणधरदेव चक्रायुध तीर्थंकर भगवान के वचन रूपी अमृत का पान की अभिलाषा प्रकट करते हुए भक्तिपूर्वक अपने कोठे में जा विराजमान हुए । अथानन्तर-गणधरदेव द्वारा इस प्रकार निवेदन करने पर भगवान श्री शान्तिनाथ अपनी गुरु-गम्भीर वाणी में तत्वों का प्ररूपण करने के निमित्त से विस्तारपूर्वक धर्म का स्वरूप कहने लगे । भगवान श्री शान्तिनाथ की दिव्य ध्वनि खिरते समय न तो उनकी मुखमुद्रा में किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ एवं न ही जिह्वा-ओष्ठ आदि का किंचित भी हलन-चलन हुआ । जिस प्रकार किसी पर्वतीय कंदरा से गम्भीर प्रतिध्वनि प्रगट होती है, उसी प्रकार वर्णों को स्पष्ट प्रगट करनेवाली वह अद्भुत दिव्य ध्वनि भगवान के मुखारविन्द से प्रवाहित हो चली-'हे गणधर ! तुम अपने संघ के संग पूर्वोक्त वर्णित जीवादि तत्वों को, उनके भेद और पर्यायों के अनुसार क्रमानुसार श्रवण करो । जिनागम में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा एवं मोक्ष-ये सप्त तत्व निरूपित किए गए हैं । इनमें से जीव दो प्रकार का है-एक मुक्त एवं दूसरा संसारी । मुक्त जीवों में कोई भेद नहीं होता । संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं-एक त्रस एवं दूसरा स्थावर । जो अष्ट कर्मों से रहित हैं, अष्ट गुणों से सुशोभित हैं, जगतवंद्य हैं,

सुखसागर में निमग्न हैं, एवं लोक के ऊपर निवास करते हैं, वे सिद्ध या मुक्त कहलाते हैं । पृथ्वीकायिक सप्त लक्ष, जलकायिक सप्त लक्ष, अग्निकायिक सप्त लक्ष, वायुकायिक सप्त लक्ष, नित्य निगोद सप्त लक्ष, इतर निगोद सप्त लक्ष, वनस्पति दश लक्ष, द्विइन्द्रिय दो लक्ष, त्रिइन्द्रिय दो लक्ष, चतुरइन्द्रिय दो लक्ष, नारकी चार लक्ष, तिर्यन्च चार लक्ष, देव चार लक्ष एवं मनुष्य चौदह लक्ष-ये चौरासी लक्ष जीवों की जातियाँ हैं । आयु, काया, आदि के भेद से आगम में इन जीवों के अनेक भेद किए गए हैं । इसी प्रकार समस्त जीवों के कुलों की संख्या एक सौ साढ़े निन्यानवे कोटि बतलाई गई है । पाँच इन्द्रियों, मन, वचन, काय, आयु एवं श्वासोच्छ्वास-ये दश प्राण संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के होते हैं । इसी प्रकार मन के बिना असैनी पंचेन्द्रिय के नौ, मन एवं कर्ण इन्द्रिय के बिना चतुरेन्द्रिय के आठ, मन-कर्ण एवं चक्षुइन्द्रिय के बिना त्रिइन्द्रिय के सात; मन-कर्ण-चक्षु एवं नासिका के बिना दो इन्द्रिय जीवों के छः एवं मन-कर्ण-चक्षु-रसना-वचन तथा बल के बिना एकेन्द्रिय के शेष चार प्राण होते हैं । ये प्राण ही जीवों के जीवन के कारण हैं । आहार, काया, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा एवं मन-ये छः पर्याप्तियाँ कहलाती हैं । मुनिराज ने संज्ञी (सैनी) पंचेन्द्रिय के ये छहों पर्याप्तियाँ वर्णित की हैं । द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय तथा असैनी पंचेन्द्रिय के मन बिना पाँच पर्याप्ति वर्णित हैं । एकेन्द्रिय जीवों के भाषा तथा मन के बिना चार पर्याप्ति श्री जिनेन्द्रदेव ने निर्धारित की हैं । मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, सम्यग्दृष्टी, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमतसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशांत कषाय, क्षीण कषाय एवं संयोग केवली-ये चतुर्दश गुणस्थान मोक्ष की सीढ़ियाँ हैं तथा गुणों की स्थिति के भेद से भव्य जीवों के गुणों के वर्द्धक हैं । गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी एवं आहार-ये चतुर्दश मार्गणाएँ कहलाती हैं । इनके द्वारा जीवों के ज्ञाता विद्वान उन (जीवों) की पहिचान करते हैं । सैनी पंचेन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, एकेन्द्रिय सूक्ष्म एवं एकेन्द्रिय बादर-ये सप्त, पर्याप्ति एवं अपर्याप्ति के भेद से चतुर्दश जीव-समास या जीवों के चतुर्दश भेद कहलाते हैं । ये चर्तुदश भेद जीवों की एकेन्द्रिय आदि जातियों से उत्पन्न होते हैं । जो संसार में पूर्व (पहिले) भी जीवित था, वर्तमान (अब) में भी जीवित है एवं आगे भी सर्वदा जीवित रहेगा, उसको जीव कहते हैं; वह नित्य है तथा अनित्य भी है । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतिज्ञान,

कुअवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, चक्षुज्ञान, अचक्षुदर्शन एवं अवधिदर्शन-ये सभी समस्त संसारी जीवों के रहनेवाले वैभाविक गुण हैं तथा केवलज्ञान एवं केवलदर्शन-ये दो स्वाभाविक गुण हैं। व्यवहारनय से यह जीव कर्मों का कर्ता है तथा कर्मानुसार अनेक प्रकार के सुख- दुःख रूपी फलों का भोक्ता है। निश्चयनय से न तो यह कर्मों का कर्ता है एवं न उनके फलों का भोक्ता है। व्यवहारनय से यह जीव मूर्त है एवं सदैव संसार परिभ्रमण किया करता है, परन्तु निश्चयनय से यह जीव अमूर्त है तथा संसार में परिभ्रमण नहीं करता है, निश्चयनय से यह जीव शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। इस जीव के प्रदेशों में दीपक के प्रकाश के सदृश संकुचित एवं विस्तृत होने की शक्ति है, इसलिये यह सप्त समुद्घातों के बिना सदैव कर्मानुसार प्राप्त हुए लघु या विराट काया (छोटे-बड़े शरीर) के प्रमाण के ही समान रहता है। विद्वानों ने पर्याय की अपेक्षा से जीव को उत्पाद एवं व्यय-स्वरूप भी बतलाया है, परन्तु निश्चयनय से यह सदा असंख्यात प्रदेशी है। कर्मों के नष्ट हो जाने पर ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने के कारण यह जीव ऊपर को ही जाता है; परन्तु कर्म सहित होने के कारण पराधीन होकर चारों गतियों में परिभ्रमण करने के लिए समस्त दिशाओं में गमन करता है। मोक्ष की अभिलाषा रखनेवाले जीवों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए राग-द्वेष आदि सर्व विकारों को नष्ट कर यह जीव द्रव्य ही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) होता है। अन्य संसारी जीव संसार में परिभ्रमण करनेवाले जीव को उपादेय नहीं समझते। इसलिये ज्ञानी पुरुषों को अपने ज्ञान के द्वारा तथा तपश्चरण एवं रत्नत्रय रूपी शस्त्रों के द्वारा कर्मों को नष्ट कर शीघ्र ही अपनी आत्मा को इस काया से पृथक कर लेना चाहिये।' इस प्रकार जीव तत्व के व्याख्यान से समस्त सभासदों को आनन्द उत्पन्न करा कर भगवान पुनः अजीव तत्वों का व्याख्यान करने लगे-'बुद्धिमानों ने अंगपूर्वों में धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं पुद्गल-ये पंच प्रकार के अजीव तत्व वर्णित किए हैं। मत्स्यों के गमन (चलने) में जल सहायक होता है, तो जल को धर्म द्रव्य कहते हैं। यह धर्म द्रव्य नित्य है, अमूर्त है एवं गुणी है। जो जीवादि द्रव्यों को स्थान दे, वह आकाश है। लोक-अलोक के भेद से उसके दो भेद हैं; वह अमूर्त है, नित्य हैं एवं महान् या व्यापक है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म एवं काल-ये पंच द्रव्य जितने आकाश में विद्यमान हैं, उसको लोकाकाश कहते हैं एवं उससे आगे चतुर्दिक जो अनन्त आकाश का विस्तार हुआ है, उसको अलोकाकाश कहते हैं। जो द्रव्यों के नवीन रूप (वर्तमान) से प्राचीन रूप (भूतकाल) में परिवर्तन होने के कारण है

एवं जो घड़ी-घण्टा-दिन रूपी है, उसको व्यवहार काल कहते हैं । आकाश के एक-एक प्रदेश पर काल का एक-एक परमाणु रत्नों की राशि के समतुल्य पृथक-पृथक स्थित है, उन समस्त असंख्यात कालाणुओं को निश्चय काल कहते हैं । धर्म-अधर्म, जीव एवं लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं, पुद्गल के प्रदेश अनेक प्रकार हैं, संख्यात-असंख्यात अनन्त हैं; परन्तु काल का एक ही परमाणु है । इसलिये काल के अतिरिक्त शेष को द्रव्यकाय कहते हैं । उन्हीं पाँचों को पन्चास्तिकाय कहते हैं-जो स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण सहित हैं । इसलिये जो मूर्त्त है, उसको पुद्गल कहते हैं । इस प्रकार तीर्थंकर भगवान पाँचों अजीव तत्वों का पृथक-पृथक निरूपण कर पुनः बुद्धिमानों के लिए शेष तत्वों का निरूपण करने लगे-'आत्मा के जिन भावों से कर्म आते हैं, उनको भावास्रव कहते हैं एवं कर्मों के आस्रव (आने) को द्रव्यास्रव कहते हैं । पंच मिथ्यात्व, पंच अव्रत, पंद्रह प्रमाद, पच्चीस कषाय एवं पद्रह योग-ये समस्त भावास्रव के भेद हैं । जिनागम में आत्मकल्याण हेतु इन समस्त को त्याज्य वर्णित किया है । सर्वप्रथम शुभ धर्मध्यान से पाप कर्मों के आस्रव का त्याग करना चाहिये एवं तत्पश्चात् मुनियों को शुक्लध्यान के द्वारा शुभ कर्मों के आस्रव का भी त्याग करना चाहिये । जीवों के जिन रागादिक परिणामों से प्रति समय कर्म बँधते रहते हैं, उसे भगवान ने भाव-बन्ध बतलाया है । जीव के प्रदेश एवं कर्म परमाणुओं का परस्पर जो सम्बन्ध होता रहता है, उसको द्रव्य-बन्ध कहते हैं । इस द्रव्य-बन्ध को शास्त्रों में अनेक प्रकार से दुःख प्रदायक वर्णित किया गया है । यह बन्ध चार प्रकार है-प्रकृति-बन्ध, प्रदेश-बन्ध, स्थिति-बन्ध एवं अनुभाग-बन्ध । इनमें से प्रकृति-बन्ध एवं प्रदेश-बन्ध जीवों की मन-वचन-काय की क्रिया से होता है एवं स्थिति-बन्ध तथा अनुभाग-बन्ध कषायों से होता है । यद्यपि पाप कर्मों की अपेक्षा पुण्य बन्ध ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि वह सुख प्रदायक है, परन्तु वह सुख वास्तविक सुख नहीं है । इसलिये ज्ञानियों को वह भी त्याग करने योग्य ही है । जो आत्मा का परिणाम कर्मों के आस्रव को निषेधवाला है, उसको भाव सम्वर कहते हैं एवं जो कर्मों का निषिद्ध हो जाना है (नहीं आना है) उसको द्रव्य सम्वर कहते हैं । पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षायें, द्वादश परीषह जय एवं पंच प्रकार का संयम या चारित्र-ये समस्त भाव सम्वर के कारण हैं । इसलिये मन एवं इन्द्रियों को कच्छप के समतुल्य अपने वश में कर मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक चारित्र पालन कर सम्वर धारण करना चाहिये । निर्जरा दो प्रकार की है-एक

सविपाक एवं अन्य अविपाक। सविपाक निर्जरा कर्मों के उदय से होती है एवं अविपाक निर्जरा तपश्चरण से होती है। सविपाक निर्जरा बिना प्रयत्न के ही होती है एवं समस्त जीवों के होती है, इसलिये वह त्याज्य है तथा अन्य अविपाक निर्जरा मुनियों को ही होती है, मोक्ष प्रदाता है; इसलिये वह ग्रहण करने योग्य है। रत्नत्रय के द्वारा प्रयत्नपूर्वक जो जीव-पुद्गल का सम्बन्ध पृथक हो जाता है (समस्त कर्मों का नाश हो जाता है) उसको मोक्ष कहते हैं। वह मोक्ष अनन्त सुख प्रदायक है। जिस प्रकार पग (पैर) से शीश (मस्तक) तक बंधनयुक्त प्राणी को मुक्तकर देने से उसे अपार सुख अनुभूत होता है, उसी प्रकार कर्मों का विनाश होने से सज्जनों को अनन्त सुख प्राप्त होता है। इसलिये चतुर पुरुषों को अनन्त सुख प्राप्त करने के लिए विशेष प्रयत्न से कठिन तपश्चरण का पालन कर अति शीघ्र चिरस्थायी मोक्ष की सिद्धि कर लेनी चाहिये।' इस प्रकार भगवान श्री शान्तिनाथ ने सभासदों को सम्यग्दर्शन विशुद्ध करने के लिए विस्तार पूर्वक नेदों के संग उपरोक्त वर्णन के अनुसार सप्त तत्वों का निरूपण किया। इन्हीं सप्त तत्वों में पुण्य-पाप के योग से पदार्थ हो जाते हैं। ये चेतन एवं अचेतन रूपी पदार्थ मनुष्यों के सम्यक्ज्ञान की वृद्धि (पुष्टि) करनेवाले हैं। इसके उपरान्त भगवान श्री शान्तिनाथ ने समस्त जीवों का उपकार करने के निमित्त उस सभा में पुण्य-पाप के कुछ कारण स्पष्ट किए।

नरक में उत्पन्न होना, क्षुद्र पशु-पक्षियों में उत्पन्न होना, नेत्रहीन-बधिर होना, विकलांग (अंग-उपांग-रहित) होना, रुग्ण व कुशील (व्यभिचारी) होना, निम्न जाति व निम्न कुल में जन्म लेना, कुरूपी व समस्त को अप्रिय लगनेवाला होना, कुमरण होना, दरिद्री या निन्द्य या कातर अथवा नीच होना, कुमाता या कुपिता या दुष्टा स्त्री अथवा शत्रु सम भ्राता, कुपुत्र या कुशील कन्या या कपटी मित्र या दुष्ट सेवक अथवा अशुभ भवन आदि अनिष्टकारी पदार्थों का संयोग होना, अशुभ परिणाम होना, मुख से दुर्वचन उच्चरित करना, भ्राता-बन्धु आदि इष्ट पदार्थों का वियोग होना, चन्चलता बनी रहना एवं अशुभ काया प्राप्त होना आदि समस्त पाप के निमित्त जीवों को प्राप्त होते हैं, संसार में उन समस्त को पापों का ही फल समझना चाहिए।' तीर्थंकर भगवान श्री शान्तिनाथ ने इस प्रकार पाप का फल वर्णित कर तत्पश्चात् पुण्य के कारणभूत उत्तम आचरणों का वर्णन किया। सर्वप्रथम जो पाप के कारण उल्लेखित हैं, उनके विपरीत कार्य करना, व्रतों का पालन करना, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों का पालन करना, तपश्चरण-नियम-यम पालन करना, महापात्रों को चार प्रकार का दान देना, भगवान श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करना, धर्मोपदेश देना, संवेग वैराग्य आदि का चिन्तवन करना, कायोत्सर्ग धारण करना, शुभ ध्यान करना,

ध्यान-अध्ययन आदि कार्य करना, पन्च-परमेष्ठियों के मंत्रों का जाप करना, भगवान श्री जिनेन्द्रदेव की भक्ति करना, पापों के भय से सदाचार का पालन करना, विनयपूर्वक मुनियों की सेवा करना एवं धर्मात्माओं के संग वात्सल्य भाव धारण करना इत्यादि कार्यों से तथा अन्य भी ऐसे ही कार्यों से इस संसार में प्राणियों को तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि की विभूति प्रदायक एवं सुख का सागर महापुण्य उत्पन्न होता है । अधिक कथन से क्या लाभ ? पुण्य-पाप के बिना इस संसार में न तो कोई सुख प्रदान कर सकता है एवं न कोई दुःख प्रदान कर सकता है । जो बुद्धिमान अपने हृदय में उपरोक्त समस्त पदार्थों का श्रद्धान करता है, वह मोक्ष महल के प्रथम सोपान के समतुल्य सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है । जो मनुष्य ज्ञान स्वरूप तथा अत्यन्त निर्मल अपनी शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करता है, उसको उसी भव में मोक्ष प्राप्त करवा देनेवाला निश्चय सम्यग्दर्शन हो जाता है । जैसे दर्पण पर प्रतिबिम्बित मुक्ति-रमणी के आनन (मुख) का पूर्ण ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार जो विद्वान इन सप्त तत्वों को यथार्थ रीति से जानता है, वह महाज्ञान प्राप्त करता है । जो मनुष्य जीव-अजीव आदि तत्वों का ज्ञान प्राप्त कर समस्त प्राणियों पर करुणा (दया) भाव रखता है, समग्र परिग्रहों तथा समस्त प्रमादों का त्याग करता है एवं आत्मा को सिद्धि के लिए यत्नाचारपूर्वक जिनमुद्रा धारण करता है, वह मुक्ति रूपी रमणी के चित्त को प्रसन्न करनेवाला त्रयोदश प्रकार का चारित्र धारण करता है । जो बुद्धिमान अपनी आत्मा का ही ध्यान करता है, उसके निश्चय चारित्र प्राप्त होता है । विद्वान पुरुष प्रथम तो रत्नत्रय के द्वारा तीनों लोकों में उत्पन्न हुए सुख को प्राप्त कर तीर्थंकर की महाविभूति को प्राप्त होते हैं तथा अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करते हैं। मुनिराजगण घातिया कर्मों को विनष्ट कर तथा देवों के द्वारा पूज्य होकर उसी भव में मुक्ति रूपी रमणी के भोक्ता हो जाते हैं । फिर निश्चय रत्नत्रय के आराधन से अघातिया कर्मों को विनष्टकर जन्म-मरण आदि से रहित होकर अनन्त सुख में लीन हो जाते हैं । जो बुद्धिमान अतीत में मोक्ष गये हैं, वर्तमान में जा रहे हैं या भविष्य में जायेंगे, वे समस्त केवल निश्चय तथा व्यवहार दोनों प्रकार के रत्नत्रय के आराधन से ही गये हैं, जा रहे हैं तथा उन्हीं के आराधन से जायेंगे तथा अन्य किसी की आराधना से कोई जीव कभी मुक्त नहीं हो सकता ।' इस प्रकार तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ ने भव्य जीवों को मोक्ष प्राप्त कराने के लिए साध्य-साधन के रूप से दोनों प्रकार के रत्नत्रय का निरूपण किया । तदुपरान्त भगवान श्री शान्तिनाथ ने भव्य जीवों का उपकार करने के लिए विस्तारपूर्वक सम्पूर्ण श्रावकाचार का निरूपण किया तथा मुनियों के आचार का निरूपण भी विशेष विस्तार से किया । तत्पश्चात् भगवान श्री जिनेन्द्रदेव ने द्रव्य पर्यायों से परिपूर्ण सम्पूर्ण

लोकाकाश तथा अलोकाकाश का निरूपण किया एवं ऊर्ध्व-मध्य-अधोलोक के भेद से लोक के भेद वर्णित किए। तदनन्तर हानि-लाभ को सूचित करनेवाले अवसर्पिणी काल के द्वादश भेद का वर्णन किया तथा सुख-दुःख प्रदायक भोगभूमि एवं कर्मभूमि का स्वरूप निरूपित किया । तीर्थंकर, बलभद्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण एवं कामदेव आदि के चारित्र (पुराण) का वर्णन किया एवं चरम शरीरियों के चरित्र निरूपण किए । भगवान ने इस काल के चौबीस तीर्थंकर आदि के कल्याणक भी विस्तार से वर्णित किए, उनके कारण एवं उनसे होनेवाले सुख भी निरूपित किए तथा उन समग्र की आयु-काया-नाम आदि का विशेष उल्लेख किया ।

उस समय कितने ही निकट भव्य जीवों ने दिव्य ध्वनि के द्वारा धर्म का स्वरूप ज्ञात कर वैराग्य धारणपूर्वक दीक्षा धारण कर ली थी । तदनन्तर अनेक ऋद्धियों तथा चारों ज्ञानों को धारण करनेवाले प्रकाण्ड विद्वान एवं प्रमुख गणधर चक्रायुध ने समस्त संसार का उपकार करने के अभिप्राय से उसी समय भगवान श्री जिनेन्द्रदेव से अर्थ ज्ञात कर पद्य रूप में विसतारपूर्वक द्वादश अंगों की विवेचना रचित की । जब भगवान श्री जिनेन्द्रदेव की दिव्य ध्वनि शान्त (मौन) हो गयी तब समस्त शान्त हो गये, वायु रहित समुद्र के समतुल्य समस्त निश्चल हो गये । सूक्ष्म बुद्धि को धारण करनेवाला सौधर्म इन्द्र उठा, तीर्थंकर भगवान के सम्मुख करबद्ध खड़े होकर समस्त जीवों का उपकार करने के अभिप्राय से भगवान से विहार करने की प्रार्थना करने लगा । भव्य जीवों को सम्बोधन आदि से उत्पन्न हुए अनेक गुणों को प्राप्त कर अत्यन्त सावधानी पूर्वक वह सौधर्म इन्द्र श्री जिनेन्द्रदेव की स्तुति करने लगा-'हे स्वामिन् ! आप तीनों लोकों के भव्य जीवों को धर्मोपदेश देने में समर्थ हैं । संसार रूपी समुद्र से उत्तीर्ण करवाने में समर्थ हैं एवं मेघ के समकक्ष वृष्टि दान कर सम्पूर्ण जीवों को तृप्त करने में समर्थ हैं । जिस प्रकार समस्त देशों में मेघ वर्षण के बिना संसार को तृप्त करनेवाले धान्यों की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती, उसी प्रकार हे नाथ ! आपके धर्मोपदेश रूपी अमृत की वर्षा के बिना भव्य जीवों को स्वर्ग-मोक्ष के सुख प्रदाता धर्म की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती । हे देव ! आज सज्जनों का मोह एवं मिथ्यात्व का नाश करने के लिए तथा सन्मार्ग का उपदेश देने के लिए उपयुक्त समय आ गया है । हे देव ! आपके धर्मोपदेश को सुनकर पशु भी व्रतों को धारण कर स्वर्ग पहुँचते हैं, फिर भला भव्य जीवों का तो कहना ही क्या है ? इसलिये हे प्रभो ! अब भव्य जीवों को धर्मोपदेश देने के लिए आप उद्योग कीजिये । आपके उद्यमी होने पर आज की विजय को सिद्ध करनेवाला यह धर्मचक्र प्रवर्तन हेतु प्रस्तुत है । भगवान श्री शान्तिनाथ जगत को धर्मोपदेश देने के लिये स्वयं उद्यत थे तथापि भक्ति परवश

सौधर्म इन्द्र ने उनकी स्तुति की । उनसे विहार करने के लिए भक्तिपूर्वक भूमिका बनायी, उनके गुणों की प्रशंसा की, उन्हें नमस्कार किया, जगत् में आनन्द उत्पन्न किया एवं इस प्रकार वह इन्द्र अपने को धन्य-धन्य मानने लगा । तदनन्तर तीनों लोकों के नाथ भगवान श्री शान्तिनाथ समस्त संघ के संग धर्मचक्र को सम्मुख (आगे रख) कर धर्मविजय (विहार करने) का उद्योग करने लगे । भगवान श्री शान्तिनाथ के विहार करते समय कोटि-कोटि देवगण उनके संग गमन कर रहे थे एवं 'जय-जय' निनाद (घोषणा) कर रहे थे, जिसके तुमुल कोलाहल से समस्त वायुमंडल प्रचण्ड गुंजित हो रहा था ।

इस प्रकार भगवान श्री शान्तिनाथ सूर्य के समतुल्य कामना रहित वृत्ति को धारण करते हुए समग्र देवों के संग विहार करने लगे । भगवान श्री शान्तिनाथ जिस प्रदेश में भी विहार करते थे, वहाँ शत-शत योजन तक सुभिक्ष रहता था एवं ईति-भीति समग्र नष्ट हो जाती थी । समस्त जीवों को धर्मोपदेश देने के लिए भगवान श्री शान्तिनाथ व्योम पथ से ही विहार करते थे एवं धर्म रूपी अमृत की महावृष्टि कर भव्य रूपी धान्यों का सिंचन करते थे । भगवान श्री शान्तिनाथ की शान्त अवस्था के प्रभाव से हिरण, व्याघ्र, सर्प, नकुल आदि जाति विरोधी जीव भी एक संग रहते थे एवं कोई किसी का वध नहीं कर सकता था । भगवान श्री शान्तिनाथ का मोहनीय कर्म नष्ट हो गया था, इसलिये उनके कवलाहार नहीं था । वे नोकर्म वर्गणाओं से ही तृप्त थे एवं शुद्ध आत्मा से उत्पन्न हुए अनन्त सुख से सुखी थे । भगवान के वेदनीय आदि कर्म भी विदग्ध (जली) हुई रज्जू (रस्सी) के सदृश निरुपयोगी थे, इसलिये भगवान को तिर्यन्च या देवों द्वारा कृत किसी प्रकार का उपसर्ग नहीं होता था । देव, मनुष्य पशु, आदि समग्र प्राणी जगत्गुरु भगवान को सर्व दिशाओं में अपनी ओर ही मुख किये हुए देखते थे अर्थात् तीर्थंकर भगवान चतुर्मुख विराजमान थे, इसलिये उनके दर्शन चारों दिशाओं में होते थे । भगवान के समीप हिरण, व्याघ्र, गज, सिंह आदि जाति विरोधी जीवों में भी परस्पर मैत्री भाव था । भगवान की पीठिका के समीप की भूमि पर देवों के लगाये हुए मनोहर वृक्ष के जो कि समग्र ऋतुओं के फल-पुष्प आदि के भार से नम्र (झुके हुए थे) । उस समवशरण की भूमि दर्पण के समकक्ष निर्मल थी, अत्यन्त मनोहर थी, सारभूत दर्शनीय थी एवं समस्त प्रकार के उपद्रवों से रहित थी । संसार को धर्मोपदेश देने हेतु भगवान शान्तिनाथ को विहार करते हुए देखकर सुखद, शीतल एवं सुगन्धित वायु मन्द-मन्द प्रवाहित हो रही थी । भगवान का चरण जहाँ-जहाँ पर पड़ता था, वहीं पर देवगण उत्तम केशर से सुशोभित दो सौ पच्चीस कमलों की रचना कर देते थे । तीर्थंकर भगवान के समीपस्थ समग्र भूमि देवों के अतिशय

से, फलों से नम्रीभूत वृक्षों से, चावल आदि समस्त धान्यों से अत्यन्त सुशोभित परिलक्षित हो रही थी। भगवान के समवशरण में शरद् ऋतु में सरोवर की छटा के समतुल्य आकाश निर्मल दृष्टिगोचर हो रहा था। देवगण भक्तिपूर्वक दर्पण आदि मनोहर अष्टमंगल द्रव्य भगवान के सम्मुख लिये खड़े थे। घातिया कर्मों को नष्ट करनेवाले भगवान शान्तिनाथ देवों द्वारा प्रकट किये हुए एवं महाऋद्धि को धारण करनेवाले समग्र चतुर्दश अतिशयों से अलंकृत थे। अष्ट प्रातिहार्यों से सुशोभित भगवान जब गगन में विहार करते थे, तब उनके चतुर्दिक कोटि-कोटि ध्वजाएँ फहराती थीं। उस समय अनेकों नगाड़ों को बजाया जा रहा था, जिनसे समस्त दिशाएँ गुन्जित हो रही थीं। यह गुरु गम्भीर प्रचण्ड निनाद अत्यन्त आह्लादकारी था एवं ऐसा प्रतीत होता था मानो कर्मरूप शत्रुओं को ही ललकार रहा हो। गगन रूपी रंगभूमि में अप्सरायें नृत्य कर रही थीं, गायक देव एवं विद्याधर वीणावादन की लय पर मधुर गीत गा रहे थे। देवगण परम उत्साह से 'भगवान की जय हो, भगवान की जय हो' आदि तुमुल नाद कर रहे थे एवं इन्द्रादिक भी अपने-अपने कण्ठ से 'जय-जय' शब्दोच्चारण कर रहे थे। इस प्रकार जगत्पति भगवान श्री शान्तिनाथ समस्त संसार को आनन्दित करते हुए एवं अपने वचन रूपी अमृत से समग्र श्रोताओं को तृप्त करते हुए सम्पूर्ण पृथ्वी पर विहार करने लगे। दिव्य मूर्ति को धारण करनेवाले भगवान श्री शान्तिनाथ ने सूर्य रूपी मुख से निर्गत अपनी वचन रूपी किरणों से मिथ्यात्व रूपी अंधकार के समूह को नष्ट कर दिया एवं समस्त संसार को निर्मल ज्ञान से आलोकित (उद्भासित) कर दिया।

तीर्थंकर भगवान के द्वादश सभाओं के संग सन्मार्ग (मोक्ष मार्ग) का उपदेश देने के अभिप्राय से अवन्ती, कुरु, काशी, कोशल, अंग, बग, कलिंग, मगध, सद्म, पुंड्र विदर्भ, मद्र मालव एवं पान्चाल आदि अनेक देशों में विहार किया। समस्त अंगों के ज्ञाता एवं अनेक प्रकार की ऋद्धियों को धारण करनेवाले चक्रायुध समेत छत्तीस गणधर तीर्थंकर के चरण कमलों में नमस्कार करते थे। ज्ञान रूपी नेत्रों को धारण करनेवाले एवं समस्त प्राणियों का हित करने में तत्पर एकादश अंग चतुर्दश पूर्व रूपी महासागर के पारंगत अर्थात् एकादश अंग चतुर्दश पूर्व के पाठी ८०० श्रुतकेवली थे। इसी प्रकार ध्यान एवं अध्ययन में प्रवृत्त शिक्षकों की संख्या इकतालीस सहस्र आठ शतक थी। पदार्थों को प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों रीतियों से जाननेवाले तीन सहस्र अवधिज्ञानी मुनि भक्तिपूर्वक भगवान के चरण कमलों को नमस्कार करते थे। इस प्रकार द्वादश सभाओं के संग सद्धर्म का उपदेश देते तथा विहार करते हुए जब भगवान की आयु मात्र एक मास शेष रह गई, तब वे श्री सम्मेदशिखर पर जा विराजमान हुए। भगवान

श्री शान्तिनाथ के केवलज्ञान का समय (सशरीर केवलज्ञान) षोडश कम पच्चीस सहस्र वर्ष समझना चाहिये। तदनन्तर जब उनकी आयु अत्यन्त स्वल्प शेष रह गई, तब मोक्ष प्राप्त करने के अभिप्राय से विहार एवं धर्मोपदेश त्याग कर भगवान श्री शान्तिनाथ वहीं पर मौन धारण कर तथा निश्चल होकर विराजमान हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने सर्वप्रथम ७२ प्रकृतियों को नष्ट कर दिया एवं तत्पश्चात् द्वितीय चरण में शेष कर्मों का नाश करने हेतु उद्यम किया एवं आदेय, मनुष्यगति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, यशःकीर्ति, पर्याप्ति, त्रस, बादर, सुभग, मनुष्यायु, उच्च गोत्र, सातावेदनीय तथा तीर्थंकर नामकर्म-ये त्रयोदश प्रकृतियाँ उसी गुणस्थान के अन्तिम समय में नष्ट कीं। इस प्रकार ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिवस भरणी नक्षत्र में रात्रिकाल के प्रथम चरण में कृतकृत्य भगवान श्री शान्तिनाथ 'अ इ उ ऋ लृ'-इन पंच लघु अक्षरों के उच्चारण काल तक अयोगी रह कर तथा समस्त कर्मों को एवं तीनों कायों (शरीरों) को नष्ट कर लोक के शिखर पर जा विराजमान हुए। भगवान श्री शान्तिनाथ समस्त बन्धनों से रहित होकर ऊर्ध्वगमन स्वभावी होने के कारण ऊर्ध्वगामी एरण्ड बीज के समान एक ही समय में लोक शिखर पर जाकर विराजमान हुए। जिनको समस्त संसार नमस्कार करता है तथा जो समस्त पदार्थों को एक संग हस्तकमलावत देखनेवाले तथा जाननेवाले हैं, ऐसे वे भगवान श्री शान्तिनाथ वहाँ पर दिव्य गुणों को प्राप्त कर उपमा रहित, चिरस्थायी, अनन्त विषयों से रहित, नित्य, केवल आत्मा से प्रगट होनेवाला, जन्म-मरण-जरा तथा हानि-वृद्धि, आदि से रहित अबाधित सुख का अनुभव करने लगे। देव-मनुष्यों को तीनों कालों में एवं तीनों लोकों में जो पूर्ण सुख प्राप्त हैं, उससे अनन्तगुणा सुख का भगवान श्री शान्तिनाथ एक ही समय में अनुभव करते थे। उसी समय उनकी अन्तिम पूजा करने की अभिलाषा से समस्त इन्द्रादिक देव आये तथा उन्होंने बड़ी भक्ति से भगवान श्री शान्तिनाथ की मोक्ष को सिद्ध करनेवाली परम पवित्र काया की पूजा की। तत्पश्चात् उस काया को बहुमूल्य पालकी में विराजमान कर चन्दन, अगुरु, कपूर आदि सुगन्धित द्रव्यों के संग अत्यन्त आदर से ले गये तथा अग्निकुमार देवों के संग इन्द्र के मुकुट से प्रगट हुई अग्नि से उस काया को शीघ्र ही पर्यायान्तर को समर्पित कर दिया अर्थात् भस्म कर दिया। उस समय उस काया की सुगन्धि से समग्र दिशायें सुगन्धित हो गई थीं। तत्पश्चात् प्रसन्न होकर समस्त देव अपने-अपने स्थान को प्रत्यावर्तन कर गये। मोक्ष अवस्था में जिनका आकार अन्तिम काया से कुछ न्यून है, जो मुक्ति रूपी रमणी के संग परम सुख का अनुभव करते हैं एवं जो समस्त संसार द्वारा वन्द्य हैं, ऐसे जिनराज श्री शान्तिनाथ भगवान की मैं उनके गुणों की प्राप्ति के अभिप्राय से अत्यन्त निर्मल भक्तिभाव से

स्तुति करता हूँ।

भगवान श्री शान्तिनाथ तीनों लोकों के भव्य प्राणियों को शान्ति प्रदान करनेवाले हैं, धार्मिकगण भगवान श्री शान्तिनाथ का आश्रय लेते हैं, भगवान शान्तिनाथ के उपदेश द्वारा ही मोक्ष सुख प्राप्त होता है। शान्ति प्राप्त करने की कामना से मैं भगवान श्री शान्तिनाथ को नमस्कार करता हूँ।

देखो ! भगवान श्री शान्तिनाथ ने पूर्व भवों (जन्मों) में धर्मसाधन किया था, इसलिये उन्होंने मनुष्यों एवं देवों को सुलभ विविध प्रकारेण सुखों का अनुभव किया था। उन्होंने द्वादश (बारह) जन्म तक अनेक विभूतियाँ प्राप्त की थीं एवं अन्त में अविचल मोक्ष पद प्राप्त किया। यही चिन्तवन (समझ) कर विवेकीजन को स्वर्ग-मोक्ष के सुख प्रदायक धर्म के पालन में सर्वदा तथा निरन्तर ही उत्तरोत्तर अधिक प्रयत्नशील होना चाहिये।

जो श्री सिद्ध भगवान प्रबुद्ध हैं, प्रसिद्ध हैं, समस्त जीव जिनको नमस्कार करते हैं, जो लोक शिखर पर विराजमान है, लोकोत्तर हैं, अनन्त (पूर्ण) सुखी हैं, जिन्होंने संसार का समग्र मोह त्याग दिया है, जो अव्याबाध स्वरूप (समस्त प्रकार की बाधाओं से रहित) हैं, जो अरूपी हैं, निर्मल हैं, अनन्त गुणों से सुशोभित हैं एवं ज्ञान कायिक (शरीरी) हैं-ऐसे सिद्ध भगवान की मैं अपने हृदय में स्थापना करता हूँ एवं उनकी स्तुति करता हूँ। वे श्री सिद्ध भगवान हमें भी सिद्ध पद प्राप्त करायें। श्री अरहन्तदेव का जो शासन ज्ञानमय है, भगवान श्री सर्वज्ञदेव के मुखारविन्द से प्रगट हुआ है, गुणों का आगार (घर) है, समस्त संसार को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समतुल्य है, सर्व प्राणियों का हित करनेवाला है, अज्ञान का निवारण करनेवाला है, धर्म का स्वरूप प्रकट करनेवाला है, मुनिराज भी जिसकी सेवा करते हैं, देव भी जिसकी पूजा करते हैं, जो सारभूत अमृत के सदृश है, अत्यन्त निर्मल है, स्वर्ग-मोक्ष के सुख का प्रदाता है एवं संसार के समस्त भव्यजनों का जो सर्वदा शरणभूत है, ऐसे श्री अरहन्तदेव का शासन सदैव जयवन्त रहे। अल्प बुद्धि धारण करनेवाले मेरे (सकलकीर्ति मुनिराज) के द्वारा विशेष उद्योग (प्रयत्न) से श्री शान्तिनाथ स्वामी का जो यह निर्मल चरित्र वर्णित किया गया है-वह चिरकाल तक युग पर्यंत वृद्धि को प्राप्त होता रहे। यह भगवान श्री शान्तिनाथ का चरित्र समस्त प्रकार के रागादि विकारों का निवारण करनेवाला है, व्रत धारण का कारण है, धर्म का स्थान है, गुणों की खान है एवं रागादिक विकारों से सर्वथा रहित है; इसलिये वीतराग मुनियों को सर्वदा इसका अध्ययन करना चाहिये। गुणीजनों में चतुर जो मुनि श्रेष्ठ धर्म के बीज रूप इस पूर्ण शास्त्र को अपने शुद्ध परिणामों से पढ़ते हैं या पुण्यवृद्धि के लिए धर्मसभाओं में इसका

आख्यान करते हैं, वे सम्यग्दृष्टी (मुनि) रागादिक विकारों का विनाश कर निर्मल पुण्यराशि सम्यक्ज्ञान-गुण एवं विवेक को प्राप्त करते हैं एवं मनुष्य तथा देव गतियों के उत्तम सुखों का अनुभव कर अनुक्रम से भगवान श्री शान्तिनाथ के सदृश मोक्ष में जा विराजमान होते हैं । मैं अल्पज्ञानी हूँ । मैंने केवल मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा से भगवान श्री शान्तिनाथ के चरित्र का वर्णन किया है । इसमें मेरे अज्ञान या प्रमाद से जो स्वर-सन्धि छूट गई हो, कोई वर्ण रह गया हो या मात्रा की त्रुटि हो गई हो, तो मेरे उन समग्र दोषों को सम्यक्ज्ञानी चतुर मुनिगण कृपया क्षमा करने की कृपा करें । मैंने इस ग्रन्थ रचना न तो अपनी कीर्ति विस्तार के लिए की है, न बड़प्पन प्रदर्शन के लिए, न अन्य किसी लाभ की प्राप्ति हेतु एवं न अपने कवित्व आदि के अभिमान से ही प्रणीत किया है । वस्तुतः इस ग्रन्थ की रचना पापों का नाश करने के लिए तथा स्व (अपना) एवं पर (दूसरों) का उपकार करने के लिए ही हुई है । भगवान श्री शान्तिनाथ अत्यन्त शान्त हैं, इन्द्रादि समस्त देवों के द्वारा पूज्य हैं, सम्पूर्ण संसार के नाथ (ईश्वर) हैं, तीर्थंकर हैं, सौभाग्य की निधि हैं, मुक्ति रूपी रमणी के पति तुल्य हैं, तीर्थंकर एवं चक्रवर्ती की लक्ष्मी (वैभव) से युक्त सुशोभित हैं, शान्ति एवं धर्म के प्रदाता हैं, कामदेव हैं, चक्ररत्न एवं धर्मचक्र दोनों को धारण करनेवाले हैं एवं भव्य सज्जनों के द्वारा अत्यन्त सेव्य हैं । ऐसे भगवान श्री शान्तिनाथ अपने चरित्र के संग-संग इस पृथ्वी पर सदैव जयशील बने रहें । मैंने इस उत्तम ग्रन्थ की रचना के द्वारा भगवान श्री शान्तिनाथ की भक्तिपूर्वक स्तुति की है; इसलिये जब तक मुझे मोक्ष प्राप्त न हो, तब तक भगवान श्री शान्तिनाथ कृपापूर्वक यथाशीघ्र मेरे कर्मों का नाश करें, मेरे दुःखों को दूर करें, मुझे निर्मल रत्नत्रय प्रदान करें, समाधि मरण प्रदान करें एवं श्रेष्ठ ध्यान की प्राप्ति करायें । यह अनुग्रह मुझे मोक्ष प्राप्त होने तक जन्म-जन्मान्तर में प्राप्त होता रहे ।

भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचित श्री शान्तिनाथ पुराण में श्री शान्तिनाथ का समवशरण, धर्मोपदेश एवं मोक्षगमन का वर्णन करनेवाला सोहलवाँ व अन्तिम अधिकार समाप्त हुआ ॥१६॥

* * * * *

श्री शांतिनाथ पुराण

मुद्रक

अरिहंत आफसैट प्रिन्टर्स

मुहल्ला सैलसागर, टीकमगढ़ (म.प्र.)-472001